सूक्ति त्रिवेणी

श्रमण भगवान् महावीर की पच्चीस-सौ वीं निर्वाण-तिथि समारोह के उपलक्ष्य में

सूक्ति त्रिवेणी

(जैन, बौद्ध एवं वैदिक वाङ्मय की चुनी हुई सूक्तियाँ)

उपाध्याय अमरमुनि

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा—२

सन्मति साहित्य रत्नमाला का ९९ वां ग्रन्थ रत्न

पुस्तक :
सूक्ति त्रिवेणी

*

सम्पादक :
उपाध्याय अमरमुनि

*

विषय :
जैन, बौद्ध, वैदिक वाङ्मय की सूक्तियां

*

पुस्तक पृष्ठ :
तीन खण्ड के कुल पृष्ठ ७८६

*

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञान पीठ, लोहामंडी आगरा–२

*

प्रथम प्रकाशन :
अक्टूबर १९६८

*

मूल्य :
साधारण संस्करण १२)
पुस्तकालय संस्करण १६)

*

मुद्रक :
श्री विष्णु प्रिन्टिङ्ग प्रेस, आगरा–२

सूक्ति त्रिवेणी | विद्वानों का अभिमत

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली—४
दिनांक :—२६ अगस्त, १९६८

इन्सान फितरतन आज़ाद मनिश होता है। किसी किस्म की पावन्दी या रोक-टोक उसकी इस आजादी में रुकावट समझी जाती है। लेकिन समाज-हित और अनुशासन के लिये यह जरूरी है कि कुछ ऐसे नियम निर्धारित हों, जो समाज को जंगल के कानून का शिकार न होने दें। यही वह नियम हैं, जो दुनियाँ के भिन्न-भिन्न धर्मों की आधार शिला है, ख्वाह वह हिन्दुओं का धर्म हो या किसी और का। हकीकत तो यह है कि दुनियाँ का हर मज़हब एखलाकी क़दरों का एक मख़ज़न है। उपाध्याय अमर मुनि की यह रचना इन्हीं नियमो और उपदेशो का संग्रह है, जिसमे जैन, बौद्ध और वैदिक धर्म के चुने हुए उपदेशों का संग्रह एक पुस्तक के रूप मे जन-साधारण की भलाई के लिये प्रकाशित किया गया है। मुझे विश्वास है कि अगर लोग इस किताब को पढेगे और इसमे दिये हुए इन उसूलों पर अमल करेंगे तो वह केवल अपने मजहब के लोगों के जीवन ही को नही, बल्कि अपने आस-पास के लोगों के जीवन को भी सुखमय और शान्तिपूर्ण बना सकेंगे। मै आशा करता हूँ कि मुनि जी की रचना का लोग ध्यान से अध्ययन करेंगे और इच्छित लाभ उठा सकेंगे।

—जाकिर हुसैन
(राष्ट्रपति—भारत गणराज्य)

VICE PRESIDENT
INDIA
NEW DELHI
August 26, 1968

I am glad, the publication in Hindi entitled 'Sookti Triveni' written by Shri.Upadhyay Amarmuni represents an anthology of lofty thoughts and sublime ideals enshrined in the sacred

scriptures of our ancient religious faiths—Buddhism, Hinduism and Jainism. Our sacred soil is renowned for the confluence of cultures and ennobling stream of precepts and teachings conceived, enunciated and propagated by our illustrious savant-saints and seers, right from Lord Krishna to Vyasa, Manu, Lord Buddha—the Enlighted One—to Mahavir, and Mahatma Gandhi. By delving deep into this realm of spiritual knowledge and learning and culling the pearls of wisdom, Upadhyay Amar-muni has made a commendable effort for weaving them into a 'necklace of resplendent thoughts'. If the gems of thoughts embodied in the 'Sookti Triveni' can serve as beacon-light to the readers and in equipping them to visualise the spiritual enlightenment, unsullied devotion and unity of mankind which all the three religious faiths rightly lay accent on, the author will have rendered a signal service to the country.

V. V. Giri
(Vice-President)

'सूक्ति त्रिवेणी' श्री उपाध्याय अमर मुनि की कृति है, अमर मुनि जी अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध है।

पुस्तक में जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य के सर्व मान्य ग्रन्थो से सुन्दर संग्रह किया गया है।

भारतवर्ष का यह काल निर्माण का समय है, परन्तु यह खेद की वात है कि यह निर्माण एकागी हो रहा है। हमारी दृष्टि केवल भौतिकता की ओर है। हमारे निर्माण में जव तक आध्यात्मिकता नही आयेगी, तव तक यह निर्माण सागोपांग और पूर्ण नही हो सकता। यह ग्रंथ इस दिशा मे अच्छी प्रेरणा देता है।

—(सेठ) गोविन्ददास
संसद सदस्य
(अध्यक्ष. हिन्दी साहित्य सम्मेलन)

'सनिधि' राजघाट,
नई दिल्ली—१

अिन दिनो मै भारत में सव जगह जाकर लोगो को समझाने की कोशिश कर रहा हूँ कि भारतीय संस्कृति को हमें प्राणवान वनाकर विश्व की सेवा के

योग्य बनाना हो तो हमें अब समन्वय-नीति को स्वीकार करना ही होगा। समन्वय नीति ही आज का युगधर्म है।

भारत मे तीन दर्शनो की प्रधानता है। सनातनी संस्कृति के तीन दर्शनो का प्रभुत्व है (१) वैदिक अथवा श्रुति-स्मृति पुराणोक्त-दर्शन (२) जैन दर्शन (३) और बौद्ध दर्शन। अिन तीनों दर्शनों ने भक्तियोग को कुछ न कुछ स्वीकार किया है। ये सब मिलकर भारतीय जीवन-दर्शन होता है।

अिसी युगानुकूल नीति का स्वीकार जैन मुनि उपाध्याय अमर मुनि ने पूरे हृदय से किया है। और अभी-अभी उन्होंने अिन तीनों दर्शनो में से महत्व के और सुन्दर सुभाषित चुनकर 'सूक्ति त्रिवेणी' तैयार की है। अमर मुनि जी ने आज तक बहुत महत्व का साहित्य दिया है, उस मे यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्व की वृद्धि कर रहा है। तुलनात्मक अध्ययन से दृष्टि विशाल होती है और तत्व-निष्ठा दृढ़ होती है। 'सूक्ति त्रिवेणी' ग्रंथ यह काम पूरी योग्यता से सम्पन्न करेगा।

मैं संस्कृति उपासकों को पूरे आग्रह से प्रार्थना करूँगा कि समय-समय पर अिस त्रिवेणी में डुबकी लगाकर सांस्कृतिक पुण्य का अर्जन करें।

श्री अमर मुनिजी से भी मैं प्रार्थना करूँगा कि अिस ग्रंथ के रूप में हिन्दी विभाग को उस की भाषा सामान्यजनसुलभ बनाकर अलग ग्रंथ के रूप में प्रकाशित करें। ताकि भारत की विशाल जनता भी अिससे पूरा लाभ उठावे। ऐसे सुलभ हिन्दी संस्करणों से पाठकों को मूल सूक्ति त्रिवेणी की ओर जाने की स्वाभाविक प्रेरणा होगी। मै फिर से अिस युगानुकूल प्रवृत्ति का और उसके प्रवर्तकों का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

— काका कालेलकर

........सूक्ति त्रिवेणी के प्रकाशन पर मुझे प्रसन्नता है, यह एक सुन्दर पुस्तक है, इससे समाज को लाभ पहुँचेगा और राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता

को बढ़ावा मिलेगा, इस दिशा मे आपका कार्य सराहनीय है, आप मेरी ओर से बधाई स्वीकार कीजिए।

—दौलतसिह कोठारी

अध्यक्ष—विश्वविद्यालय-अनुदान आयोग, नई दिल्ली

कवि श्री जी महाराज ने सतत परिश्रम एवं विशाल अध्ययन के आधार पर 'सूक्ति त्रिवेणी' का जो सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण सकलन प्रस्तुत किया है, वह वर्तमान समय का अद्वितीय ग्रन्थ कहा जा सकता है।

इससे लेखक, प्रवक्ता, संशोधक, जिज्ञासु, स्वाध्याय प्रेमी आदि सभी को लाभ प्राप्त होगा। इस ग्रन्थरत्न का हार्दिक अभिनन्दन !

—आचार्य श्री आनंद ऋषि जी महाराज

उपाध्याय कवि अमर मुनि के वहिरंग से ही नही, अन्तरंग से भी मैं परिचित हूँ। उनकी दृष्टि उदार है और वे समन्वय के समर्थक है। 'सूक्ति त्रिवेणी' उनके उदार और समन्वयात्मक दृष्टिकोण का मूर्तरूप है। इसमें भारतीय धर्मदर्शन की त्रिवेणी का तटस्थ प्रवाह है। यह देखकर मुझे प्रसन्नता हुई कि इसमे हर युग की चितन धारा का अविरल समावेश है। यह सत्प्रयत्न भूरि-भूरि अनुमोदनीय है।

तेरापंथी भवन,
मद्रास

—आचार्य तुलसी

सत्य असीम है। जो असीम होता है, वह किसी भी सीमा मे आवद्ध नही होता। सत्य न तो भापा की सीमा मे आवद्ध है और न सम्प्रदाय की सीमा मे। वह देश, काल की सीमा मे भी आवद्ध नही है। इस अनावद्धता को अभिव्यक्ति देना अनुसन्धित्सु का काम है।

उपाध्याय कवि अमर मुनि सत्य के अनुसन्धित्सु है। उन्होने भापा और सम्प्रदाय की सीमा से परे भी सत्य को देखा है। उनकी दिदृक्षा इस 'सूक्ति त्रिवेणी' मे प्रतिविम्बित हुई है।

कवि श्री ने सूक्ष्म के प्रति समदृष्टि का वरण कर अनाग्रहभाव से भारत के तीनों प्रमुख धर्म-दर्शनो (जैन, बौद्ध और वैदिक) के हृदय का एकीकरण किया है। कवि श्री जैसे मेधावी लेखक है, वैसे ही मेधावी चयनकार भी है। सत्य-जिज्ञासा की सम्पूर्ति, समन्वय और भारतीय आत्मा का संबोध इन तीनो दृष्टियो से प्रस्तुत ग्रंथ पठनीय बना है। आचार्य श्री ने भी उक्त दृष्टियो से इसे बहुत पसन्द किया है। मै आशा करता हूँ कि कवि श्री की प्रबुद्ध लेखनी से और भी अनेक विन्यास प्रस्तुत होते रहेंगे।

—मुनि नथमल

तेरापंथी भवन,
मद्रास

'सूक्ति त्रिवेणी' देखकर प्रसन्नता हुई। हमारे देश में प्राचीन भाषाओ का अध्ययन धर्म के साथ लगा हुआ है, इससे उसके अध्ययन के विभाग अलग-अलग रखे गये है और विद्यार्थियो को तुलनात्मक अध्ययन का अवकाश मिलता नही। आपने मागधी, अर्ध मागधी, पालि और संस्कृत सबको साथ करके यह संग्रह किया है, वह बहुत अच्छा हुआ। इससे तुलनात्मक अध्ययन के लिये सुविधा होगी।

—प्रबोध बेचरदास पंडित
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

हमारे देश मे प्राचीन काल से ही सर्व धर्म समभाव की परम्परा रही है। अपने अपने धर्म मे आस्था और विश्वास रखते हुए भी दूसरे धर्मों के प्रति पूज्य भाव रखने को ही आज धर्मनिरपेक्षता कहा जाता है। पूज्य उपाध्याय अमर मुनि ने जैन, बौद्ध और वैदिक धाराओ के सुभाषितो को एक ग्रंथ मे संग्रहीत करके उस महान परम्परा को आगे बढाया है। सूक्ति त्रिवेणी ग्रंथ के प्रकाशन का मै स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि बुद्धिजीवियो और अध्यात्म जिज्ञासुओ को यह प्रेरणा प्रदान करेगा।

—अक्षयकुमार जैन
सपादक : नवभारत टाइम्स, दिल्ली – बम्बई

प्रकाशकीय

चिर अभिलषित, चिर प्रतीक्षित सूक्तित्रिवेणी का सुन्दर एवं महत्वपूर्ण संकलन अपने प्रिय पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम अपने को गौरवान्वित अनुभव करते है ।

जैन जगत् के बहुश्रुत मनीषी उपाध्याय श्री अमर मुनि जी महाराज की चिन्तन एवं गवेषणापूर्ण दृष्टि से वर्तमान का जैन समाज ही नही, अपितु भारतीय संस्कृति और दर्शन का प्रायः प्रत्येक प्रबुद्ध जिज्ञासु प्रत्यक्ष किंवा परोक्ष रूप से सुपरिचित है ।

निरन्तर बढ़ती जाती वृद्धावस्था, साथ ही अस्वस्थता के कारण उनका शरीरबल क्षीण हो रहा है, किन्तु जब प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन मे वे आठ-आठ दस-दस घण्टा सतत संलग्न रहे है, पुस्तको के ढेर के बीच खोए रहे है, तब लगा कि उपाध्याय श्री जी अभी युवा है, उनकी साहित्य-श्रुत-साधना अभी भी वैसी ही तीव्र है, जैसी कि निशीथभाष्य-चूर्णि के सम्पादनकाल में देखी गई थी ।

'सूक्ति त्रिवेणी' सूक्ति और सुभाषितो के क्षेत्र में अपने साथ एक नवीन युग का शुभारम्भ लेकर आ रही है । प्राचीनतम सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय मे से इस प्रकार के तुलनात्मक एवं अनुशीलनपूर्ण मौलिक सूक्तिसग्रह का अब तक के भारतीय साहित्य मे प्रायः अभाव-सा ही था । प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा उस अभाव की पूर्ति के साथ ही सूक्तिसाहित्य मे एक नई दृष्टि और नई शैली का प्रारम्भ भी हो रहा है ।

इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक का प्रकाशन एक ऐसे शुभ अवसर के उपलक्ष्य में हो रहा है, जो समग्र भारतीय जनसमाज के लिए गौरवपूर्ण अवसर है । श्रमण भगवान महावीर की पच्चीस-सौ वीं निर्वाण तिथि मनाने के सामूहिक प्रयत्न वर्तमान मे बडी तीव्रता के साथ चल रहे है । विविध प्रकार के साहित्य-प्रकाशन की योजनाएँ भी वन रही है । सन्मति ज्ञान पीठ अपनी विशुद्ध

परम्परा के अनुरूप इस प्रकार के सांस्कृतिक प्रकाशनों की दिशा मे प्रारम्भ से ही सचेष्ट रहा है, तथा वर्तमान के इस पुनीत अवसर पर वह और भी अधिक तीव्रता के साथ सक्रिय है। सूक्ति त्रिवेणी का यह महत्त्वपूर्ण प्रकाशन इस अवसर पर हमारा पहला श्रद्धास्निग्ध उपहार है।

सूक्तित्रिवेणी की तीनो धाराएँ संयुक्त जिल्द मे काफी बड़ी हो गई है। अतः पाठकों की विभिन्न रुचि एवं सुविधा को ध्यान मे रखते हुए संयुक्त रूप मे, तथा इसे अलग-अलग खण्डों मे भी प्रकाशित किया गया है।

तीनो धाराओं की विषयानुक्रमणिका भी परिशिष्ट मे दे दी गई है, जिससे पाठको को विषयवार सूक्तियाँ देखने मे सरलता व सुविधा रहेगी।

हमे प्रसन्नता है कि 'सूक्ति त्रिवेणी' की जितनी उपयोगिता अनुभव की जा रही थी, उससे भी कही अधिक आशाप्रद और उत्साहजनक मत-सम्मत हमें स्वतः ही सब ओर से प्राप्त हो रहे है।

—मंत्री
सन्मति ज्ञान पीठ

प्राक्कथन

भारतीय सस्कृति का स्वरूपदर्शन करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भारतवर्ष मे प्रचलित और प्रतिष्ठित विभिन्न संस्कृतियों का समन्वयात्मक दृष्टि से अध्ययन हो। भारतवर्ष की प्रत्येक संस्कृति की अपनी एक विशिष्ट धारा है। वह उसी संस्कृति के विशिष्ट रूप का प्रकाशक है। यह बात सत्य है, परन्तु यह बात भी सत्य है कि उन संस्कृतियो का एक समन्वयात्मक रूप भी है। जिसको उन सब विशिष्ट संस्कृतियों का समन्वित रूप माना जा सकता है, वही यथार्थ भारतीय संस्कृति है। प्रत्येक क्षेत्र में जो समन्वयात्मक रूप है, उसका अनुशीलन ही भारतीय संस्कृति का अनुशीलन है। गगा-जमुना तथा सरस्वती इन तीन नदियो की पृथक् सत्ता और माहात्म्य रहने पर भी इनके परस्पर सयोग से जो त्रिवेणीसंगम की अभिव्यक्ति होती है, उसका माहात्म्य और भी अधिक है।

वर्तमान ग्रथ के संकलनकर्ता परमश्रद्धेय उपाध्याय अमर मुनि जी श्वेताम्बर जैन परम्परा के सुविख्यात महात्मा है। वे जैन होने पर भी विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं के प्रति समरूपेण श्रद्धासम्पन्न है। वैदिक, जैन तथा बौद्ध वाङ्मय के प्रायः पचास ग्रंथो से उन्होने चार हजार सूक्तियो का चयन किया है और साथ ही साथ उन सूक्तियो का हिन्दी अनुवाद भी सन्निविष्ट किया है।

तीन धाराओ के सम्मेलन से उद्भूत यह सूक्ति-त्रिवेणी सचमुच भारतीय सस्कृति के प्रेमियों के लिए एक महनीय तथा पावन तीर्थ बनेगी।

किसी देश की यथार्थ संस्कृति उसके बहिरंग के ऊपर निर्भर नही करती है। अपितु व्यक्ति की संस्कृति नैतिक उच्च आदर्श, चित्तशुद्धि, संयम, जीव-सेवा, परोपकार तथा सर्वभूतहित-साधन की इच्छा, संतोष, दया, चरित्रबल, स्वधर्म में निष्ठा, परधर्म-सहिष्णुता, मैत्री, करुणा, प्रेम, सद्विचार प्रभृति सद्गुणों का विकास और काम, क्रोधादि रिपुओ के नियन्त्रण के ऊपर निर्भर करती है। व्यक्तिगत धर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म, जीवसेवा, विश्व-

कल्याण प्रभृति गुण आदर्श संस्कृति के अंग है। नैतिक, आध्यात्मिक तथा दिव्य जीवन का आदर्श ही संस्कृति का प्राण है।

"ज्ञाने मौनं, क्षमा शक्तौ, त्यागे श्लाघाविपर्ययः" इत्यादि आदर्श उच्च सस्कृति के द्योतक है। जिस प्रकार व्यष्टि मे है, उसी प्रकार समष्टि में भी समझना चाहिए।

सकलनकर्ता ने वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, प्रभृति ग्रन्थो से संकलन किया है। जैन धारा में आचारांग सूत्र, सूत्रकृतागसूत्र, स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र और आचार्य भद्रवाहु के तथा आचार्य कुन्दकुन्द के वचनो से तथा भाष्य साहित्य, चूर्णि साहित्य से सूक्तियों का सचयन किया है। बौद्ध धारा मे सुत्तपिटक, दीर्घनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, थेरगाथा, जातक, विशुद्धिमग्गो प्रभृति ग्रन्थों से संग्रह किया है।

देश की वर्तमान परिस्थिति मे इस प्रकार की समन्वयात्मक दृष्टि का व्यापक प्रसार जनता के भीतर होना आवश्यक है। इससे चित्त का सकोच दूर हो जाता है। मै आशा करता हूँ कि श्रद्धेय ग्रन्थकार का महान् उद्देश्य पूर्ण होगा और देशव्यापी क्लेशप्रद भेदभाव के भीतर अभेददृष्टिस्वरूप अमृत का संचार होगा। इस प्रकार के ग्रंथों का जितना अधिक प्रचार हो, उतना ही देश का कल्याण होगा।

—गोपीनाथ कविराज
पद्मविभूषण, महामहोपाध्याय
(वाराणसी)

सम्पादकीय

अर्थगौरवमंडित एक सुभाषित वचन कभी-कभी हजार ग्रन्थो से भी अधिक मूल्यवान सिद्ध होता है। हृदय की तीव्र अनुभूतियाँ, चिन्तन के वेग से उत्प्रेरित होकर, जब वाणी द्वारा व्यक्त होती है तो उनमें एक विचित्र तेज, तीक्ष्ण प्रभावशीलता एवं किसी अटल सत्य की चमत्कारपूर्ण व्यंजना छिपी रहती है। इसीलिए सुभाषित वचन को कभी-कभी मधु से आपूरित मधुमक्षिका के तीक्ष्ण दंश से उपमित किया जाता है।

भारतीय तत्वचिन्तन एवं जीवनदर्शन की अनन्त ज्ञानराशि छोटे-छोटे सुभाषितों में इस प्रकार सन्निहित है, जिस प्रकार कि छोटे-छोटे सुमनों में उद्यान का सौरभमय वैभव छिपा रहता है। सौरभस्निग्ध-सुमन की भांति ज्ञानानुभूति-मंडित सुभाषित संपूर्ण वाङ्मय का प्रतिनिधिरूप होता है, इसलिए वह मन को मधुर, मोहक एवं प्रिय लगता है।

साहित्य एवं काव्य की सहज सुरुचि रखने के कारण भारतीय वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन काल मे जब कभी कोई सुभाषितवचन, सूक्त आता है, तो वह अनायास ही मेरी स्मृतियों मे छा जाता है, वाणी पर स्थिर हो जाता है। प्रारम्भ मे मेरे समक्ष सूक्तिसंकलन की कोई निश्चित परिकल्पना न होने पर भी हजारों सूक्त मेरे स्मृति-कोष में समाविष्ट होते रहे और उनमें से बहुत से तो स्मृतिमंच से उतरकर छोटी-छोटी पर्चियों व कापियों में आज भी सुरक्षित रखे हुए है।

लगभग दो दशक पूर्व पं० बेचरदास जी दोशी के साथ 'महावीर वाणी' के संकलन एवं संपादन मे सहकार्य किया था। तभी मेरे समक्ष एक व्यापक परिकल्पना थी कि भारतीय धर्मो की त्रिवेणी—जैन, बौद्ध एवं वैदिक धारा, जो वस्तुतः एक अखण्ड अविच्छिन्न धारा के रूप मे प्रवाहित है, उसके मौलिक दर्शन एवं जीवनस्पर्शी चिन्तन के सारभूत उदात्त वचनों को एक साथ सुनियोजित करना चाहिए।

मेरा यह दृढ विश्वास है कि समस्त भारतीय चिन्तन का उत्स एक है और वह है अध्यात्म ! जीवन की परम निःश्रेयस् साधना ही भारतीय दर्शन का साधना पक्ष है। विभिन्न धाराओं में उसके रूप विभिन्न हो सकते है, हुए भी है, किन्तु फिर भी मेरे जैसा अभेदप्रिय व्यक्ति उन भेदों में कभी गुमराह नही हो सका। अनेकत्व में एकत्व का दर्शन, भेद में अभेद का अनुसंधान— यही तो वह मूल कारण है, जो सूक्ति त्रिवेणी के इस विशाल संकलन के लिए मुझे कुछ वर्षो से प्रेरित करता रहा और अस्वस्थ होते हुए भी मै इस आकर्षण को गौण नही कर सका और इस भगीरथ कार्य मे संलग्न हो गया।

● जैनधारा

भारतीय वाङ्मय की तीनों धाराओं का एकत्र सार-संग्रह करने की दृष्टि से मैंने प्रथमतर जैन धारा का संकलन प्रारम्भ किया। आप जानते है, मैं एक जैन मुनि हूँ, अतः सहज ही जैन धारा का सीधा दायित्व मुझ पर आगया।

इस संकलन के समय मेरे समक्ष दो दृष्टियाँ रही है। पहली—मै यह देख रहा हूँ कि अनेक विद्वान्, लेखक एव प्रवक्ताओ की यह शिकायत है कि जैन साहित्य इतना समृद्ध होते हुए भी उसके सुभाषित वचनों का ऐसा कोई संकलन आज तक नही हुआ, जो धार्मिक एवं नैतिक विचार दर्शन की स्पष्ट सामग्री से परिपूर्ण हो। कुछ संकलन हुए है, पर उनकी सीमा आगमों से आगे नही बढ़ी। मेरे मन मे, मूल आगम साहित्य के साथ-साथ प्रकीर्णक, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य सिद्धसेन, आचार्य हरिभद्र आदि प्राकृत भाषा के मूर्धन्य रचनाकारो के सुभाषित संग्रह की भी एक भावना थी। इसी भावना के अनुसार जब मैं जैन धारा के विशाल साहित्य का परिशीलन करने लगा, तो ग्रन्थ की आकारवृद्धि का भय सामने खड़ा हो गया। आज के पाठक की समस्या यही है कि वह सुन्दर भी चाहता है, साथ ही संक्षेप भी। सक्षिप्तीकरण की इस वृत्ति से और कुछ बीच-बीच में स्वास्थ्य अधिक गड़बड़ा जाने के कारण भाष्य-साहित्य की सूक्तियों के बाद तो बहुत ही संक्षिप्त शैली से चलना पड़ा। समयाभाव तथा अस्वस्थता के कारण दिगम्बर परम्परा की कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ-राशि एवं समदर्शी आचार्य हरिभद्र की अनेक मौलिक दिव्य रचनाएँ किनारे छोड़ देनी पड़ी। भविष्य ने चाहा तो उसकी पूर्ति दूसरे संस्करण में हो सकेगी।

दूसरी बात यह थी कि दो हजार वर्ष पुरानी भाषा का वर्तमान के साथ सीधा अर्थबोध आज प्रायः विच्छिन्न-सा हो चुका है। तद्युगीन कुछ विशेष शब्दो और उपमानों से वर्तमान पाठक लगभग अपरिचित-सा है। ऐसी स्थिति में प्राकृत-सूक्तियों को केवल शब्दानुवाद के साथ प्रस्तुत कर देना, पाठक की अर्थचेतना के साथ न्याय नही होता। अतः अनुवाद को प्रायः भावानुलक्षी रखने का प्रयत्न मैंने किया है, ताकि पाठक सूक्तियों के मूल अभिप्राय को सरलता से ग्रहण कर सके। साथ ही मूल के विशिष्ट सांस्कृतिक एवं पारिभाषिक शब्दो से सम्पर्कधारा बनाये रखने की दृष्टि से उन्हें यथास्थान सूचित भी कर दिया गया है।

जैन वाङ्मय प्राकृतेतर संस्कृत आदि का साहित्य, प्राकृत साहित्य से भी अधिक विशाल एव सुभाषित वचनों से परिपूर्ण है, किन्तु संकलन के साथ एक निश्चित दृष्टि एवं सीमा होती है, और वह सीमा हम प्राकृत भाषा के साहित्य तक ही लेकर चले, इसलिए संस्कृत आदि भाषाओं के साहित्य का क्षेत्र एक ओर छोड़कर ही चलना पड़ा।

मुझे विश्वास है कि जैन तत्वचिन्तन के साथ-साथ उसका नैतिक एवं चारित्रिक जीवनदर्शन भी इन सूक्तियों मे पूर्ण रूप से आता हुआ मिलेगा और यह जैनेतर विद्वानों के लिए भी उतना ही उपयोगी होगा जितना कि जैन दर्शन के परम्परागत अभ्यासी के लिए।

● बौद्धधारा

श्रमणसंस्कृति का एक प्रवाह जैनधारा है तो दूसरा प्रवाह बौद्धधारा है। जैनधारा के समान ही यह पवित्र धारा पच्चीस सौ वर्ष से भारतीय दिगंतों को स्पर्श करती हुई अविरल गति से बह रही है। भारत ही नहीं, किन्तु चीन, जापान, लंका, बर्मा, कम्बोडिया, थाई देश आदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज को भी इसने प्रभावित किया है।

तथागत बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यों के अध्यात्मिक एवं नैतिक उपदेश, त्रिपिटक साहित्य में आज भी सुरक्षित है। त्रिपिटक साहित्य भी भारतीय वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण अग है, उसमे यत्र-तत्र अत्यन्त सुन्दर एवं मार्मिक उपदेश, वचन, नीतिबोध तथा कर्तव्य की प्रेरणा देने वाली गाथाएं संगृहीत की गई हैं। त्रिपिटक साहित्य मूल पालि मे है, किन्तु उसके अनेक अनुवाद, विवेचन एवं टीकाग्रंथ बर्मी, सिहली, अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी प्रकाशित

हुए है। प्राचीन काल से ही तथागत के उपदेशप्रधान वचनों का सारसंग्रह धम्मपद में किया गया है, जिसके भारतीय तथा भारतीयेतर भाषाओ में अनेक अनुवाद हो चुके है।

भगवान बुद्ध के उपदेशप्रद वचनों का संग्रह करते समय अनेक संग्रह मैंने देखे। कुछ संग्रह सिर्फ अनुवाद मात्र थे, कुछ मूल पालि मे। वह भी कुछ धम्मपद, सुत्तनिपात आदि दो चार ग्रंथों तक ही सीमित थे, अतः उनसे मेरी कल्पना परितृप्त नही हुई, तो सम्पूर्ण बौद्ध वाङ्मय का आलोडन कर गया, और जो मौलिक बहुमूल्य विचारमणियाँ प्राप्त हुईं वे बौद्ध धारा के रूप मे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की है।

पालि बौद्ध वाङ्मय मे विसुद्धिमग्गो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य बुद्धघोष की यह कृति आध्यात्मिक विचार चिन्तन के क्षेत्र में बहुत बडी देन है। त्रिपिटक साहित्य में परिगणित नही होने पर भी, इसका महत्त्व कुछ कम नही है। इसी हेतु प्रस्तुत संकलन मे विसुद्धिमग्गो के सुवचनो को संगृहीत करने का लोभ भी मै संवरण नही कर सका। कुल मिलाकर बौद्ध-साहित्य के मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का संस्पर्श करती हुई यह धारा अपने आप मे प्रायः परिपूर्ण-सी है।

● वैदिक धारा

यह तो प्राय: स्पष्ट है कि उपलब्ध भारतीय वाङ्मय मे वैदिक वाङ्मय सर्वाधिक प्राचीन एवं विशाल ही नही; अपितु भारतीय जीवनदर्शन एवं चिन्तन की समग्रता का भी प्रतीक है।

ऋग्वेद से लेकर स्मृतिकाल तक का दर्शन, चिन्तन, जीवन के विविध परिपार्श्वों को नव स्फूर्ति एवं नव चैतन्य से प्रबुद्ध करता हुआ जीवन में उल्लास, उत्साह, सत्संकल्प एवं कर्मयोग की स्फुरणा जागृत करता है, तो वैराग्य एवं अध्यात्म की दिव्य ज्योति भी प्रज्ज्वलित करता है।

वैदिक वाङ्मय के विशाल सूक्तिकोष के प्रति मेरे मन में बहुत समय से एक आकर्षण था। वैदिक सूक्तियों में अध्यात्म, वैराग्य, लोकनीति एवं अनुभव का जो मधुर सम्मिश्रण हुआ है, उससे सूक्तियों में एक विलक्षण चमक एवं अद्भुत हृदयग्राहिता पैदा हो गई है। वैदिक साहित्य की सूक्तियों के अनेक संस्करण अब तक निकल चुके हैं, उनको भी बहुत कुछ मैंने देखा है। कुछ वेदो

के अमुक अंश तक ही आकर रुक गए, कुछ उपनिषद् के तत्वज्ञान तक ही सीमित रह गए और कुछ महाभारत और गीता की सूक्तियो मे ही आकण्ठ निमग्न हो गए। स्थिति यह है कि वेदों के चिन्तन मनन की पुनीत धारा, जो ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् के रमणीय परिपार्श्वों को छूती हुई महाभारत एव गीता मे प्रकट हुई है, उसके समग्र दर्शन तथा मौलिक चिन्तन पर प्रकाश विकीर्ण करने वाला कोई एक उपयुक्त सग्रह मेरी दृष्टि में नही आया। इसी-लिए तृप्ति चाहने वाला मन और अधिक अतृप्त हो उठा, बस, यही अतृप्ति इस सूक्ति संकलन में मुख्य प्रेरक रही है। मैंने प्रयत्न यही किया है कि मूल ग्रन्थ और उसके टीका, भाष्य आदि का अनुशीलन करके मौलिक सूक्तियाँ सगृहीत की जाए और भावस्पर्शी अनुवाद भी। अपनी इस अनुशीलन धारा के आधार पर मै विश्वासपूर्वक यह कह देना चाहता हूँ कि कोई भी सहृदय पाठक सूक्तियो की मौलिकता एव अनुवाद की तटस्थता पर निःसन्देह आश्वस्त हो सकता है। स्वय मुझे आत्मतोष है कि इस बहाने मुझे वेद, आरण्यक, उपनिषद् आदि तथा उनके अधिकृत भाष्य आदि के स्वाध्याय का व्यापक लाभ प्राप्त हुआ, जिनके आधार पर वैदिक वाङ्मय की मूल जीवन दृष्टि को स्पष्ट कर सका।

तुलनात्मक प्रसङ्ग

यह निर्णय देना तो उचित नही होगा कि कालदृष्टि से तीनों धाराओ की प्रभवता एक ही है, या भिन्न-भिन्न। किन्तु यह आस्थापूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक, जैन एवं बौद्ध वाङ्मय की जीवन दृष्टि मूलतः एक ही है।

जीवन की अध्यात्मप्रधान निर्वेद (वैराग्य) दृष्टि में जैनचिन्तन अग्रणी हुआ है, तो उसके नैतिक एवं लौकिक अभ्युदय के उच्च आदर्शों को प्रेरित करने की दृष्टि वैदिक एवं बौद्ध वाङ्मय ने अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत की है। यद्यपि जीवन का नैतिक तथा लौकिक पक्ष जैन साहित्य में भी स्पष्ट हुआ है और अध्यात्मिक निर्वेद की उत्कर्षता वैदिक तथा बौद्ध वाङ्मय में भी स्पष्टतः प्रस्फुटित हुई है। अतः चिन्तन का विभाजन एकान्त नही है, और इसी आधार पर हम तीनो धाराओं में एक अखण्ड जीवन दृष्टि, व्यापक चिन्तन की एकरूपता के दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। मैंने प्रस्तुत संकलन में इसी दृष्टि को समक्ष रखा है।

भावनात्मक एकता के साथ तीनों धाराओं में शब्दात्मक एकता के भी दर्शन करना चाहें तो अनेक स्थल ऐसे है, जो अक्षरशः समान एवं सन्निकट है।

अधिक विस्तार न हो, इसलिए यहाँ सिर्फ संकेत कर रहा हूँ। शेष पाठक स्वयं तुलना कर सकते हैं, और साथ ही यथा प्रसंग अन्यान्य स्थलों का अनुसंधान भी। तुलना की दृष्टि से कुछ स्थल दिए जा रहे हे—

अप्पा मित्तममित्तं च।

(जैन धारा ११८।११४)

अत्ता हि अत्तनो नाथो।

(बौद्ध धारा ५४।३२)

आत्मैव ह्यात्मनः बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।

(वैदिक धारा २७२।४३)

जो सहस्सं सहस्सारणं संगामे दुज्जए जिए।

(जैन धारा २०८।६०)

यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने।

(बौद्ध धारा ५१।२१)

जरा जाव न पीडेइ.......ताव धम्मं समाचरे।

(जैन धारा ९०।५३)

यावदेव भवेत् कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत्।

(वैदिक धारा २५०।४६)

सुव्वए कम्मइ दिवं।

(जैन धारा १०४।४३)

रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः।

(वैदिक धारा ११८।४४)

अन्नाणी किं काही ?

(जैन धारा ८४।१२)

कथा विद्यात्यप्रचेताः।

(वैदिक धारा १०।३७)

यद्यपि मैं इस विचार का आग्रह नही करता कि सूक्तित्रिवेणी का यह सकलन अपने आप में पूर्ण है। बहुत से ऐसे सुभाषित, जो मेरी दृष्टि में अभी

आ रहे है, उस समय ओझल रहे या हो गए। वहुत से जान-वूझकर भी सक्षेप की दृष्टि से छोड़ दिए गए। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रथों के सुभाषित इसलिए भी नही लिए जा सके कि उनका मूल शुद्ध संस्करण प्राप्त नही हुआ, और जिस घिसे-पिटे अशुद्ध रूप मे वे उट्टंकित हो रहे है, वह मुझे स्वीकार्य नही था। समयाभाव एवं अस्वस्थता के कारण भी अनेक ग्रंथो के सुभाषित इसमे नही आ सके। सम्भव हुआ तो इन सब कमियो को अगले संस्करण के समय दूर करने का प्रयत्न किया जाएगा। इन सब कमियों के वावजूद भी मेरा विश्वास है कि यह संकलन पूर्ण भले न हो, परन्तु अब तक के सूक्तिसाहित्य में, पूर्णता की ओर एक चरण अवश्य आगे वढा है। गति के लिए अनन्त अवकाश है, और गतिशीलता में मेरी निष्ठा भी है। आशा करता हूँ, इस दिशा मे मैं भी गतिशील रहूँगा तथा इससे प्रेरित होकर मेरे अन्य पाठक और जिज्ञासु भी।

एक बात और। सूक्तित्रिवेणी का प्रथम एवं द्वितीय खण्ड प्रकाशित हुए लगभग एक वर्ष हो चुका है, तृतीय खण्ड भी अभी छप चुका है और यह सम्पूर्ण खण्ड अब एकाकृति मे पाठकों के समक्ष आ रहा है। इतने वड़े सकलन मे उसकी विषयानुक्रमिणका आदि के लिए समय तो अपेक्षित था ही, साथ ही अनेक ग्रंथों व सहयोगियो का सहयोग भी। सबकी अनुकूलता के बल पर यह सस्करण पाठको के हाथो मे सौपते हुए मुझे आज अपने श्रम के प्रति आत्म-तुष्टि अनुभव हो रही है।

१-१०-६८
विजयादशमी
जैन भवन, आगरा।

—उपाध्याय अमर मुनि

सूक्ति त्रिवेणी

निर्देशिका

● जैन धारा

सूक्ति त्रिवेणी

निर्देशिका

• बौद्ध धारा

सूक्ति त्रिवेणी

निर्देशिका

- **वैदिक धारा**

सूक्ति

त्रि वे णी

जैन-धारा

आचारांग की सूक्तियाँ

१. अत्थि मे आया उववाइए ....
से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी।
—१।१।

२. एस खलु गंथे, एस खलु मोहे,
एस खलु मारे, एस खलु णरए।
—१।१।

३. जाए सद्धाए निक्खंते तमेव अणुपालेज्जा,
विजहित्ता विसोत्तियं।
—१।१।

४. जे लोगं अब्भाइक्खति, से अत्ताणं अब्भाइक्खति।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खति, से लोगं अब्भाइक्खति।
—१।१।

५. वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजतेहिं सया अप्पमत्तेहिं।
—१।१।

६. जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दंडे त्ति पवुच्चति।
—१।१।

आचारांग की सूक्तियाँ

●

१. यह मेरी आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है ....
आत्मा के पुनर्जन्मसम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला ही वस्तुत आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी है ।

२. यह आरम्भ (हिंसा) ही वस्तुत. ग्रन्थ=बन्धन है, यही मोह है, यही मार=मृत्यु है, और यही नरक है ।

३. जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, साधनापथ अपनाया है, उसी श्रद्धा के साथ विस्रोतसिका (मन की शंका या कुण्ठा) से दूर रहकर उसका अनुपालन करना चाहिए ।

४. जो लोक (अन्य जीवसमूह) का अपलाप करता है, वह स्वय अपनी आत्मा का भी अपलाप करता है ।
जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक (अन्य जीव-समूह) का भी अपलाप करता है ।

५. सतत अप्रमत्त=जाग्रत रहने वाले जितेन्द्रिय वीर पुरुषो ने मन के समग्र द्वन्द्वो को अभिभूत कर, सत्य का साक्षात्कार किया है ।

६. जो प्रमत्त है, विषयासक्त है, वह निश्चय ही जीवो को दण्ड (पीड़ा) देने वाला होता है ।

७. तं परिण्णाय मेहावी,
इयाणिं णो, जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ।

—१।१।४

८ जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ ।
जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ।
एयं तुलमन्नेसिं ।

—१।१।४

९. जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ।

—१।१।५

१० आतुरा परितावेंति ।

—१।१।६

११. अप्पेगे हिंसिसु मे त्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसंति मे त्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसिस्संति मे त्ति वा वहंति ।

—१।१।६

१२. से ण हासाए, ण कीड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए ।

—१।२।१

१३. अंतर च खलु इमं संपेहाए,
धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए ।

—१।२।१

१४. वओ अच्चेति जोव्वणं च ।

—१।२।१

१५. अणभिक्कतं च वयं संपेहाए, खणं जाणाहि पंडिए ।

—१।२।१

१६ अरइं आउट्टे से मेहावी खणंसि मुक्के ।

—१।२।२

७. मेधावी साधक को आत्मपरिज्ञान के द्वारा यह निश्चय करना चाहिए कि —"मैने पूर्वजीवन में प्रमादवश जो कुछ भूल की है, वे अब कभी नही करूँगा।"

८. जो अपने अन्दर (अपने सुख दुख की अनुभूति) को जानता है, वह वाहर (दूसरो के सुख दुख की अनुभूति) को भी जानता है।

जो वाहर को जानता है, वह अन्दर को भी जानता है।

इस प्रकार दोनो को, स्व और पर को एक तुला पर रखना चाहिए।

९. जो काम-गुण है, इन्द्रियों का शव्दादि विपय है, वह आवर्त=संसार-चक्र है।

और जो आवर्त है, वह कामगुण है।

१०. विषयातुर मनुष्य ही दूसरे प्राणियो को परिताप देते है।

११. 'इसने मुझे मारा'—कुछ लोग इस विचार से हिसा करते है।
'यह मुझे मारता है'—कुछ लोग इस विचार से हिसा करते हैं।
'यह मुझे मारेगा'—कुछ लोग इस विचार से हिसा करते है।

१२. वृद्ध हो जाने पर मनुष्य न हास-परिहास के योग्य रहता है, न क्रीडा के, न रति के और न शृंगार के योग्य ही।

१३. अनन्त जीवन-प्रवाह मे, मानव जीवन को वीच का एक सुअवसर जान कर, धीर साधक मुहूर्त भर के लिए भी प्रमाद न करे।

१४. आयु और यौवन प्रतिक्षण वीता जा रहा है।

१५. हे आत्मविद् साधक! जो वीत गया सो वीत गया। शेप रहे जीवन को ही लक्ष्य मे रखते हुए प्राप्त अवसर को परख। समय का मूल्य समझ!

१६. अरति (सयम के प्रति अरुचि) से मुक्त रहने वाला मेधावी साधक क्षण भर मे ही वन्धनमुक्त हो सकता है।

१७. अणाणाय पुट्ठा वि एगे नियट्टंति,
मंदा मोहेण पाउडा ।

—१।२।२

१८. इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना,
नो हव्वाए नो पारगाए ।

—१।२।२

१९. विमुत्ता हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो ।

—१।२।२

२०. लोभमलोभेण दुगु छमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ ।

—१।२।

२१. विणा वि लोभं निक्खम्म, एस अकम्मे जाणति पासति ।

—१।२।

२२. से असइ' उच्चागोए, असइ' नीआगोए ।
नो हीणे, नो अइरित्ते ।

—१।२।३

२३. तम्हा पंडिए नो हरिसे, नो कुप्पे ।

—१।२।३

२४. अणोहंतरा एए नो य ओहं तरित्तए ।
अतीरंगमा एए नो य तीरं गमित्तए ।
अपारंगमा एए नो य पारं गमित्तए ।

—१।२।३

२५. वितहं पप्प ऽ खेयन्ने,
तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ ।

—१।२।३

१७. मोहाच्छन्न अज्ञानी साधक संकट आने पर धर्मशासन की अवज्ञा कर फिर संसार की ओर लौट पड़ते है।

१८. बार-बार मोहग्रस्त होने वाला साधक न इस पार रहता है, न उस पार, अर्थात् न इस लोक का रहता है और न पर लोक का।

१९. जो साधक कामनाओ को पार कर गए है, वस्तुतः वे ही मुक्त पुरुष है।

२०. जो लोभ के प्रति अलोभवृत्ति के द्वारा विरक्ति रखता है, वह और तो क्या, प्राप्त काम भोगों का भी सेवन नही करता है।

२१. जिस साधक ने बिना किसी लोक-परलोक की कामना के निष्क्रमण किया है, प्रव्रज्या ग्रहण की है, वह अकर्म (बन्धनमुक्त) होकर सब कुछ का ज्ञाता, द्रष्टा हो जाता है।

२२. यह जीवात्मा अनेक बार उच्चगोत्र मे जन्म ले चुका है, और अनेक बार नीच गोत्र मे।

इस प्रकार विभिन्न गोत्रो मे जन्म लेने से न कोई हीन होता है और न कोई महान्।

२३. आत्मज्ञानी साधक को ऊँची या नीची किसी भी स्थिति मे न हर्षित होना चाहिए, और न कुपित।

२४. जो वासना के प्रवाह को नही तैर पाए है, वे संसार के प्रवाह को नही तैर सकते।

जो इन्द्रियजन्य कामभोगो को पार कर तट पर नही पहुचे है, वे संसार सागर के तट पर नही पहुच सकते।

जो राग द्वेष को पार नही कर पाए है, वे संसार सागर से पार नही हो सकते।

२५. अज्ञानी साधक जब कभी असत्य विचारो को सुन लेता है, तो वह उन्ही मे उलझ कर रह जाता है।

२६. उद्देसो पासगस्स नत्थि ।

—१।२।३

२७. नत्थि कालस्स णागमो ।

—१।२।३

२८. सव्वे पाणा पिग्राउया,
सुहसाया दुक्खपडिकूला,
अप्पियवहा पियजीविणो,
जीविउ कामा
सव्वेसिं जीवियं पियं
नाइवाएज्ज कंचणं ।

—१।२।३

२९. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं ।

—१।२।४

३०. आसं च छंदं च विगिंच धीरे !
तुमं चेव सल्लमाहट्टु ।

—१।२।४

३१. जेण सिया, तेण णो सिया ।

—१।२।४

३२. अलं कुसलस्स पमाएणं ।

—१।२।४

३३. एस वीरे पसंसिए,
जे ण णिविज्जति आदाणाए ।

—१।२।४

३४. लाभुत्ति न मज्जिज्जा,
अलाभुत्ति न सोइज्जा ।

—१।२।५

३५. बहुं पि लद्धुं न निहे,
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ।

—१।२।५

२६. तत्वद्रष्टा को किसी के उपदेश की अपेक्षा नही है।

२७. मृत्यु के लिए अकाल=वक्त बेवक्त जैसा कुछ नही है।

२८. सब प्राणियो को अपनी जिन्दगी प्यारी है।
सुख सब को अच्छा लगता है और दु.ख बुरा।
वध सब को अप्रिय है, और जीवन प्रिय।
सब प्राणी जीना चाहते है,
कुछ भी हो, सब को जीवन प्रिय है।
अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।

२९. प्रत्येक व्यक्ति का सुख दुःख अपना अपना है।

३० हे धीर पुरुष! आशा-तृष्णा और स्वच्छन्दता का त्याग कर।
तू स्वयं ही इन काटों को मन मे रखकर दुखी हो रहा है।

३१. तुम जिन (भोगो या वस्तुओ) से सुख की आशा रखते हो, वस्तुतः वे सुख के हेतु नही है।

३२. बुद्धिमान साधक को अपनी साधना मे प्रमाद नही करना चाहिए।

३३. जो अपनी साधना मे उद्विग्न नही होता है, वही वीर साधक प्रशंसित होता है।

३४ मिलने पर गर्व न करे।
न मिलने पर शोक न करे।

३५. अधिक मिलने पर भी संग्रह न करे।
परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखे।

३६. कामा दुरतिक्कम्मा ।

—१।२।५

३७. जीवियं दुप्पडिवूहगं ।

—१।२।५

३८. एस वीरे पसंसिए,
जे बद्धे पडिमोयए ।

—१।२।५

३९. जहा अंतो तहा बाहिं,
जहा बाहिं तहा अंतो ।

—१।२।५

४०. से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं पच्चासी ।

—१।२।५

४१. वेरं वड्ढेइ अप्पणो ।

—१।२।५

४२. अलं बालस्स संगेणं ।

—१।२।५

४३. पावं कम्मं नेव कुज्जा, न कारवेज्जा ।

—१।२।६

४४ सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वह ।

—१।२।६

४५ जे ममाइयमइं जहाइ, से जहाइ ममाइयं ।
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं ।

—१।२।६

४६. जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे,
जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी ।

—१।२।६

३६. कामनाओ का पार पाना बहुत कठिन है ।

३७. नष्ट होते जीवन का कोई प्रतिव्यूह अर्थात् प्रतिकार नही है ।

३८. वही वीर प्रशंसित होता है, जो अपने को तथा दूसरों को दासता के बन्धन से मुक्त कराता है ।

३९. यह शरीर जैसा अन्दर मे (असार) है, वैसा ही बाहर मे (असार) है ।
जैसा बाहर मे (असार) है, वैसा ही अन्दर मे (असार) है ।

४०. विवेकी साधक लार=थूक चाटने वाला न बने, अर्थात् परित्यक्त भोगो की पुनः कामना न करे ।

४१. विषयातुर मनुष्य, अपने भोगो के लिए संसार मे बैर बढाता रहता है ।

४२. बाल जीव (अज्ञानी) का संग नही करना चाहिए ।

४३. पापकर्म (असत्कर्म) न स्वयं करे, न दूसरो से करवाए ।

४४. मनुष्य अपनी ही भूलों से संसार की विचित्र स्थितियो मे फँस जाता है ।

४५. जो ममत्वबुद्धि का परित्याग करता है, वही वस्तुतः ममत्व=परिग्रह का त्याग कर सकता है ।
वही मुनि वास्तव में पथ (मोक्षमार्ग) का द्रष्टा है—जो किसी भी प्रकार का ममत्व भाव नही रखता है ।

४६. जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नही रखता है, वह 'स्व' से अन्यत्र रमता भी नही है । और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नही है, वह 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि भी नही रखता है ।

४७. जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ।

—१।२।६

४८. कुसले पुण नो बद्धे, न मुत्ते ।

—१।२।६

४९ सुत्ता अमुणी,
मुणिणो सया जागरन्ति ।

—१।३।१

५०. लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं ।

—१।३।१

५१. माई पमाई पुण एइ गब्भं ।

—१।३।१

५२. माराभिसंकी मरणा पमुच्चइ ।

—१।३।१

५३. पन्नाणेहिं परियाणह लोयं मुणीत्ति वुच्चे ।

—१।३।१

५४. आरंभजं दुक्खमिणं ।

—१।३।१

५५. अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ ।

—१।३।१

५६. कम्मुणा उवाही जायइ ।

—१।३।१

५७ कम्ममूलं च जं छणं ।

—१।३।१

५८ सम्मत्तदंसी न करेइ पावं ।

—१।३।२

४७. निःस्पृह उपदेशक जिस प्रकार पुण्यवान (संपन्न व्यक्ति) को उपदेश देता है, उसी प्रकार तुच्छ (दीन दरिद्र व्यक्ति) को भी उपदेश देता है।

और जिस प्रकार तुच्छ को उपदेश देता है, उसी प्रकार पुण्यवान को उपदेश देता है अर्थात् दोनो के प्रति एक जैसा भाव रखता है।

४८. कुशल पुरुष न बद्ध है और न मुक्त।

[ज्ञानी के लिए वन्ध या मोक्ष—जैसा कुछ नही है]

४९. अज्ञानी सदा सोये रहते है, और ज्ञानी सदा जागते रहते है।

५०. यह समझ लीजिए कि ससार मे अज्ञान तथा मोह ही अहित और दुःख करने वाला है।

५१. मायावी और प्रमादी वार-वार गर्भ मे अवतरित होता है, जन्ममरण करता है।

५२. मृत्यु से सदा सतर्क रहने वाला साधक ही उससे छुटकारा पा सकता है।

५३. जो अपने प्रज्ञान से ससार के स्वरूप को ठीक तरह जानता है, वही मुनि कहलाता है।

५४. यह सब दु.ख आरम्भज है, हिसा मे से उत्पन्न होता है।

५५. जो कर्म मे से अकर्म की स्थिति मे पहुंच गया है, वह तत्वदर्शी लोक-व्यवहार की सीमा से परे हो गया है।

५६. कर्म से ही समग्र उपाधियां=विकृतियाँ पैदा होती है।

५७. कर्म का मूल क्षण अर्थात् हिसा है।

५८. सम्यग् दर्शी साधक पापकर्म नही करता

५९. कामेसु गिद्धा निचयं करेंति ।

—१।३।२

६०. आयंकदंसी न करेइ पावं ।

—१।३।२

६१. सच्चंमि धिइं कुव्वह ।

—१।३।२

६२. अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे ।
से केयणं अरिहए पूरइत्तए ।

—१।३।२

६३. अणोमदंसी निसण्णे पावेहिं कम्मेहि ।

—१।३।२

६४. आयओ बहिया पास ।

—१।३।३

६५. विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा,
महया खुड्डएहि य ।

—१।३।३

६६. का अरई के आणंदे ?

—१।३।३

६७. पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं वहिया मित्तमिच्छसि ?

—१।३।३

६८. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि ।

—१।३।३

६९ पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि ।

—१।३।३

५९. कामभोगो मे गृद्ध=आसक्त रहने वाले व्यक्ति कर्मो का वन्धन करते है ।

६०. जो ससार के दु.खो का ठीक तरह दर्शन कर लेता है, वह कभी पापकर्म नही करता है ।

६१. सत्य मे धृति कर, सत्य मे स्थिर हो ।

६२. यह मनुष्य अनेकचित्त है, अर्थात् अनेकानेक कामनाओ के कारण मनुष्य का मन विखरा हुआ रहता है ।

वह अपनी कामनाओ की पूर्ति क्या करना चाहता है, एक तरह छलनी को जल से भरना चाहता है ।

६३. (साधक अपनी दृष्टि ऊँची रखे, क्षुद्र भोगो की ओर निम्न दृष्टि न रखे) उच्च दृष्टिवाला साधक ही पाप कर्मो से दूर रहता है ।

६४. अपने समान ही वाहर मे दूसरो को भी देख ।

६५. महान हो या क्षुद्र हो, अच्छे हो या बुरे हो, सभी विषयो से साधक को विरक्त रहना चाहिए ।

६६. ज्ञानी के लिए क्या दु ख, क्या सुख ? कुछ भी नही ।

६७. मानव ! तू स्वयं ही अपना मित्र है । तू वाहर मे क्यो किसी मित्र (सहायक) की खोज कर रहा है ?

६८. मानव ! अपने आपको ही निग्रह कर । स्वयं के निग्रह से ही तू दु.ख से मुक्त हो सकता है ।

६९. हे मानव, एक मात्र सत्य को ही अच्छी तरह जान ले, परखले ।

७०. सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ ।

—१।३।३

७१. सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए ।

—१।३।३

७२. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ॥

—१।३।४

७३. सव्वओ पमत्तस्स भयं,
सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं ।

—१।३।४

७४. जे एगं नामे, से बहुं नामे ।

—१।३।४

७५. एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ ।

—१।३।४

७६. अत्थि सत्थं परेण परं,
नत्थि असत्थं परेण परं ।

—१।३।४

७७. किमत्थि उवाही पासगस्स न विज्जइ ?
नत्थि ।

—१।३।४

७८. न लोगस्सेसणं चरे ।
जस्स नत्थि इमा जाई,
अण्णा तस्स कओ सिया ?

—१।४।१

७०. जो मेधावी साधक सत्य की आज्ञा मे उपस्थित रहता है, वह मार=मृत्यु के प्रवाह को तैर जाता है।

७१. सत्य की साधना करने वाला साधक सव ओर दु.खो से घिरा रहकर भी घवराता नही है, विचलित नही होता है।

७२. जो एक को जानता है वह सव को जानता है। और जो सव को जानता है, वह एक को जानता है।

[जिस प्रकार समग्र विश्व अनन्त है, उसी प्रकार एक छोटे-से-छोटा पदार्थ भी अनन्त है, अनन्त गुण-पर्याय वाला है,—अतः अनंत ज्ञानी ही एक और सवका पूर्ण ज्ञान कर सकता है]

७३. प्रमत्त को सव ओर भय रहता है।
अप्रमत्त को किसी ओर भी भय नही है।

७४. जो एक अपने को नमा लेता है—जीत लेता है, वह समग्र ससार को नमा लेता है।

७५. जो मोह को क्षय करता है, वह अन्य अनेक कर्म-विकल्पो को क्षय करता है।

७६ शस्त्र (=हिसा) एक-से-एक वढ़कर है। परन्तु अशस्त्र (=अहिसा) एक-से-एक वढकर नही है, अर्थात् अहिसा की साधना से वढकर श्रेष्ठ दूसरी कोई साधना नही है।

७७ वीतराग सत्यद्रष्टा को कोई उपाधि होती है या नही ?
नही होती है।

७८ लोकैषणा से मुक्त रहना चाहिए। जिसको यह लोकैषणा नही है, उसको अन्य पाप-प्रवृत्तिया कैसे हो सकती है ?

७९. जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा।
जे अणासवा ते अपरिस्सवा,
जे अपरिस्सवा ते अणासवा।

—१।४।२

८०. नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि।

—१।४।२

८१. वयं पुण एवमाइक्खामो, एवं भासामो,
एवं परूवेमो, एवं पण्णवेमो,
सव्वे पाणा, सव्वे भूया,
सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता,
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा
न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा
न उद्दवेयव्वा।
इत्थं विजाणह नत्थित्थ दोसो।
आरियवयणमेयं।

—१।४।२

८२. पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि—
"हं भो पवाइया ! किं भे सायं दुक्खं असायं ?"
समिया पडिवण्णे या वि एवं बूया—
"सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं,
सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं,
असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं।"

—१।४।२

८३. उवेह एणं बहिया य लोगं,
से सव्वलोगम्मि जे केइ विण्णू।

—१।४।३

७९ जो वन्धन के हेतु है, वे ही कभी मोक्ष के हेतु भी हो सकते है, और जो मोक्ष के हेतु है, वे ही कभी वन्धन के हेतु भी हो सकते है।

जो व्रत उपवास आदि संवर के हेतु है, वे कभी कभी संवर के हेतु नही भी हो सकते है। और जो आस्रव के हेतु है, वे कभी-कभी आस्रव के हेतु नही भी हो सकते है।

[आस्रव और संवर आदि सब मूलतः साधक के अन्तरंग भावो पर आधारित है।]

८० मृत्यु के मुख मे पड़े हुए प्राणी को मृत्यु न आए, यह कभी नही हो सकता।

८१ हम ऐसा कहते है, ऐसा वोलते है, ऐसी प्ररूपणा करते है, ऐसी प्रज्ञापना करते है कि—

किसी भी प्राणी, किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्व को न मारना चाहिए, न उनपर अनुचित शासन करना चाहिए, न उन को गुलामो की तरह पराधीन बनाना चाहिए, न उन्हे परिताप देना चाहिए और न उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिए।

उक्त अहिसा धर्म मे किसी प्रकार का दोप नही है, यह ध्यान में रखिए।

अहिसा वस्तुतः आर्य (पवित्र) सिद्धान्त है।

८२ सर्वप्रथम विभिन्न मत-मतान्तरों के प्रतिपाद्य सिद्धान्त को जानना चाहिए, और फिर हिसाप्रतिपादक मतवादियो से पूछना चाहिए कि—

"हे प्रवादियो! तुम्हे सुख प्रिय लगता है या दुःख?"

"हमे दुःख अप्रिय है, सुख नही"—यह सम्यक् स्वीकार कर लेने पर उन्हे स्पष्ट कहना चाहिए कि "तुम्हारी ही तरह विश्व के समस्त प्राणी, जीव, भूत और सत्वो को भी दुःख अशान्ति (व्याकुलता) देने वाला है, महाभय का कारण है और दुःखरूप है।"

८३ अपने धर्म से विपरीत रहने वाले लोगो के प्रति भी उपेक्षाभाव (= मध्यस्थता का भाव) रखो।

जो कोई विरोधियो के प्रति उपेक्षा = तटस्थता रखता है, उद्विग्न नही होता है, वह समग्र विश्व के विद्वानो मे अग्रणी विद्वान् है।

८४. एगमप्पाणं सपेहाए धुणे सरीरगं।

—१।४।३

८५. कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं।

—१।४।३

८६. जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ,
एवं अत्तसमाहिए अणिहे।

—१।४।३

८७. जस्स नत्थि पुरा पच्छा,
मज्झे तस्स कुओ सिया ?

—१।४।४

८८. से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए।

—१।४।४

८९ जे छेए से सागारियं न सेवेइ।

—१।५।१

९०. गुरू से कामा, तओ से मारस्स अंतो,
जओ से मारस्स अंतो, तओ से दूरे।
नेव से अंतो नेव दूरे।

—१।५।१

९१. उट्ठिए नो पमायए।

—१।५।२

९२. पुढो छंदा इह माणवा।

—१।५।२

९३. बन्धप्पमोक्खो अज्झत्थेव।

—१।५।२

९४. नो निन्हवेज्ज वीरियं।

—१।५।३

८४. आत्मा को शरीर से पृथक् जानकर भोगलिप्त शरीर को धुन डालो।

८५. अपने को कृश करो, तन-मन को हल्का करो।
अपने को जीर्ण करो, भोगवृत्ति को जर्जर करो।

८६. जिस तरह अग्नि पुराने सूखे काठ को शीघ्र ही भस्म कर डालती है, उसी तरह सतत अप्रमत्त रहनेवाला आत्मसमाहित निःस्पृह साधक कर्मो को कुछ ही क्षणो मे क्षीण कर देता है।

८७. जिसको न कुछ पहले है और न कुछ पीछे है, उसको बीच मे कहा से होगा ?

[जिस साधक को न पूर्वभुक्त भोगो का स्मरण होता है, और न भविष्य के भोगो की ही कोई कामना होती है, उसको वर्तमान मे भोगासक्ति कैसे हो सकती है ?]

८८ जो आरंभ (=हिसा) से उपरत है, वही प्रज्ञानवान् बुद्ध है।

८९. जो कुशल है, वे काम भोगो का सेवन नही करते।

९०. जिसकी कामनाएँ तीव्र होती है, वह मृत्यु से ग्रस्त होता है, और जो मृत्यु से ग्रस्त होता है वह शाश्वत सुख से दूर रहता है।

परन्तु जो निष्काम होता है, वह न मृत्यु से ग्रस्त होता है, और न शाश्वत सुख से दूर।

९१. जो कर्तव्यपथ पर उठ खडा हुआ है, उसे फिर प्रमाद नही करना चाहिए।

९२. संसार मे मानव भिन्न-भिन्न विचार वाले है।

९३. वस्तुत· वन्धन और मोक्ष अन्दर मे ही है।

९४. अपनी योग्य शक्ति को कभी छुपाना नही चाहिए।

९५. इमेण चेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण बज्झओ ।

—१।५।३

९६. जुद्धारिहं खलु दुल्लभं ।

—१।५।३

९७. वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा ।

—१।५।४

९८. वितिगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं
नो लहई समाहिं ।

—१।५।५

९९. तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि ।

—१।५।५

१००. जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया ।
जेण वियाणइ से आया । तं पडुच्च पडिसंखाए ।

—१।५।५

१०१. सव्वे सरा नियट्टंति,
तक्का जत्थ न विज्जइ ।
मई तत्थ न गाहिया ।

—१।५।६

१०२ नो अत्ताणं आसाएज्जा, नो परं आसाएज्जा ।

—१।६।५

१०३. गामे वा अदुवा रण्णे ।
नेव गामे नेव रण्णे, धम्ममायाणह ।

—१।८।१

९५. अपने अन्तर (के विकारों) से ही युद्ध कर।
बाहर के युद्ध से तुझे क्या मिलेगा ?

९६. विकारो से युद्ध करने के लिए फिर यह अवसर मिलना दुर्लभ है।

९७. कुछ लोग मामूली कहा-सुनी होते ही क्षुब्ध हो जाते है।

९८. शंकाशील व्यक्ति को कभी समाधि नही मिलती।

९९. जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।
[स्वरूप दृष्टि से सब चैतन्य एक समान है। यह अद्वैत भावना ही अहिसा का मूलाधार है]

१००. जो आत्मा है, वह विज्ञाता है।
जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।
जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है।
जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

१०१ आत्मा के वर्णन मे सब के सब शब्द निवृत्त हो जाते है—
समाप्त हो जाते है।
वहाँ तर्क की गति भी नही है।
और न बुद्धि ही उसे ठीक तरह ग्रहण कर पाती है।

१०२. न अपनी अवहेलना करो, और न दूसरों की।

१०३ धर्म गाँव मे भी हो सकता है, और अरण्य (=जगल) मे भी। क्योंकि वस्तुतः धर्म न गाँव मे कही होता है और न अरण्य में, वह तो अन्तरात्मा मे होता है।

१०४. जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति,
तेसिं पि वयं लज्जामो।

—१।८।१

१०५. समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए।

—१।८।३

१०६. एगे अहमंसि, न मे अत्थि कोइ,
न याऽहमवि कस्स वि।

—१।८।६

१०७. जीवियं नाभिकंखिज्जा,
मरणं नो वि पत्थए।
दुहओ वि न सज्जेज्जा,
जीविए मरणे तहा॥

—१।८।८।४

१०८. गथेहि विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए।

—१।८।८।११

१०९, इंदिएहिं गिलायंतो, समियं आहरे मुणी।
तहा वि से अगरहे, अचले जे समाहिए।

—१।८।८।१४

११०. वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा।

—१।८।८।२१

१११. नो वयणं फरुसं वइज्जा।

—२।१।६

११२. नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा।

—२।३।१

११३. राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा
नो अंतरा भासं भासिज्जा।

—२।३।३

११४. मणं परिजाणइ से निग्गंथे।

—२।३।१५।१

१०४. यदि कोई अन्य व्यक्ति भी धर्म के नाम पर जीवो की हिंसा करते है, तो हम इससे भी लज्जानुभूति करते है।

१०५. आर्य महापुरुषो ने समभाव मे धर्म कहा है।

१०६ मैं एक हूँ—अकेला हूँ।
न कोई मेरा है, और न मै किसी का हूँ।

१०७. साधक न जीने की आकाक्षा करे और न मरने की कामना करे। वह जीवन और मरण दोनो मे ही किसी तरह की आसक्ति न रखे, तटस्थ भाव से रहे।

१०८. साधक को अन्दर और बाहर की सभी ग्रन्थियो (बन्धन रूप गाँठो) से मुक्त होकर जीवन-यात्रा पूर्ण करनी चाहिए।

१०९. शरीर और इन्द्रियो के क्लान्त होने पर भी मुनि अन्तर्मन मे समभाव (=स्थिरता) रखे। इधर-उधर गति एवं हलचल करता हुआ भी साधक निद्य नही है, यदि वह अन्तरग मे अविचल एव समाहित है तो!

११०. सब प्रकार से शरीर का मोह छोड़ दीजिए, फलतः परीषहो के आने पर विचार कीजिए कि मेरे शरीर मे परीषह है ही नही।

१११. कठोर=कटु वचन न बोले।

११२. संकट मे मन को ऊँचा नीचा अर्थात् डाँवाडोल नही होने देना चाहिए।

११३. अपने से बड़े गुरुजन जब बोलते हो, विचार चर्चा करते हो, तो उनके बीच मे न बोले।

११४. जो अपने मन को अच्छी तरह परखना जानता है वही सच्चा निर्ग्रन्थ-साधक है।

११५. अणुवीइ भासी से निग्गंथे ।

—२।३।१५।२

११६. अणणुवीइ भासी से निग्गंथे समावइज्जा मोसं वयणाए।

—२।३।१५।२

११७. लोभपत्तो लोभी समावइज्जा मोसं वयणाए।

—२।३।१५।२

११८. अणणुन्नविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे अदिन्नं भुंजिज्जा।

—२।३ १५।३

११९. नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे ।

—२।३।१५।४

१२० न सक्का न सोउं सद्दा, सोतविसयमागया ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

—२।३।१५।१३१

१२१. नो सक्का रूवमद्दट्ठुं, चक्खुविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

—२।३।१५।१३२

१२२. न सक्का गंधमग्घाउं, नासाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

—२।३।१५।१३३

१२३. न सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

—२।३।१५।१३४

१२४. न सक्का फासमवेएउं, फासविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

—२।३।१५।१३५

१२५. समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा,
तवो य पन्ना य जस्सो य वड्ढइ ।

—२।४।१६।१४०

११५. जो विचारपूर्वक बोलता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ है ।

११६. जो विचारपूर्वक नहीं बोलता है, उसका वचन कभी-न-कभी असत्य से दूषित हो सकता है ।

११७. लोभ का प्रसंग आने पर व्यक्ति असत्य का आश्रय ले लेता है ।

११८. जो गुरुजनो की अनुमति लिए विना भोजन करता है वह अदत्तभोजी है, अर्थात् एक प्रकार से चोरी का अन्न खाता है ।

११९. जो आवश्यकता से अधिक भोजन नही करता है वही ब्रह्मचर्य का साधक सच्चा निर्ग्रन्थ है ।

१२०. यह शक्य नही है कि कानो मे पडने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएँ, अतः शब्दों का नही, शब्दो के प्रति जगने वाले राग द्वेष का त्याग करना चाहिए ।

१२१. यह शक्य नही है कि आँखो के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप देखा न जाए, अतः रूप का नही, किंतु रूप के प्रति जागृत होने वाले राग द्वेष का त्याग करना चाहिए ।

१२२. यह शक्य नही है कि नाक के समक्ष आया हुआ सुगन्ध या दुर्गन्ध सूँघने मे न आए, अतः गंध का नही, किंतु गंध के प्रति जगने वाली राग द्वेप की वृत्ति का त्याग करना चाहिए ।

१२३. यह शक्य नही है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने मे न आये, अतः रस का नही, किंतु रस के प्रति जगने वाले रागद्वेष का त्याग करना चाहिए ।

१२४. यह शक्य नही है कि शरीर से स्पृष्ट होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो, अतः स्पर्श का नही, किंतु स्पर्श के प्रति जगने वाले रागद्वेप का त्याग करना चाहिए ।

१२५. अग्नि-शिखा के समान प्रदीप्त एवं प्रकाशमान रहने वाले अन्तर्लीन साधक के तप, प्रज्ञा और यश निरन्तर बढते रहते है ।

सूत्रकृतांग की सूक्तियाँ

●

१. बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया।

—१।१।१।१

२ ममाइ लुप्पई बाले।

—१।१।१।४

३. तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया।

—१।१।१।१४

४. नो य उप्पज्जए असं।

—१।१।१।१६

५. जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा।

—१।१।१।२१

६. असंकियाइं संकंति, संकिआइं असंकिणो।

—१।१।२।१०

७. अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं।

—१।१।२।१७

८. अंधो अंधं पहं णितो, दूरमद्धाणुगच्छइ।

—१।१।२।१९

९. एवं तक्काइ साहिंता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा॥

—१।१।२।२२

सूत्रकृतांग को सूक्तियां

१. सर्वप्रथम बन्धन को समझो, और समझ कर फिर उसे तोड़ो ।

२. 'यह मेरा है—वह मेरा है'—इस ममत्व बुद्धि के कारण ही वाल जीव विलुप्त होते है ।

३. परपीडा मे लगे हुए अज्ञानी जीव अन्धकार से अन्धकार की ओर जा रहे है ।

४. असत् कभी सत् नही होता ।

५. जो असत्य की प्ररूपणा करते है, वे संसार-सागर को पार नही कर सकते ।

६. मोहमूढ मनुष्य जहां वस्तुतः भय की आशका है, वहाँ तो भय की आशका करते नही है । और जहाँ भय की आशका जैसा कुछ नही है, वहाँ भय की आशंका करते हैं ।

७. जो अपने पर अनुशासन नही रख सकता, वह दूसरों पर अनुशासन कैसे कर सकता है ?

८. अन्धा अन्धे का पथप्रदर्शक वनता है, तो वह अभीष्ट मार्ग से दूर भटक जाता है ।

९. जो धर्म और अधर्म से सर्वथा अनजान व्यक्ति केवल कल्पित तर्कों के आधार पर ही अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करते है, वे अपने कर्म वन्धन को तोड़ नही सकते, जैसे कि पक्षी पिजरे को नही तोड़ पाता है ।

१०. सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारं ते विउस्सिया ।

—१।१।२।२३

११. जहा अस्साविणिं णावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छइ पारमागंतु, अंतरा य विसीयई ॥

—१।१।२।३१

१२. समुप्पायमजाणंता, कह नायंति संवरं ?

—१।१।३।१०

१३. अणुक्कसे अप्पलीणे, मज्झेण मुणि जावए ।

—१।१।४।२

१४. एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एतावन्तं वियाणिया ॥

—१।१।४।१०

१५. संबुज्झह, किं न बुज्झह ?
सबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइयो,
नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥

—१।२।१।१

१६. सेणे जहा वट्टयं हरे, एवं आउखयम्मि तुट्टई ।

१।२।१।२

१७. नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।

—१।२।१।३

१८. सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ।

—१।२।१।४

१९. ताले जह बंधणच्चुए, एवं आउखयंमि तुट्टती ।

—१।२।१।६

२०. जइ वि य णिगणे किसे चरे, जइ वि य भुंजे मासमंतसो ।
जे इह मायाइ मिज्जइ, आगंता गब्भायऽणंतसो ॥

—१।२।१।९

१०. जो अपने मत की प्रशसा, और दूसरो के मत की निन्दा करने मे ही अपना पाण्डित्य दिखाते है, वे एकान्तवादी संसार चक्र मे भटकते ही रहते है।

११. अज्ञानी साधक उस जन्मान्ध व्यक्ति के समान है, जो सछिद्र नौका पर चढ कर नदी किनारे पहुचना तो चाहता है, किन्तु किनारा आने से पहले ही बीच प्रवाह मे डूब जाता है।

१२. जो दुःखोत्पत्ति का कारण ही नही जानते, वह उसके निरोध का कारण कैसे जान पायेगे ?

१३. अहंकार रहित एव अनासक्त भाव से मुनि को रागद्वेप के प्रसगो मे ठीक बीच से तटस्थ यात्रा करनी चाहिए।

१४. ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। 'अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है, बस, इतनी बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए।

१५. अभी इसी जीवन मे समझो, क्यो नही समझ रहे हो ? मरने के बाद परलोक मे संबोधि का मिलना कठिन है।
जैसे बीती हुई राते फिर लौटकर नही आती, उसी प्रकार मनुष्य का गुजरा हुआ जीवन फिर हाथ नही आता।

१६. एक ही झपाटे मे बाज जैसे बटेर को मार डालता है, वैसे ही आयु क्षीण होने पर मृत्यु भी जीवन को हर लेता है।

१७. मरने के बाद सद्गति सुलभ नही है। (अत. जो कुछ सत्कर्म करना है, यहीं करो)।

१८. आत्मा अपने स्वयं के कर्मों से ही बन्धन में पड़ता है। कृत कर्मों को भोगे बिना मुक्ति नहीं है।

१९. जिस प्रकार ताल का फल वृन्त से टूट कर नीचे गिर पड़ता है, उसी प्रकार आयु क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है।

२०. भले ही नग्न रहे, मास-मास का अनशन करे, और शरीर को कृश एवं क्षीण कर डाले, किन्तु जो अन्दर में दंभ रखता है, वह जन्म मरण के अनंत चक्र मे भटकता ही रहता है।

२१. पलियंतं मणुयाण जीवियं ।

—१।२।१।१०

२२. सउणी जह पंसुगुंडिया,
विहुणिय धंसयई सियं रयं ।
एवं दविओवहाणव,
कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ॥

—१।२।१।१५

२३. मोहं जंति नरा असवुडा ।

—१।२।१।२०

२४. अहऽसेयकरी अन्नेसिं इंखिणी ।

—१।२।२।१

२५. तयसं व जहाइ से रयं ।

—१।२।२।१

२६. जो परिभवइ परं जणं, संसारे परिवत्तई महं ।

—१।२।२।१

२७. महयं पलिगोव जाणिया,
जा वि य वंदणपूयणा इहं ॥

—१।२।२।११

२८. सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे ।

—१।२।२।११

२९. सामाइयमाहु तस्स जं,
जो अप्पाण भए ण दंसए ।

—१।२।२।१७

३०. अट्ठे परिहायती बहु, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए ।

—१।२।२।१९

३१. बाले पावेहिं मिज्जती ।

—१।२।२।२१

२१. मनुष्यो का जीवन एक बहुत ही अल्प एवं सान्त जीवन है ।

२२. मुमुक्षु तपस्वी अपने कृत कर्मो का बहुत शीघ्र ही अपनयन कर देता है, जैसे कि पक्षी अपने परों को फड़फडाकर उन पर लगी धूल को भाड देता है ।

२३. इन्द्रियो के दास असंवृत मनुष्य हिताहितनिर्णय के क्षणो मे मोह-मुग्ध हो जाते है ।

२४. दूसरो की निन्दा हितकर नही है ।

२५. जिस प्रकार सर्प अपनी केचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार साधक अपने कर्मो के आवरण को उतार फेकता है ।

२६. जो दूसरों का परिभव अर्थात् तिरस्कार करता है, वह संसार वन में दीर्घ काल तक भटकता रहता है ।

२७. साधक के लिए वंदन और पूजन एक बहुत बड़ी दलदल है ।

२८. मन मे रहे हुए विकारो के सूक्ष्म शल्य को निकालना कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है ।

२९ समभाव उसी को रह सकता है, जो अपने को हर किसी भय से मुक्त रखता है ।

३०. बुद्धिमान को कभी किसी से कलह-झगड़ा नही करना चाहिए । कलह से बहुत बड़ी हानि होती है ।

३१. अज्ञानी आत्मा पाप करके भी उस पर अहकार करता है ।

३२. अत्तहियं खु दुहेण लब्भई।

—१।२।२।३०

३३. मरणं हेच्च वयंति पंडिया।

—१।२।२।२१

३४. अदक्खु कामाइं रोगवं।

—१।२।३।२

३५. नाइवहइ अबले विसीयति।

—१।२।३।५

३६. कामी कामे न कामए, लद्धे वावि अलद्ध कण्हुई।

—१।२।३।६

३७. मा पच्छ असाधुता भवे,
अच्चेही अणुसास अप्पगं।

—१।२।३।७

३८. न य संखयमाहु जीवियं।

—१।२।३।१०

३९. एगस्स गती य आगती।

—१।२।३।१७

४०. सव्वे सयकम्मकप्पिया।

—१।२।३।१८

४१. इणमेव खणं वियाणिया।

—१।२।३।१९

४२. सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती।

—१।३।१।१

४३. नातीणं सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी।

—१।३।१।१६

३२. आत्महित का अवसर मुश्किल से मिलता है।

३३. प्रबुद्ध साधक ही मृत्यु की सीमा को पार कर अजर अमर होते है।

३४. सच्चे साधक की दृष्टि मे काम-भोग रोग के समान है।

३५. निर्बल व्यक्ति भार वहन करने मे असमर्थ होकर मार्ग मे ही कही खिन्न होकर बैठ जाता है।

३६. साधक सुखाभिलाषी होकर काम-भोगो की कामना न करे, प्राप्त भोगो को भी अप्राप्त जैसा कर दे, अर्थात् उपलब्ध भोगों के प्रति भी नि.स्पृह रहे।

३७. भविष्य मे तुम्हे कष्ट भोगना न पड़े, इसलिए अभी से अपने को विषय वासना से दूर रखकर अनुशासित करो।

३८. जीवन-सूत्र टूट जाने के बाद फिर नही जुड़ पाता है।

३९. आत्मा (परिवार आदि को छोड़ कर) परलोक मे अकेला ही गमनागमन करता है।

४० सभी प्राणी अपने कृत कर्मो के कारण नाना योनियो मे भ्रमण करते है।

४१. जो क्षण वर्तमान मे उपस्थित है, वही महत्व पूर्ण है, अतः उसे सफल बनाना चाहिए।

४२. अपनी बड़ाई मारने वाला क्षुद्रजन तभी तक अपने को शूरवीर मानता है, जब तक कि सामने अपने से बली विजेता को नही देखता है।

४३. दुर्बल एव अज्ञानी साधक कष्ट आ पड़ने पर अपने स्वजनों को वैसे ही याद करता है, जैसे कि लड़-झगड़ कर घर से भागी हुई स्त्री गुंडो या चोरों से [illegible]

४४. तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा ।

—१।३।२।२१

४५. नातिकंडूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्झति ।

—१।३।३।१३

४६. कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ।

—१।३।३।२०

४७. मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुम्पहा बहुं ।

—१।३।४।७

४८. जेहिं काले परक्कंतं, न पच्छा परितप्पए ।

—१।३।४।१५

४९. सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेग चरंति पासेण ।

—१।४।१।८

५०. तम्हा उ वज्जए इत्थी,
विसलित्तं व कण्टगं नच्चा ।

—१।४।१।११

५१. जहा कडं कम्म, तहासि भारे ।

—१।५।१।२६

५२. एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ।

—१।५।२।२२

५३. जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए ।

—१।५।२।२३

५४. दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं

—१।६।२३

५५. तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं ।

—१।६।२३

४४. अज्ञानी साधक संकट काल मे उसी प्रकार खेदखिन्न हो जाते है, जिस प्रकार बूढ़े बैल चढ़ाई के मार्ग मे।

४५. घाव को अधिक खुजलाना ठीक नही, क्योकि खुजलाने से घाव अधिक फैलता है।

४६. भिक्षु प्रसन्न व शान्त भाव से अपने रुग्ण साथी की परिचर्या करे।

४७. सन्मार्ग का तिरस्कार करके तुम अल्प वैषयिक सुखो के लिए अनन्त मोक्षसुख का विनाश मत करो।

४८. जो समय पर अपना कार्य कर लेते है, वे बाद में पछताते नही।

४९. निर्भय अकेला विचरने वाला सिह भी मास के लोभ से जाल मे फंस जाता है (वैसे ही आसक्तिवश मनुष्य भी)।

५०. ब्रह्मचारी स्त्रीसंसर्ग को विषलिप्त कंटक के समान समझकर उससे बचता रहे।

५१. जैसा किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका भोग !

५२. आत्मा अकेला ही अपने किए दुःख को भोगता है।

५३. अतीत में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य मे वह उसी रूप मे उपस्थित होता है।

५४. अभय दान ही सर्वश्रेष्ठ दान है।

५५. तपो मे सर्वोत्तम तप है—ब्रह्मचर्य।

५६. सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति।

—१।६।२३

५७. सकम्मुणा विप्परियासुवेइ।

—१।७।११

५८. उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी,
सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि।

—१।७।१४

५९. नो पूयणं तवसा आवहेज्जा।

—१।७।२७

६०. दुक्खेण पुट्ठे धुयमायएज्जा।

—१।७।२९

६१. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं।

—१।८।३

६२. आरओ परओ वा वि, दुहा वि य असंजया।

—१।८।६

६३. पावोवगहा हि आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो।

—१।८।७

६४. वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जती।

—१।८।७

६५. जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

—१।८।१६

६६. सातागारव णिहुए, उवसंतेऽणिहे चरे।

—१।८।१८

६७. सादियं न मुसं बूया।

—१।८।१९

५६. सत्य वचनों मे भी अनवद्य सत्य (हिसा-रहित सत्य वचन) श्रेष्ठ है।

५७. प्रत्येक प्राणी अपने ही कृत कर्मों से कष्ट पाता है।

५८. यदि जलस्पर्श (जलस्नान) से ही सिद्धि प्राप्त होती हो, तो पानी मे रहने वाले अनेक जीव कभी के मोक्ष प्राप्त कर लेते ?

५९. तप के द्वारा पूजा प्रतिष्ठा की अभिलाषा नही करनी चाहिए।

६०. दुःख आ जाने पर भी मन पर सयम रखना चाहिए।

६१ प्रमाद को कर्म—आश्रव और अप्रमाद को अकर्म-सवर कहा है।

६२. कुछ लोग लोक और परलोक—दोनो ही दृष्टियो से असयत होते है।

६३. पापानुष्ठान अन्ततः दुःख ही देते है।

६४. वैरवृत्ति वाला व्यक्ति जब देखो तब वैर ही करता रहता है। वह एक के वाद एक किए जाने वाले वैर से वैर को वढ़ाते रहने मे ही रस लेता है।

६५. कछुआ जिस प्रकार अपने अंगो को अन्दर में समेट कर खतरे से वाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियों से सुरक्षित रखे।

६६. साधक सुख-सुविधा की भावना से अनपेक्ष रहकर, उपशात एव दम्भ-रहित होकर विचरे।

६७. मन मे कपट रख कर झूठ न वोलो।

६८. अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए।

—१।८।२५

६९. झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।

—१।८।२६

७०. तितिक्खं परमं नच्चा।

—१।८।२६

७१. परिग्गहनिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई।

—१।९।

७२. अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहि किच्चती।

—१।९।

७३. अणुचिंतिय वियागरे।

—१।९।२

७४. जं छन्नं तं न वत्तव्वं।

—१।९।२

७५. तुमं तुमंति अमणुन्नं, सव्वसो तं न वत्तए।

—१।९।२

७६. णातिवेलं हसे मुणी।

—१।९।२

७७ वुच्चमाणो न संजले।

—१।९।३१

७८. सुमणे अहियासेज्जा, न य कोलाहलं करे।

—१।९।३१

७९. लद्धे कामे न पत्थेज्जा।

—१।९।३२

८०. सव्वं जगं तू समयाणुपेही,
पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा।

—१।१०।६

६८. सुव्रती साधक कम खाये, कम पीये, और कम बोले।

६९. ध्यानयोग का अवलम्बन कर देहभाव का सर्वतोभावेन विसर्जन करना चाहिए।

७०. तितिक्षा को परम धर्म समझकर आचरण करो।

७१. जो परिग्रह (संग्रह वृत्ति) मे व्यस्त है, वे संसार मे अपने प्रति वैर ही बढ़ाते है।

७२. यथावसर संचित धन को तो दूसरे उड़ा लेते है, और संग्रही को अपने पापकर्मों का दुष्फल भोगना पड़ता है।

७३. जो कुछ बोले—पहले विचार कर बोले।

७४. किसी की कोई गोपनीय जैसी बात हो, तो नही कहना चाहिए।

७५. 'तू-तू'—जैसे अभद्र शब्द कभी नही बोलने चाहिए।

७६. मर्यादा से अधिक नहीं हंसना चाहिए।

७७. साधक को कोई दुर्वचन कहे, तो भी वह उस पर गरम न हो, क्रोध न करे।

७८. साधक जो भी कष्ट हो, प्रसन्न मन से सहन करे, कोलाहल न करे।

७९. प्राप्त होने पर भी कामभोगों की अभ्यर्थना (स्वागत) न करे।

८०. समग्र विश्व को जो समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय। अर्थात् समदर्शी अपने पराये की भेद-बुद्धि से परे होता है।

८१. सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता,
दूरे चरंती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं,
दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥

—१।१०।२०

८२ बालजणो पगब्भई ।

—१।११।२

८३. न विरुज्झेज्ज केण वि ।

—१।११।१२

८४ णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति,
ण चंदिमा वड्ढति हायती वा ।

—१।१२।७

८५. जहा हि अंधे सह जोतिणावि,
रूवादि णो पस्सति हीणणेत्ते ।

—१।१२।८

८६. आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ।

—१।१२।११

८७. न कम्मुणा कम्म खवेंत्ति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा ।

—१।१२।१५

८८. संतोसिणो नो पकरेंति पावं ।

—१।१२।१५

८९. ते आत्तओ पासइ सव्वलोए ।

—१।१२।१८

९०. अलमप्पणो होंति अलं परेसिं ।

—१।१२।१९

९१. अन्नं जणं पस्सति बिंबभूयं ।

—१।१३।८

९२. अन्नं जणं खिंसइ बालपन्ने ।

—१।१३।१४

८१. जिस प्रकार मृगशावक सिंह से डर कर दूर-दूर रहते है, उसी प्रकार बुद्धिमान धर्म को जानकर पाप से दूर रहे।

८२. अभिमान करना अज्ञानी का लक्षण है।

८३. किसी के भी साथ वैर विरोध न करो।

८४. वस्तुतः सूर्य न उदय होता है, न अस्त होता है। और चन्द्र [illegible] है, न घटता है। यह सब दृष्टि भ्रम है।

८५. जिस प्रकार अन्ध पुरुष प्रकाश होते हुए भी नेत्रहीन [illegible] रूपादि कुछ भी नही देख पाता है, इसी प्रकार [illegible] के समक्ष रहते हुए भी सत्य के दर्शन नही कर [illegible]

८६. ज्ञान और कर्म (विद्या एवं चरण) से ही मोक्ष [illegible]

८७. अज्ञानी मनुष्य कर्म (पापानुष्ठान) से [illegible] किन्तु ज्ञानी धीर पुरुष अकर्म (पापानुष्ठान [illegible] कर देते है।

८८. सन्तोषी साधक कभी कोई पाप नहीं [illegible]

८९. तत्वदर्शी समग्र प्राणिजगत् को [illegible]

९०. ज्ञानी आत्मा ही 'स्व' और '[illegible]

९१. अभिमानी अपने अहंकार [illegible] के समान तुच्छ) मानता है

९२ जो अपनी प्रज्ञा के [illegible] बुद्धि (बालप्रज्ञ) है।

९३. जे छेय से विप्पमायं न कुज्जा ।

—१।१४।१

९४. कहं कहं वा वितिगिच्छतिण्णे ।

—१।१४।६

९५. सूरोदए पासति चक्खुणेव ।

—१।१४।१३

९६. न यावि पन्ने परिहास कुज्जा ।

—१।१४।१६

९७. नो छायए नो वि य लूसएज्जा ।

—१।१४।१६

९८, नो तुच्छए नो य विकत्थइज्जा ।

—१।१४।२१

९९ विभज्जवायं च वियागरेज्जा ।

—१।१४।२२

१००. निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा ।

—१।१४.२३

१०१. नाइवेलं वएज्जा ।

—१।१४।२५

१०२ से दिट्ठिमं दिट्ठि न लूसएज्जा ।

—१।१४।२५

१०३. भूएहिं न विरुज्झेज्जा ।

—१।१५।४

१०४. भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।

—१।१५।५

१०५. तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ।

—१।१५।६

९३. चतुर वही है जो कभी प्रमाद न करे।

९४. मुमुक्षु को कैसे-न-कैसे मन की विचिकित्सा से पार हो जाना चाहिए।

९५. सूर्योदय होने पर (प्रकाश होने पर) भी आँख के बिना नही देखा जाता है, वैसे ही स्वयं मे कोई कितना ही चतुर क्यो न हो, निर्देशक गुरु के अभाव मे तत्वदर्शन नही कर पाता।

९६. बुद्धिमान किसी का उपहास नही करता।

९७. उपदेशक सत्य को कभी छिपाए नही, और न ही उसे तोड मरोड़ कर उपस्थित करे।

९८. साधक न किसी को तुच्छ-हल्का बताए और न किसी की झूठी प्रशंसा करे।

९९. विचारशील पुरुष सदा विभज्यवाद अर्थात् स्याद्वाद से युक्त वचन का प्रयोग करे।

१००. थोड़े से मे कही जानी वाली बात को व्यर्थ ही लम्बी न करे।

१०१. साधक आवश्यकता से अधिक न बोले।

१०२. सम्यग्दृष्टि साधक को सत्य दृष्टि का अपलाप नही करना चाहिए।

१०३. किसी भी प्राणी के साथ वैर विरोध न बढाएँ।

१०४. जिस साधक की अन्तरात्मा भावनायोग (निष्काम साधना) से शुद्ध है, वह जल मे नौका के समान है, अर्थात् वह संसार सागर को तैर जाता है, उसमे डूबता नही है।

१०५. जो नये कर्मो का बन्धन नही करता है, उसके पूर्वबद्ध पापकर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

१०६. अकुव्वओ णवं णत्थि ।

—१।१५।७

१०७. अणुसासणं पुढो पाणी ।

—१।१५।११

१०८. से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अन्तए ।

—१।१५।१४

१०९. इओ विद्धंसमाणस्स पुणो संबोही दुल्लभा ।

—१।१५।१८

११०. अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं ।

—२।१।९

१११. अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहमंसि ।

—२।१।१३

११२. अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयति ।

—२।१।१३

११३. पत्तेयं जायति पत्तेयं मरइ ।

—२।१।१३

११४. णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा,
णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेजा ।

—२।१।१५

११५. अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा,
कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेजा ।

—२।१।१५

११६. सारदसलिलं व सुद्ध हियया,....
विहग इव विप्पमुक्का,....
वसुंधरा इव सव्व फासविसहा ।

—२।२।३८

११७. धम्मेणं चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति ।

—२।२।३९

११८. अदक्खु, व दक्खुवाहियं सद्दहसु ।

—२।३।११

१०६. जो अन्दर मे राग-द्वेष रूप-भाव कर्म नही करता, उसे नए कर्म का बंध नही होता ।

१०७. एक ही धर्मतत्त्व को प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार पृथक्-पृथक् रूप मे ग्रहण करता है ।

१०८. जिसने कांक्षा—आसक्ति का अन्त कर दिया है, वह मनुष्यो के लिए पथप्रदर्शक चक्षु है ।

१०९. जो अज्ञान के कारण अब पथभ्रष्ट हो गया है, उसे फिर भविष्य मे संबोधि मिलना कठिन है ।

११०. आत्मा और है, शरीर और है ।

१११. शब्द, रूप आदि काम भोग (जड़पदार्थ) और है, मै (आत्मा) और हूँ ।

११२. कोई किसी दूसरे के दुःख को बटा नही सकता ।

११३. हर प्राणी अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है ।

११४. खाने पीने की लालसा से किसी को धर्म का उपदेश नही करना चाहिए ।

११५. साधक बिना किसी भौतिक इच्छा के प्रशांतभाव से एक मात्र कर्म-निर्जरा के लिए धर्म का उपदेश करे ।

११६ मुनि जनो का हृदय शरदकालीन नदी के जल की तरह निर्मल होता है । वे पक्षी की तरह बन्धनो से विप्रमुक्त और पृथ्वी की तरह समस्त सुख-दुःखो को समभाव से सहन करने वाले होते हैं ।

११७. सद्गृहस्थ धर्मानुकूल ही आजीविका करते है ।

११८. नही देखने वालो ! तुम देखने वालों की बात पर विश्वास करके चलो ।

●

स्थानांग की सूक्तियां

●

१. एगे मरणे अंतिमसारीरियाणं ।

—१।१।३६

२. एगा अहम्मपडिबा, जं से आया परिकिलेसति ।

—१।१।३८

३. एगा धम्मपडिमा, जं से आया पज्जवजाए ।

—१।१।४०

४. जदत्थि णं लोगे, तं सव्वं दुपओआरं ।

—२।१

५. दुविहे धम्मे-सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव ।

—२।१

६. दुविहे बंधे-पेज्जबंधे चेव दोसबंधे चेव ।

—२।४

७. किंभया पाणा ?....
दुक्खभया पाणा ।
दुक्खे केण कडे ?
जीवेणं कडे पमाएणं !

—३।२

स्थानांग को सूक्तियां

१. मुक्त होने वाली आत्माओं का वर्तमान अन्तिम देह का मरण ही—एक मरण होता है, और नहीं।

२. एक अधर्म ही ऐसी विकृति है, जिससे आत्मा क्लेश पाता है।

३. एक धर्म ही ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है।

४. विश्व मे जो कुछ भी है, वह इन दो शब्दो मे समाया हुआ है—चेतन और जड़।

५. धर्म के दो रूप है—श्रुत धर्म=तत्त्वज्ञान, और चारित्र धर्म—नैतिक आचार।

६. बन्धन के दो प्रकार है—प्रेम का बन्धन, और द्वेष का बन्धन।

प्राणी किससे भय पाते है ?
दुःख से।
दुःख किसने किया है ?
स्वय आत्मा ने, अपनी ही भूल से।

८. तम्रो ठाणाइं देवे पीहेज्जा
माणुसं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुलपच्चायाति ।

—३।

९. तम्रो दुस्सन्नप्पा – दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिते ।

—३।

१०. चत्तारि सुता—
अतिजाते, अणुजाते,
अवजाते, कुलिंगाले ।

—४।

११. चत्तारि फला—
आमे णामं एगे आममहुरे ।
आमे णामं एगे पक्कमहुरे ।
पक्के णामं एगे आममहुरे ।
पक्के णामं एगे पक्कमहुरे ।

—४

१२. आवायभद्दए णामं एगे णो संवासभद्दए ।
संवासभद्दए णामं एगे णो आवायभद्दए ।
एगे आवायभद्दए वि, संवासभद्दए वि ।
एगे णो आवायभद्दए, णो संवासभद्दए ।

—४।१

१३. अप्पणो णामं एगे वज्जं पासइ, णो परस्स ।
परस्स णामं एगे वज्जं पासइ, णो अप्पणो ।
एगे अप्पणो वज्जं पासइ, परस्स वि ।
एगे णो अप्पणो वज्जं पासइ, णो परस्स ।

—४।१

१४. दीणे णामं एगे णो दीणमणे ।
दीणे णामं एगे णो दीणसंकप्पे ।

—४।२

८. देवता भी तीन बातों की इच्छा करते रहते है—
मनुष्य जीवन, आर्यक्षेत्र मे जन्म, और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति।

९. दुष्ट को, मूर्ख को, और बहके हुए को प्रतिबोध देना—समझा पाना बहुत कठिन है।

१०. कुछ पुत्र गुणो की दृष्टि से अपने पिता से बढकर होते है। कुछ पिता के समान होते है और कुछ पिता से हीन। कुछ पुत्र कुल का सर्वनाश करने वाले—कुलागार होते है।

११. कुछ फल कच्चे होकर भी थोड़े मधुर होते है।
कुछ फल कच्चे होने पर भी पके की तरह अति मधुर होते है।
कुछ फल पके होकर भी थोड़े मधुर होते है।
और कुछ फल पके होने पर अति मधुर होते है।
फल की तरह मनुष्य के भी चार प्रकार होते है—
लघुवय मे साधारण समझदार। लघुवय मे बड़ी उम्रवालो की तरह समझदार। बड़ी उम्र मे भी कम समझदार। बड़ी उम्र मे पूर्ण समझदार।

१२. कुछ व्यक्तियो की मुलाकत अच्छी होती है, किन्तु सहवास अच्छा नही होता।
कुछ का सहवास अच्छा रहता है, मुलाकात नही।
कुछ एक की मुलाकात भी अच्छी होती है और सहवास भी।
कुछ एक का न सहवास ही अच्छा होता है और न मुलाकात ही।

१३. कुछ व्यक्ति अपना दोष देखते हैं, दूसरो का नही।
कुछ दूसरों का दोष देखते हैं, अपना नहीं।
कुछ अपना दोष भी देखते हैं, दूसरों का भी।
कुछ न अपना दोष देखते है, न दूसरो का।

१४. कुछ व्यक्ति शरीर व धन आदि से दीन होते है। किन्तु उनका मन और संकल्प बडा उदार होता है।

१५. चउव्विहे संजमे—
मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरणसजमे।

—४।२

१६. पव्वयराइसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति।

—४।२

१७. सेलथभसमाण माण अणपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति।

—।२

१८. वंसीमूलकेतणासमाणं मायं अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उवज्जति।

—४।२

१९. किमिरागरत्तवत्थसमाणं लोभं अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ नेरइएसु उववज्जति।

—४।२

२०. इह लोगे सुचिन्ना कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति।
इह लोगे सुचिन्ना कम्मा परलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति।

—४।२।

२१. चत्तारि पुप्फा—
रूवसंपन्न णामं एगे णो गंधसंपन्ने।
गंधसंपन्ने णामं एगे नो रूवसंपन्ने।
एगे रूवसंपन्ने वि गंधसंपन्ने वि।
एगे णो रूवसंपन्ने णो गंधसंपन्ने।
एवामेव चत्तारि पुरिसजाया।

—४।३

२२. अट्ठकरे णामं एगे णो माणकरे।
माणकरे णामं एगे णो अट्ठकरे।
एगे अट्ठ करे वि माणकरे वि।
एगे णो अट्ठ करे, णो माणकरे।

—४।३

१५. संयम के चार रूप हैं—मन का संयम, वचन का संयम, शरीर का संयम और उपधि—सामग्री का संयम ।

१६. पर्वत की दरार के समान जीवन में कभी नही मिटने वाला उग्र क्रोध आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है ।

१७. पत्थर के खंभे के समान जीवन में कभी नही झुकने वाला अहंकार आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है ।

१८. वांस की जड़ के समान अतिनिविड—गांठदार दंभ आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

१९. कृमिराग अर्थात् मजीठ के रंग के समान जीवन में कभी नही छूटने वाला लोभ आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है ।

२०. इस जीवन में किए हुए सत् कर्म इस जीवन में भी सुखदायी होते है ।
इस जीवन मे किए हुए सत्कर्म अगले जीवन मे भी सुखदायी होते है ।

२१. फूल चार तरह के होते है—
सुन्दर, किन्तु गंधहीन ।
गंधयुक्त, किंतु सौन्दर्यहीन ।
सुन्दर भी, सुगंधित भी ।
न सुन्दर, न गंधयुक्त ।
फूल के समान मनुष्य भी चार तरह के होते है ।
[भौतिक संपत्ति सौन्दर्य है तो आध्यात्मिक सम्पत्ति सुगन्ध है ।]

२२. कुछ व्यक्ति सेवा आदि महत्वपूर्ण कार्य करते है, किंतु उसका अभिमान नही करते ।
कुछ अभिमान करते है, किंतु कार्य नही करते ।
कुछ कार्य भी करते है, अभिमान भी करते है ।
कुछ न कार्य करते है, न अभिमान ही करते हैं ।

२३. चत्तारि अवायणिज्जा—
अविणीए, विगइपडिबद्धे, अविओसितपाहुड़े, माई।

—४

२४. सीहत्ताते णामं एगे णिक्खंते सीहत्ताते विहरइ।
सीहत्ताते णामं एगे णिक्खंते सियालत्ताए विहरइ।
सीयालत्ताए णामं एगे णिक्खंते सीहत्ताए विहरइ।
सियालत्ताए णामं एगे णिक्खंते सियालत्ताए विहरइ।

—४

२५. सएणं लाभेणं तुस्सइ
परस्स लाभं णो आसाएइ....
दोच्चा सुहसेज्जा।

—१

२६. चत्तारि समणोवासगा—
अद्दागसमाणे, पडागसमाणे।
खाणुसमाणे, खरकंटसमाणे।

—

२७. अप्पणो णामं एगे पत्तिय करेइ, णो परस्स।
परस्स णामं एगे पत्तिय करेइ, णो अप्पणो।
एगे अप्पणो पत्तियं करेइ, परस्सवि।
एगे णो अप्पणो पत्तियं करेइ, णो परस्स।

—

२८. तमे णामं एगे जोई
जोई णामं एगे तमे।

—

२९. गज्जित्ता णामं एगे णो वासित्ता।
वासित्ता णामं एगे णो गज्जित्ता।

२३. चार व्यक्ति शास्त्राध्ययन के योग्य नही हैं—
अविनीत, चटौरा, झगड़ालू और धूर्त ।

२४. कुछ साधक सिह वृत्ति से साधना पथ पर आते है, और सिहवृत्ति से ही रहते है ।
कुछ सिंह वृत्ति से आते है किंतु वाद मे शृगाल वृत्ति अपना लेते है ।
कुछ शृगाल वृत्ति से आते है, किंतु बाद मे सिह वृत्ति अपना लेते है ।
कुछ शृगाल वृत्ति लिए आते है और शृगाल वृत्ति से ही चलते रहते है ।

२५. जो अपने प्राप्त हुए लाभ मे संतुष्ट रहता है, और दूसरो के लाभ की इच्छा नहीं रखता, वह सुखपूर्वक सोता है (यह सुख-शय्या का दूसरा पहलू है)

२६. श्रमणोपासक की चार कोटियाँ है—
दर्पण के समान—स्वच्छ हृदय ।
पताका के समान—अस्थिर हृदय ।
स्थाणु के समान—मिथ्याग्रही ।
तीक्ष्ण कंटक के समान—कटुभाषी ।

२७. कुछ मनुष्य ऐसे होते है जो सिर्फ अपना ही भला चाहते है, दूसरों का नही ।
कुछ उदार व्यक्ति अपना भला चाहे विना भी दूसरो का भला करते है ।
कुछ अपना भला भी करते है और दूसरों का भी ।
और कुछ न अपना भला करते है और न दूसरों का ।

२८. कभी-कभी अन्धकार (अज्ञानी मनुष्य मे) मे से भी ज्योति (सदाचार का प्रकाश) जल उठती है ।
और कभी कभी ज्योति पर (ज्ञानी हृदय पर) भी अन्धकार (दुराचार) हावी हो जाता है ।

२९. मेघ की तरह दानी भी चार प्रकार के होते है—
कुछ बोलते है, देते नहीं ।
कुछ देते है, किंतु कभी बोलते नही ।

एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि ।
एगे णो गज्जित्ता, णो वासित्ता ।

—४।४

३०. चउहिं ठाणेहिं संते गुणे नासेज्जा—
कोहेणं, पडिनिवेसेणं;
अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताभिणिवेसेणं ।

—४।४

३१. चत्तारि धम्मदारा—
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे ।

—४।४

३२. देवे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति ।
देवे णाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति ।
रक्खसे णाममेगे देवीए सद्धिं संवासं गच्छति ।
रक्खसे णाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति ।

—४।४

३३. चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति—
माइल्लयाए, नियडिल्लयाए ।
अलियवयणेणं, कूडतुला कूडमाणेणं ।

—४।४

३४. चउहि ठाणेहिं जीवा माणुसत्ताए कम्मं पगरेंति—
पगइ भद्दयाए, पगइ विणीययाए,
साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए ।

—४।४

३५. मधुकुंभे नामं एगे मधुपिहाणे, ।
मधुकुंभे नामं एगे विसपिहाणे ।
विसकुंभे नामं एगे मधुपिहाणे ।
विसकुंभे नामं एगे विसपिहाणे ।

—४।४

कुछ बोलते भी है, और देते भी है।
और कुछ न बोलते है, न देते है।

३०. क्रोध, ईर्ष्या-डाह, अकृतज्ञता और मिथ्या आग्रह—इन चार दुर्गुणो के कारण मनुष्य के विद्यमान गुण भी नष्ट हो जाते है।

३१. क्षमा, संतोष, सरलता और नम्रता—ये चार धर्म के द्वार है।

३२. चार प्रकार के सहवास है—
देव का देवी के साथ—शिष्ट भद्र पुरुष, सुशीला भद्र नारी।
देव का राक्षसी के साथ—शिष्ट पुरुष, कर्कशा नारी,
राक्षस का देवी के साथ—दुष्ट पुरुष, सुशीला नारी,
राक्षस का राक्षसी के साथ—दुष्ट पुरुष, कर्कशा नारी।

३३. कपट, धूर्तता, असत्य वचन और कूट तुलामान (खोटे तोल माप करना) —ये चार प्रकार के व्यवहार पशुकर्म है, इनसे आत्मा पशुयोनि (तिर्यंच-गति) मे जाता है—

३४. सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता—ये चार प्रकार के व्यवहार मानवीय कर्म है, इनसे आत्मा मानव जन्म प्राप्त करता है।

३५. चार तरह के घड़े होते है—
मधु का घड़ा, मधु का ढक्कन।
मधु का घड़ा, विष का ढक्कन।
विष का घड़ा, मधु का ढक्कन।
विष का घड़ा, विष का ढक्कन।
[मानव पक्ष में हृदय घट है और वचन ढक्कन]

३६. हिययमपावमकलुसं, जीहा वि य मधुरभासिणी णिच्चं ।
जंमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे मधुपिहाणे ॥

—४।४

३७. हिययमपावमकलुसं, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्चं ।
जंमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे विसपिहाणे ॥

—४।४

३८. जं हिययं कलुसमयं, जीहावि य मधुरभासिणी णिच्चं ।
जंमि पुरिसंमि विज्जति, से विसकुंभे महुपिहाणे ॥

—४।४

३९. जं हिययं कलुसमयं, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्चं ।
जंमि पुरिसंमि विज्जति, से विसकुंभे विसपिहाणे ॥

—४।४

४०. समुद्दं तरामीतेगे समुद्दं तरइ ।
समुद्दं तरामीतेगे गोप्पय तरइ ।
गोप्पयं तरामीतेगे समुद्दं तरइ ।
गोप्पयं तरामीतेगे गोप्पयं तरइ ।

—४।४

४१. सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था ।

—६।१

४२. इमाइं छ अवयणाइं वदित्तए—
अलियवयणे, हीलियवयणे, खिंसित वयणे,
फरुसवयणे, गारत्थियवयणे,
विउसवितं वा पुणो उदीरित्तए ।

—६।३

४३. मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू ।

—६।३

३६. जिसका अन्तर, हृदय निष्पाप और निर्मल है, साथ ही वाणी भी मधुर है, वह मनुष्य मधु के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान है ।

३७. जिसका हृदय तो निष्पाप और निर्मल है, किंतु वाणी से कटु एवं कठोर-भाषी है, वह मनुष्य मधु के घडे पर विप के ढक्कन के समान है ।

३८. जिसका हृदय कलुषित और दंभ युक्त है, किंतु वाणी से मीठा बोलता है, वह मनुष्य विष के घडे पर मधु के ढक्कन के समान है ।

३९. जिसका हृदय भी कलुषित है और वाणी से भी सदा कटु बोलता है, वह पुरुष विष के घड़े पर विष के ढक्कन के समान है ।

४०. कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं, और समुद्र तैरने जैसा ही महान् कार्य भी करते है ।
कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते है, किंतु गोष्पद (गाय के खुर जितना पानी) तैरने जैसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते है ।
कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते है । कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके गोष्पद तैरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते है ।

४१. भगवान ने सर्वत्र निष्कामता (अनिदानता) को श्रेष्ठ बताया है ।

४२. छह तरह के वचन नही बोलने चाहिएँ—
असत्य वचन, तिरस्कारयुक्त वचन, झिड़कते हुए वचन, कठोर वचन, साधारण मनुष्यो की तरह अविचारपूर्ण वचन और शान्त हुए कलह को फिर से भडकाने वाले वचन ।

४३. वाचालता सत्य वचन का विघात करती है ।

४४. इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू।

—६।३

४५. सत्ताहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणेज्जा—
अकाले न वरिसइ, काले वरिसइ,
असाधू ण पुज्जंति, साधू पुज्जंति,
गुरुहिं जणो सम्मं पडिवन्नो,
मणो सुहता, वइ सुहता।

—७

४६. एगमवि मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेजा
अत्थि तस्स आराहणा।

—८

४७. असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणयाए
अब्भुट्ठेयव्वं भवति।

—८

४८. सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए उवधारणयाए
अब्भुट्ठेयव्वं भवति।

—८

४९. असंगिहीयपरिजणस्स संगिण्हणयाए
अब्भुट्ठेयव्वं भवति।

—८

५०. गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए
अब्भुट्ठेयव्वं भवति।

—८

५१. णो पाणभोयणस्स अतिमत्तं आहारए सया भवई।

—९

५२. नो सिलोगाणुवाई,
नो सातसोक्खपडिबद्धे यावि भवइ।

—९

४४. लोभ मुक्तिमार्ग का बाधक है ।

४५. इन सात बातो से समय की श्रेष्ठता (सुकाल) प्रकट होती है—
असमय पर न वरसना, समय पर बरसना,
असाधुजनों का महत्व न बढ़ना, साधुजनो का महत्व बढना,
माता पिता आदि गुरुजनों के प्रति सद्व्यवहार होना,
मन की शुभता, और वचन की शुभता ।

४६. जो प्रमादवश हुए कपटाचरण के प्रति पश्चात्ताप (आलोचना) करके सरलहृदय हो जाता है, वह धर्म का आराधक है ।

४७. अभी तक नही सुने हुए धर्म को सुनने के लिए तत्पर रहना चाहिए ।

४८. सुने हुए धर्म को ग्रहण करने—उस पर आचरण करने को तत्पर रहना चाहिए ।

४९. जो अनाश्रित एवं असहाय है, उनको सहयोग तथा आश्रय देने मे सदा तत्पर रहना चाहिए ।

५०. रोगी की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए ।

५१. ब्रह्मचारी को कभी भी अधिक मात्रा में भोजन नही करना चाहिए ।

५२. साधक कभी भी यश, प्रशंसा और दैहिक सुखो के पीछे पागल न वने ।

५३. नवहिं ठाणेहिं रोगुप्पत्ती सिया—
अच्चासणाए,
अहियासणाए,
अइनिद्दाए,
अइजागरिएण,
उच्चारनिरोहेणं,
पासवणनिरोहेणं,
अद्धाणगमणेणं,
भोयणपडिकूलयाए,
इंदियत्थ-विकोवणयाए ।

—९

५४. ण एवं भूतं वा भव्व वा भविस्सति वा
जं जीवा अजीवा भविस्संति,
अजीवा वा जीवा भविस्संति ।

—१०

५३. रोग होने के नौ कारण हैं—
अति भोजन,
अहित भोजन,
अतिनिद्रा,
अति जागरण,
मल के वेग को रोकना,
मूत्र के वेग को रोकना,
अधिक भ्रमण करना,
प्रकृति के विरुद्ध भोजन करना,
अति विषय सेवन करना,

५४. न ऐसा कभी हुआ है, न होता है और न कभी होगा ही कि जो चेतन है, वे कभी अचेतन—जड़ हो जाएँ, और जो जड़-अचेतन है, वे चेतन हो जाएँ।

भगवती सूत्र की सूक्तियां

१. जे ते अप्पमत्तसंजया ते णं
नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव—अणारंभा ।

—१।१

२. इह भविए वि नाणे, परभविए वि नाणे,
तदुभयभविए वि नाणे ।

—१।१

३. अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ,
नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ ।

—१।३

४. अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ,
अप्पणा चेव संवरइ ।

—१।३

५. अजीवा जीवपइट्ठिया,
जीवा कम्मपइट्ठिया ।

—१।६

६. स वीरिए परायिणति, अवीरिए परायिज्जति ।

—१।८

भगवती सूत्र की सूक्तियां

१. आत्मसाधना मे अप्रमत्त रहने वाले साधक न अपनी हिंसा करते है, न दूसरो की, वे सर्वथा अनारभ—अहिंसक रहते है ।

२. ज्ञान का प्रकाश इस जन्म मे रहता है, पर जन्म मे रहता है, और कभी दोनो जन्मो मे भी रहता है ।

३. अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है, अर्थात् सत् सदा सत् ही रहता है और असत् सदा असत् ।

४. आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मो की उदीरणा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गर्हा—आलोचना करता है, और अपने द्वारा ही कर्मो का संवर—आश्रव का निरोध करता है ।

५. अजीव-जड पदार्थ जीव के आधार पर रहे हुए है, और जीव (ससारी प्राणी) कर्म के आधार पर रहे हुए है ।

६. शक्तिशाली (वीर्यवान्) जीतता है और शक्तिहीन (निर्वीर्य) पराजित हो जाता है ।

७. आया णे अज्जो ! सामाइए,
आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे ।

८ गरहा संजमे, नो अगरहा संजमे ।

९. अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ ।
अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ ।

१०. करणओ सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ दुक्खा ।

११. सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणण्हये तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥

१२. जीवा णो वड्ढंति, णो हायंति, अवट्ठिया ।

१३. नेरइयाणं णो उज्जोए, अंधयारे ।

१४. जीवे ताव नियमा जीवे,
जीवे वि नियमा जीवे ।

१५. समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलब्भइ ।

१६. दुक्खी दुक्खेणं फुडे,
नो अदुक्खी दुक्खेणं फुडे ।

७ हे आर्य ! आत्मा ही सामायिक (समत्वभाव) है, और आत्मा ही सामायिक का अर्थ (विशुद्धि) है ।
(इस प्रकार गुण गुणी मे भेद नही, अभेद है ।)

८. गर्हा (आत्मालोचन) संयम है, अगर्हा संयम नही है ।

९. अस्थिर बदलता है, स्थिर नही बदलता ।
अस्थिर टूट जाता है, स्थिर नही टूटता ।

१० कोई भी क्रिया किए जाने पर ही सुख दु ख का हेतु होती है, न किए जाने पर नही ।

११. सत्सग से धर्मश्रवण, धर्मश्रवण से तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञान से विज्ञान= विशिष्ट तत्वबोध, विज्ञान से प्रत्याख्यान – सासारिक पदार्थो से विरक्ति, प्रत्याख्यान से संयम, सयम से अनाश्रव=नवीन कर्म का अभाव, अनाश्रव से तप, तप से पूर्वबद्ध कर्मो का नाश, पूर्वबद्ध कर्मनाश से निष्कर्मता= सर्वथा कर्मरहित स्थिति और निष्कर्मता से सिद्धि—अर्थात् मुक्त-स्थिति प्राप्त होती है ।

१२. जीव न बढ़ते है, न घटते है, किन्तु सदा अवस्थित रहते है ।

१३. नारक जीवो को प्रकाश नही, अधकार ही रहता है ।

१४ जो जीव है वह निश्चित रूप से चैतन्य है,
और जो चैतन्य है वह निश्चित रूप से जीव है ।

१५ समाधि (सुख) देने वाला समाधि पाता है ।

१६. जो दु.खित=कर्मबद्ध है, वही दुःख=बन्धन को पाता है,
जो दु.खित=बद्ध नही है, वह दुःख=बन्धन को नही पाता ।

१७. अहासुत्तं रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ।
उस्सुत्त रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ।

—७।

१८. जीवा सिय सासया, सिय असासया।
....दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया।

—७।

१९. भोगी भोगे परिच्चयमाणे महाणिज्जरे
महापज्जवसाणे भवइ।

—७

२०. हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे।

—७

२१. जीवियास-मरण-भयविप्पमुक्का।

—८

२२. एगं अन्नयरं तसं पाणं हणमाणे
अणेगे जीवे हणइ।

—९।

२३. एगं इसिं हणमाणे अणंते जीवे हणइ।

—९।

२४. अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू,
अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू।

—१२

२५. अत्थेगइयाणं जीवाणं बलियत्तं साहू,
अत्थेगइयाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू।

—१२

२६. नत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे,
जत्थ णं अय जीवे न जाए वा, न मए वा वि।

—१२।

७. सिद्धान्तानुकूल प्रवृत्ति करने वाला साधक ऐर्यापथिक (अल्पकालिक) क्रिया का बंध करता है। सिद्धान्त के प्रतिकूल प्रवृत्ति करने वाला सांपरायिक (चिरकालिक) क्रिया का बंध करता है।

८. जीव शाश्वत भी है, अशाश्वत भी।
द्रव्यदृष्टि (मूल स्वरूप) से शाश्वत है, तथा भावदृष्टि (मनुष्यादि पर्याय) से अशाश्वत।

९. भोग-समर्थ होते हुए भी जो भोगो का परित्याग करता है वह कर्मो की महान् निर्जरा करता है, उसे मुक्तिरूप महाफल प्राप्त होता है।

० आत्मा की दृष्टि से हाथी और कुंथुआ—दोनो मे आत्मा एक समान है।

१. सच्चे साधक जीवन की आशा और मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त होते है।

२. एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ आत्मा तत्संबधित अनेक जीवो की हिंसा करता है।

३. एक अहिंसक ऋषि का हत्या करने वाला एक प्रकार से अनंत जीवो की हिंसा करने वाला होता है।

४. अधार्मिक आत्माओं का सोते रहना अच्छा है और धर्मनिष्ठ आत्माओं का जागते रहना।

५ धर्मनिष्ठ आत्माओ का बलवान होना अच्छा है और धर्महीन आत्माओ का दुर्बल रहना।

६. इस विराट् विश्व मे परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नही है, जहाँ यह जीव न जन्मा हो, न मरा हो।

२७. मायी विउव्वइ, नो अमायी विउव्वइ ।

—१३।६

२८. जीवाणं चेयकडा कम्मा कज्जंति,
नो अचेयकडा कम्मा कज्जंति ।

—१६।२

२९. नेरइया सुत्ता, नो जागरा ।

—१६।६

३०. अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे ।

—१७।५

३१. जं मे तव-नियम-संजम-सज्झाय-झाणा—
ऽवस्सयमादीएसु जोगेसु जयणा, से त्तं जत्ता ।

—१८।१०

२७. जिसके अन्तर में माया का अंश है, वही विकुर्वणा (नाना रूपों का प्रदर्शन) करता है। अमायी—(सरल आत्मा वाला) नहीं करता।

२८. आत्माओं के कर्म चेतनाकृत होते है, अचेतना कृत नही।

२९. आत्मजागरण की दृष्टि से नारक जीव सुप्त रहते है, जागते नही।

३०. आत्मा का दुःख स्वकृत है, अपना किया हुआ है, परकृत अर्थात् किसी अन्य का किया हुआ नही है।

३१. तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक आदि योगो मे जो यतना-विवेक युक्त प्रवृत्ति है, वही मेरी वास्तविक यात्रा है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र की सूक्तियां

●

१. अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणन्ति । —१।१

२. कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति । —१।१

३. न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो । —१।

४. पाणवहो चंडो, रुद्दो, खुद्दो, अणारियो, निग्घिणो, निसंसो, महब्भयो.... । —१।

५. अलियवयणं....
अयसकरं, वेरकरगं,....मणसकिलेसवियरण । —१।

६. सरीरं सादियं सनिधणं । —१

७. असंतगुणुदीरका य संतगुणनासका य । —१।२

प्रश्नव्याकरण सूत्र की सूक्तियां

●

१. कुछ लोग प्रयोजन से हिसा करते है, और कुछ लोग बिना प्रयोजन भी हिसा करते है ।

२. कुछ लोग क्रोध से हिसा करते है, कुछ लोग लोभ से हिसा करते है, और कुछ लोग अज्ञान से हिसा करते है ।

३. हिसा के कटुफल को भोगे बिना छुटकारा नही है ।

४. प्राणवध (हिसा) चण्ड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणारहित है, क्रूर है, और महाभयंकर है ।

५. असत्य वचन बोलने से वदनामी होती है, परस्पर वैर वढ़ता है, और मन मे संक्लेश की वृद्धि होती है ।

६. शरीर का आदि भी है, और अन्त भी है ।

७ असत्यभाषी लोग गुणहीन के लिए गुणो का वखान करते है, और गुणी के वास्तविक गुणों का अपलाप करते है ।

८. अदत्तादाण....अकित्तिकरणं, अणज्जं...सया साहुगरहणिज्जं।
—११३

९. उवणमंति मरणधम्मं अवित्तात्ता कामाणं।
—११४

१०. इहलोए ताव नट्ठा, परलोए वि य नट्ठा।
—११४

११. लोभ-कलि-कसाय-महक्खंधो,
चिंतासयनिचियविपुलसालो।
—११५

१२. देवा वि सइंदगा न तित्तिं न तुट्ठिं उवलभंति।
—११५

१३. नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि
सव्वजीवाणं सव्वलोए।
—११५

१४. अहिंसा तस-थावर-सव्वभूयखेमंकरी।
—२११

१५. सव्वपाणा न हीलियव्वा, न निंदियव्वा।
—२११

१६. न कया वि मणेण पावएणं पावगं किंचिवि झायव्वं।
वईए पावियाए पावगं न किंचिवि भासियव्वं।
—२११

१७. भगवती अहिंसा....भीयाणं विव सरणं।
—२११

१८. सच्चं....पभासकं भवति सव्वभावाणं।
—२१२

१९. तं सच्चं भगवं।
—२१२

८. अदत्तादान (चोरी) अपयश करने वाला अनार्य कर्म है। यह सभी भले आदमियों द्वारा सदैव निंदनीय है।

९. अच्छे से अच्छे सुखोपभोग करने वाले देवता और चक्रवर्ती आदि भी अन्त मे काम भोगो से अतृप्त ही मृत्यु को प्राप्त होते है।

१० विषयासक्त इस लोक में भी नष्ट होते है और पर लोक में भी।

११. परिग्रह रूप वृक्ष के स्कन्ध अर्थात् तने है—लोभ, क्लेश और कषाय। चिंता रूपी सैंकड़ों ही सघन और विस्तीर्ण उसकी शाखाएँ है।

१२. देवता और इन्द्र भी न (भोगो से) कभी तृप्त होते है और न सन्तुष्ट।

१३. समूचे संसार मे परिग्रह के समान प्राणियो के लिए दूसरा कोई जाल एवं बन्धन नही है।

१४. अहिंसा, त्रस और स्थावर (चर-अचर) सब प्राणियों का कुशल क्षेम करने वाली है।

१५. विश्व के किसी भी प्राणी की न अवहेलना करनी चाहिए, और न निन्दा।

१६. मन से कभी भी बुरा नही सोचना चाहिए।
वचन से कभी भी बुरा नही बोलना चाहिए।

१७. जैसे भयाक्रान्त के लिए शरण की प्राप्ति हितकर है, प्राणियों के लिए वैसे ही, अपितु इस से भी विशिष्टतर भगवती अहिंसा हितकर है।

१८. सत्य—समस्त भावो-विषयों का प्रकाश करने वाला है।

१९. सत्य ही भगवान् है।

२०. सच्चं....लोगम्मि सारभूयं,
....गंभीरतरं महासमुद्दाओ ।

—२।२

२१. सच्चं....सोमतरं चंदमंडलाओ,
दित्ततरं सूरमंडलाओ ।

—२।२

२२. सच्चं च हियं च मियं च गाहणं च ।

—२।२

२३. सच्चं पि य संजमस्स उवरोहकारकं किंचि वि न वत्तव्वं ।

—२।२

२४. अप्पणो थवणा, परेसु निंदा ।

—२।२

२५. कुद्धो....सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज ।

—२।२

२६. लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं ।

—२।२

२७. ण भाइयव्वं, भीतं खु भया अइंति लहुयं ।

—२।२

२८. भीतो अवितिज्जओ मणुस्सो ।

—२।२

२९. भीतो भूतेहिं घिप्पइ ।

—२।२

३०. भीतो अन्नं पि हु भेसेज्जा ।

—२।२

३१. भीतो तवसजमं पि हु मुएज्जा ।
भीतो य भरं न नित्थरेज्जा ।

—२।२

२०. संसार में 'सत्य' ही सारभूत है।
सत्य महासमुद्र से भी अधिक गंभीर है।

२१. सत्य, चंद्र मडल से भी अधिक सौम्य है ।
सूर्यमण्डल से भी अधिक तेजस्वी है।

२२. ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए जो हित, मित और ग्राह्य हो।

२३. सत्य भी यदि संयम का घातक हो तो, नही बोलना चाहिए।

२४. अपनी प्रशंसा और दूसरो की निन्दा भी असत्य के ही समकक्ष है।

२५. क्रोध मे अंधा हुआ व्यक्ति सत्य, शील और विनय का नाश कर डालता है।

२६. मनुष्य लोभग्रस्त होकर झूठ बोलता है।

२७. भय से डरना नही चाहिए। भयभीत मनुष्य के पास भय शीघ्र आते है।

२८. भयभीत मनुष्य किसी का सहायक नही हो सकता।

२९. भयाकुल व्यक्ति ही भूतों का शिकार होता है।

३०. स्वयं डरा हुआ व्यक्ति दूसरों को भी डरा देता है।

३१. भयभीत व्यक्ति तप और संयम की साधना छोड़ बैठता है।
भयभीत किसी भी गुरुतर दायित्व को नही निभा सकता है।

३२. न भाइयव्वं भयस्स वा, वाहिस्स वा,
रोगस्स वा, जराएवा, मच्चुस्स वा।

—२।२

३३. असंविभागी, असंगहरुई....अप्पमाणभोई....
से तारिसए नाराहए वयमिणं।

—२।३

३४. सविभागसीले संगहोवग्गहकुसले,
से तारिसए आराहए वयमिणं।

—२।३

३५. अणुन्नविय गेण्हियव्वं।

—२।३

३६. अपरिग्गहसंवुडेणं लोगंमि विहरियव्वं।

—२।३

३७. एगे चरेज्ज धम्मं।

—२।३

३८. विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो।

—२।३

३९. बंभचेरं उत्तमतव-नियम-णाण-दंसण-
चरित्त-सम्मत्त-विणयमूलं।

—२।४

४०. जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं भग्गं....
जमि य आराहियंमि आराहिय वयमिणं सव्वं....।

—२।४

४१. अणेगा गुणा अहीणा भवंति एक्कंमि बंभचेरे।

—२।४

३२. आकस्मिक भय से, व्याधि (मन्दघातक कुष्ठादि रोग) से, रोग(शीघ्र-घातक हैजा आदि) से, बुढापे से. और तो क्या, मृत्यु से भी कभी डरना नही चाहिए ।

३३. जो असविभागी है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह वितरण नही करता है, असंग्रहरुचि है—साथियो के लिए समय पर उचित सामग्री का सग्रह कर रखने में रुचि नही रखता है, अप्रमाण भोजी है—मर्यादा से अधिक भोजन करने वाला पेटू हैं, वह अस्तेयव्रत की सम्यक् आराधना नही कर सकता ।

३४. जो संविभागशील है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह वितरण करता है, सग्रह और उपग्रह मे कुशल है—साथियो के लिए यथावसर भोजनादि सामग्री जुटाने मे दक्ष है, वही अस्तेयव्रत की सम्यक् आराधना कर सकता है ।

३५. दूसरे की कोई भी चीज हो, आज्ञा लेकर ग्रहण करनी चाहिए ।

३६. अपने को अपरिग्रह भावना से संवृत कर लोक मे विचरण करना चाहिए ।

३७. भले ही कोई साथ न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचरण करना चाहिए ।

३८. विनय स्वयं एक तप है, और वह आभ्यंतर तप होने से श्रेष्ठ धर्म है ।

३९. ब्रह्मचर्य—उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है ।

४०. एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सहसा अन्य सब गुण नष्ट हो जाते है । एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर अन्य सब शील, तप, विनय आदि व्रत आराधित हो जाते है ।

४१. एक ब्रह्मचर्य की साधना करने से अनेक गुण स्वयं प्राप्त (अधीन) हो जाते हैं ।

४२. दाणाणं चेव अभयदाणं ।

—२।४

४३. स एव भिक्खू, जो सुद्धं चरति बंभचेरं ।

—२।४

४४. तहा भोत्तव्वं जहा से जाया माता य भवति,
न य भवति विब्भमो, न भंसणा य धम्मस्स ।

—२।४

४५. समे य जे सव्वपाणभूतेसु, से हु समणे ।

—२।५

४६. पोक्खरपत्तं व निरुवलेवे....
आगासं चेव निरवलंबे.... ।

—२।५

४२. सब दानो मे 'अभयदान' श्रेष्ठ है ।

४३. जो शुद्ध भाव से ब्रह्मचर्य पालन करता है, वस्तुतः वही भिक्षु है ।

४४. ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिए, जो जीवनयात्रा एवं संयमयात्रा के लिये उपयोगी हो सके, और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो, और न धर्म की भ्रंसना ।

४५. जो समस्त प्राणियो के प्रति समभाव रखता है, वस्तुतः वही श्रमण है ।

४६. साधक को कमलपत्र के समान निर्लेप और आकाश के समान निरवलम्ब होना चाहिये ।

दशवैकालिक की सूक्तियां

१. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ —१।१

२. विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया । —१।३

३. वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ । —१।४

४. महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया । —१।५

५. कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए । —२।१

६. अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ । —२।२

७. जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥ —२।३

दशवैकालिक की सूक्तियां

●

१. धर्म श्रेष्ठ मंगल है। अहिंसा, संयम और तप—धर्म के तीन रूप हैं। जिसका मन—(विश्वास) धर्म में स्थिर है, उसे देवता भी नमस्कार करते है।

२. श्रमण—भिक्षु गृहस्थ से उसी प्रकार दानस्वरूप भिक्षा आदि ले, जिस प्रकार कि भ्रमर पुष्पो से रस लेता है।

३. हम जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की इस प्रकार पूर्ति करे कि किसी को कुछ कष्ट न हो।

४. आत्मद्रष्टा साधक मधुकर के समान होते है, वे कही किसी एक व्यक्ति या वस्तु पर प्रतिवद्ध नही होते। जहाँ रस (गुण) मिलता है, वहीं से ग्रहण कर लेते है।

५. वह साधना कैसे कर पाएगा, जो कि अपनी कामनाओं—इच्छाओं को रोक नही पाता ?

६. जो पराधीनता के कारण विषयो का उपभोग नही कर पाते, उन्हे त्यागी नही कहा जा सकता।

७. जो मनोहर और प्रिय भोगो के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हे पीठ दिखा देता है—त्याग देता है, वस्तुतः वही त्यागी है।

८ कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।

—२।५

९. वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ।

—२।७

१०. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बन्धइ ॥

—४।८

११. पढमं नाणं तओ दया ।

—४।१०

१२. अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेयपावगं ?

—४।१०

१३. जं सेयं तं समायरे ।

—४।११

१४ जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाही संवरं ?

—४।१२

१५. दवदवस्स न गच्छेज्जा ।

—५।१।१४

१६. हसंतो नाभिगच्छेज्जा ।

—५।१।१४

१७. संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ।

—५।१।१६

१८. असंसत्तं पलोइज्जा ।

—५।१।२३

१९. उप्फुल्लं न विणिज्झाए ।

—५।१।२३

८. कामनाओ को दूर करना ही दुःखों को दूर करना है।

९. वमन किए हुए (त्यक्त विषयों) को फिर से पीना (पाना) चाहते हो ? इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है।

०. चलना, खड़ा होना, बैठना, सोना, भोजन करना और बोलना आदि प्रवृत्तियाँ यतनापूर्वक करते हुए साधक को पाप कर्म का बन्ध नही होता।

१. पहले ज्ञान होना चाहिए और फिर तदनुसार दया—अर्थात् आचरण।

२. अज्ञानी आत्मा क्या करेगा ? वह पुण्य और पाप को कैसे जान पायेगा ?

३. जो श्रेय (हितकर) हो, उसी का आचरण करना चाहिए।

४. जो न जीव (चैतन्य) को जानता है, और न अजीव (जड़) को, वह संयम को कैसे जान पाएगा ?

५. मार्ग मे जल्दी जल्दी—ताबड़ तोबड़ नहीं चलना चाहिए।

६. मार्ग मे हंसते हुए नही चलना चाहिए।

७. जहाँ भी कही क्लेश की संभावना हो, उस स्थान से दूर रहना चाहिए।

८. किसी भी वस्तु को ललचाई आँखों से (आसक्ति पूर्वक) न देखे।

९. आंखे फाड़ते हुए, (घूरते हुए) नही देखना चाहिए।

२०. निअट्टिज्ज अयंपिरो।

—५।१।२३

२१. अकप्पियं न गिण्हिज्जा।

—५।१।२७

२२. छंदं से पडिलेहए।

—५।१।३७

२३. महुघयं व भुंजिज्ज संजए।

—५।१।९७

२४. उप्पण्णं नाइहीलिज्जा।

—५।१।९९

२५. मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुग्गइं।

—५।१।१००

२६. काले कालं समायरे।

—५।२।

२७. अलाभोत्ति न सोइज्जा, तवोत्ति अहियासए।

—५।२।

२८. अदीणो वित्तिमेसेज्जा, न विसीएज्ज पंडिए।

—५।२।

२९. पूयणट्ठा जसोकामी, माणसंमाणकामए।
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ।

—५।२।

३०. अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं वि वज्जए।

—५।२।

३१. अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो।

—

२०. किसी के यहाँ अपना अभीष्ट काम न बन पाए तो बिना कुछ बोले (झगड़ा किए) शांत भाव से लौट आना चाहिए।

२१. अयोग्य वस्तु, कैसी भी क्यों न हो, स्वीकार नहीं करना चाहिए।

२२. व्यक्ति के अन्तर्मन को परखना चाहिए।

२३. सरस या नीरस—जैसा भी आहार मिले, साधक उसे 'मधु-घृत' की तरह प्रसन्नतापूर्वक खाए।

२४. समय पर प्राप्त उचित वस्तु की अवहेलना न कीजिए।

२५. मुधादायी—निष्कामभाव से दान देने वाला, और मुधाजीवी—निस्पृह होकर साधनामय जीवन जीने वाला—दोनों ही सद्गति प्राप्त करते है।

२६. जिस काल (समय) में जो कार्य करने का हो, उस काल मे वही कार्य करना चाहिए।

२७. भिक्षु को यदि कभी मर्यादानुकूल शुद्ध भिक्षा न मिले, तो खेद न करे, अपितु यह मानकर अलाभ परीषह को सहन करे कि अच्छा हुआ, आज सहज ही तप का अवसर मिल गया।

२८. आत्मविद् साधक अदीन भाव से जीवन यात्रा करता रहे। किसी भी स्थिति मे मन मे खिन्नता न आने दे।

२९. जो साधक पूजा प्रतिष्ठा के फेर मे पड़ा है, यश का भूखा है, मान सम्मान के पीछे दौड़ता है—वह उनके लिए अनेक प्रकार के दभ रचता हुआ अत्यधिक पाप कर्म करता है।

३०. आत्मविद् साधक अणुमात्र भी माया मृपा (दंभ और असत्य) का सेवन न करे।

३१. सब प्राणियो के प्रति स्वयं को संयत रखना—यही अहिसा का पूर्ण दर्शन है।

३२. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।

—६।११

३३. मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ।

—६।१३

३४. जे सिया सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से।

—६।१९

३५. मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।

—६।२१

३६. अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयं।

—६।२२

३७. कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए।

—६।५९

३८. जमट्ठंतु न जाणेज्जा, एवमेयंति नो वए।

—७।८

३९. जत्थ संका भवे तं तु, एवमेयंति नो वए।

—७।९

४०. सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो।

—७।११

४१. न लवे असाहुं साहु त्ति, साहुं साहु त्ति आलवे।

—७।४८

४२. न हासमाणो वि गिरं वएज्जा।

—७।५४

४३. मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पससणं।

—७।५५

४४. वइज्ज वुद्धे हियमाणुलोमियं।

—७।५६

३२. समस्त प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते है। मरना कोई नही चाहता।

३३. विश्व के सभी सत्पुरुषो ने मृषावाद (असत्य) की निदा की है।

३४. जो सदा संग्रह की भावना रखता है, वह साधु नही, (साधुवेष में) गृहस्थ ही है।

३५. मूर्च्छा को ही वस्तुतः परिग्रह कहा है।

३६. अकिचन मुनि, और तो क्या, अपने देह पर भी ममत्त्व नही रखते।

३७. कुशील (अनाचार) बढ़ाने वाले प्रसंगो से साधक को हमेशा दूर रहना चाहिए।

३८. जिस बात को स्वयं न जानता हो, उसके सम्बन्ध मे "यह ऐसा ही है"—इस प्रकार निश्चित भाषा न बोले।

३९. जिस विषय मे अपने को कुछ भी शंका जैसा लगता हो, उसके सम्बन्ध मे "यह ऐसा ही है"—इस प्रकार निश्चित भाषा न बोले।

४०. वह सत्य भी नही बोलना चाहिए, जिससे किसी प्रकार का पापागम (अनिष्ट) होता हो।

४१. किसी प्रकार के दबाव या खुशामद से असाधु (अयोग्य) को साधु (योग्य) नही कहना चाहिए। साधु को ही साधु कहना चाहिए।

४२. हँसते हुए नही बोलना चाहिए।

४३. जो विचारपूर्वक सुन्दर और परिमित शब्द बोलता है, वह सज्जनो मे प्रशंसा पाता है।

४४. बुद्धिमान ऐसी भाषा बोले—जो हितकारी हो एवं अनुलोम—सभी को प्रिय हो।

४५. अप्पमत्तो जये निच्चं ।

—८।१६

४६. वहुं सुरोहि कन्नेहिं, वहुं अच्छीहिं पिच्छइ ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥

—८।२०

४७. कन्नसोक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए ।

—८।२६

४८. देहदुक्खं महाफलं ।

—८।२७

४९ थोवं लद्धुं न खिसए ।

—८।२९

५०. न बाहिरं परिभवे, अत्तारां न समुक्कसे ।

—८।३०

५१. बीयं तं न समायरे ।

—८।३१

५२. बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पारां निजुंजए ।

—८।३५

५३ जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

—८।३६

५४. कोहं मारां च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥

—८।३७

५५. कोहो पीइं पणासेइ, मारो विरायनासरो ।
माया मित्तारिण नासेइ, लोभो सव्व विणासरो

—८।३८

४५. सदा अप्रमत्त भाव से साधना में यत्नशील रहना चाहिए।

४६. भिक्षु (मुनि, कानो से बहुत सी बाते सुनता है, आँखो से बहुत सी बाते देखता है, किंतु देखी सुनी सभी बातें (लोगो मे) कहना उचित नही है।

४७. केवल कर्णप्रिय तथ्यहीन शब्दों में अनुरक्ति नही रखनी चाहिए।

४८. शारीरिक कष्टों को समभावपूर्वक सहने से महाफल की प्राप्ति होती है।

४९. मनचाहा लाभ न होने पर झुंझलाएँ नही।

५०. बुद्धिमान् दूसरों का तिरस्कार न करे और अपनी बड़ाई न करे।

५१. एक बार भूल होनेपर दुबारा उसकी आवृत्ति न करे।

५२. अपना मनोबल, शारीरिक शक्ति, श्रद्धा, स्वास्थ्य,क्षेत्र और काल को ठीक तरह से परखकर ही अपने को किसी भी सत्कार्य के सम्पादन में नियोजित करना चाहिए।

५३. जब तक बुढापा आता नही है, जब तक व्याधियों का जोर बढ़ता नही है, जब तक इन्द्रियां (कर्मशक्ति) क्षीण नही होती है, तभी तक बुद्धिमान को, जो भी धर्माचरण करना हो, कर लेना चाहिए।

५४. क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारो पाप की वृद्धि करने वाले है, अतः आत्मा का हित चाहने वाला साधक इन दोपो का परित्याग कर दे।

५५ क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मैत्री का और लोभ सभी सद्गुणो का विनाश कर डालता है।

५६. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥

—८।३९

५७. रायणिएसु विणयं पउंजे ।

—८।४१

५८. सप्पहासं विवज्जए ।

—८।४२

५९. अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अन्तरा ।

—८।४७

६०. पिट्ठिमंसं न खाइज्जा ।

—८।४७

६१. दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअंजियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥

—८।४९

६२. कुज्जा साहूहिं संथवं ।

—८।५३

६३. न या वि मोक्खो गुरुहीलणाए ।

—९।१।७

६४. जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे,
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।

—९।१।१२

६५. एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो यसे मोक्खो ।

—९।२।२

६६. जे य चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे ।
वुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा ॥

—९।२।३

५६. क्रोध को शान्ति से, मान को मृदुता-नम्रता से, माया को ऋजुता—सरलता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिए।

५७. बड़ो (रत्नाधिक) के साथ विनयपूर्ण व्यवहार करो।

५८. अट्टहास नही करना चाहिए।

५९. बिना पूछे व्यर्थ ही किसी के बीच मे नही बोलना चाहिए।

६०. किसी की चुगली खाना—पीठ का मास नोचने के समान है, अतः किसी की पीठ पीछे चुगली नही खाना चाहिए।

६१. आत्मवान् साधक दृष्ट (अनुभूत), परिमित, सन्देहरहित, परिपूर्ण (अधूरी कटी-छटी बात नही) और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे। किंतु, यह ध्यान मे रहे कि वह वाणी भी वाचालता से रहित तथा दूसरो को उद्विग्न करने वाली न हो।

६२. हमेशा साधुजनो के साथ ही संस्तव—संपर्क रखना चाहिए।

६३. गुरुजनो की अवहेलना करने वाला कभी बंधनमुक्त नही हो सकता।

६४. जिन के पास धर्मपद—धर्म की शिक्षा ले, उनके प्रति सदा विनयभाव रखना चाहिए।

६५. धर्म का मूल विनय है, और मोक्ष उसका अन्तिम फल है।

६६. जो मनुष्य क्रोधी, अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है, वह ससारके प्रवाहमे वैसे ही बह जाता है, जैसे जल के प्रवाह मे काष्ठ।

६७. जे आयरिय-उवज्झायाणं, सुस्सूसा वयणं करे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा।

—६।२।१२

६८. विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य।

—६।२।२२

६९ असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।

—६।२।२३

७०. जो छंदमाराहयई स पुज्जो।

—६।३।१

७१. अलद्धुयं नो परिदेवइज्जा,
लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो।

—६।३।४

७२. वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि।

—६।३।७

७३. गुणेहि साहू, अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाहि साहू गुण मुञ्चऽसाहू।

—६।३।११

७४. वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो।

—६।३।११

७५. वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू।

—१०।१

७६. सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे।

—१०।७

७७. न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा।

—१०।१०

६७. जो अपने आचार्य एवं उपाध्यायों की शुश्रूषा-सेवा तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करता है, उसकी शिक्षाएँ (विद्याएँ) वैसे ही बढ़ती है जैसे कि जल से सींचे जाने पर वृक्ष।

६८. अविनीत विपत्ति (दु:ख) का भागी होता है और विनीत संपत्ति (सुख) का।

६९. जो संविभागी नही है, अर्थात् प्राप्त सामग्री को साथियो मे बाटता नही है, उसकी मुक्ति नही होती।

७०. जो गुरुजनों की भावनाओं का आदर करता है, वही शिष्य पूज्य होता है।

७१. जो लाभ न होने पर खिन्न नही होता है, और लाभ होने पर अपनी बड़ाई नही हाकता है, वही पूज्य है।

७२. वाणी से बोले हुए दुष्ट और कठोर वचन जन्म जन्मान्तर के वैर और भय के कारण बन जाते है।

७३. सद्‌गुण से साधु कहलाता है, दुर्गुण से असाधु। अतएव दुर्गुणो का त्याग करके सद्‌गुणो को ग्रहण करो।

७४. जो अपने को अपने से जानकर रागद्वेष के प्रसगो मे सम रहता है, वही साधक पूज्य है।

७५. जो वान्त—त्याग की हुई वस्तु को पुनः सेवन नही करता, वही सच्चा भिक्षु है।

७६. जिसकी दृष्टि सम्यग् है, वह कभी कर्तव्य-विमूढ़ नही होता।

७७. विग्रह बढाने वाली बात नही करनी चाहिए।

७८. उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ।

—१०।१०

७९. पुढविसमो मुणी हवेज्जा ।

—१०।१३

८०. संभिन्नवत्तस्स य हिट्ठिमा गई ।

—चू० १।१३

८१. बोही य से नो सुलहा पुणो पुणो ।

—चू० १।१

८२. चइज्ज देहं, न हु धम्मसासणं ।

—चू० १।१

८३. अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ।

—चू० २।

८४. जो पुव्वरत्तावररत्तकाले,
संपेहए अप्पगमप्पएणं ।
किं मे कडं किंच मे किच्चसेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥

—चू० २।१

८५. अप्पा हु खलु सययं रक्खिअव्वो ।

—चू० २।१

७८. जो शान्त है, और अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक (अनुपेक्षी) है, वही श्रेष्ठ भिक्षु है।

७९. मुनि को पृथ्वी के समान क्षमाशील होना चाहिए।

८०. व्रत से भ्रष्ट होने वाले की अधोगति होती है।

८१. सद्‌बोध प्राप्त करने का अवसर बार-बार मिलना सुलभ नही है।

८२. देह को (आवश्यक होने पर) भले छोड़ दो, किन्तु अपने धर्म-शासन को मत छोड़ो।

८३. अनुस्रोत—अर्थात् विषयासक्त रहना, संसार है। प्रतिस्रोत—अर्थात् विषयों से विरक्त रहना, संसार सागर से पार होना है।

८४. जागृत साधक प्रतिदिन रात्रि के प्रारम्भ मे और अन्त मे सम्यक् प्रकार से आत्मनिरीक्षण करता है कि मैंने क्या (सत्कर्म) किया है, क्या नहीं किया है? और वह कौन सा कार्य बाकी है, जिसे मैं कर सकने पर भी नही कर रहा हूँ?

८५. अपनी आत्मा को सतत पापों से बचाये रखना चाहिए।

उत्तराध्ययन की सूक्तियां

●

१. आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥

२. जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥

३. कणकुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥

४. विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ।

५. अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ।

६. अणुसासिओ न कुप्पिज्जा ।

७. खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ।

उत्तराध्ययन को सूक्तियां

१. जो गुरुजनो की आज्ञाओं का यथोचित पालन करता है, उनके निकट संपर्क में रहता है, एव उनके हर संकेत व चेष्टा के प्रति सजग रहता है—उसे विनीत कहा जाता है।

२. जिस प्रकार सड़े हुए कानों वाली कुतिया जहाँ भी जाती है, निकाल दी जाती है ; उसी प्रकार दु:शील, उद्दंड और मुखर=वाचाल मनुष्य भी सर्वत्र धक्के देकर निकाल दिया जाता है।

३ जिस प्रकार चावलो का स्वादिष्ट भोजन छोड़कर शूकर विष्ठा खाता है, उसी प्रकार पशुवत् जीवन बिताने वाला अज्ञानी, शील=सदाचार को छोड़कर दु:शील=दुराचार को पसन्द करता है।

४. आत्मा का हित चाहने वाला साधक स्वयं को विनय=सदाचार में स्थिर करे।

५. अर्थयुक्त (सारभूत) बाते ही ग्रहण कीजिये, निरर्थक बाते छोड़ दीजिये।

६. गुरुजनो के अनुशासन से कुपित=क्षुब्ध नही होना चाहिए।

७. क्षुद्र लोगों के साथ संपर्क, हंसी मजाक, क्रीड़ा आदि नही करना चाहिए।

८. बहुयं मा य आलवे।

—१।१०

९. आहच्च चंडालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि।

—१।११

१०. कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य।

—१।१

११. मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।

—१।१

१२. नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।

—१।१

१३. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य॥

—१।१

१४. वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य॥

—१।१

१५. हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो।

—१।२

१६. कालो कालं समायरे।

—१।३

१७. रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।

—१।३

१८. वालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए।

—१।३

१९. अप्पाणं पि न कोवए।

—१।४

८. बहुत नहीं बोलना चाहिए।

९. यदि साधक कभी कोई चाण्डालिक=दुष्कर्म करले, तो फिर उसे छिपाने की चेष्टा न करे।

०. बिना किसी छिपाव या दुराव के किये हुए कर्म को किया हुआ कहिए, तथा नहीं किये हुए कर्म को न किया हुआ कहिए।

१. बार-बार चाबुक की मार खाने वाले गलिताश्व (अड़ियल या दुर्बल घोडे) की तरह कर्त्तव्य पालन के लिये बार बार गुरुओं के निर्देश की अपेक्षा मत रखो।

२. बिना बुलाए बीच में कुछ नहीं बोलना चाहिए, बुलाने पर भी असत्य जैसा कुछ न कहे।

३. अपने आप पर नियंत्रण रखना चाहिए। अपने आप पर नियंत्रण रखना वस्तुतः कठिन है। अपने पर नियंत्रण रखने वाला ही इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है।

४. दूसरे वध और बंधन आदि से दमन करें, इससे तो अच्छा है कि मै स्वयं ही सयम और तप के द्वारा अपना (इच्छाओ का) दमन कर लू।

५. प्रज्ञावान् शिष्य गुरुजनों की जिन शिक्षाओ को हितकर मानता है, दुर्बुद्धि दुष्ट शिष्य को वे ही शिक्षाएँ बुरी लगती है।

६. समय पर, समय का उपयोग (समयोचित कर्त्तव्य) करना चाहिए।

७. विनीत बुद्धिमान शिष्यो को शिक्षा देता हुआ ज्ञानी गुरु उसी प्रकार प्रसन्न होता है जिस प्रकार भद्र अश्व (अच्छे घोड़े) पर सवारी करता हुआ घुड़सवार।

८. बाल अर्थात् जड़मूढ शिष्यो को शिक्षा देता हुआ गुरु उसी प्रकार खिन्न होता है, जैसे अड़ियल या मरियल घोड़े पर चढ़ा हुआ सवार।

९. अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो।

२०. न सिया तोत्तगवेसए।

—१।

२१. नच्चा नमइ मेहावी।

—१।

२२. माइन्ने असणपाणस्स।

—२

२३. अदीणमणसो चरे।

—

२४. न य वित्तासए परं।

—२।

२५. संकाभीओ न गच्छेज्जा।

—२।

२६. सरिसो होइ बालाणं।

—२।

२७. नत्थि जीवस्स नासो त्ति।

—२

२८. अज्जेवाहं न लब्भामो, अवि लाभो सुए सिया।
जो एव पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए।

—२

२९. चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

—

३०. जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं।

—

३१. सद्धा परमदुल्लहा।

—

२०. दूसरों के छलछिद्र नहीं देखना चाहिए।

२१. बुद्धिमान् ज्ञान प्राप्त कर के नम्र हो जाता है।

२२. साधक को खाने पीने की मात्रा=मर्यादा का ज्ञाता होना चाहिए।

२३. संसार में अदीनभाव से रहना चाहिए।

२४. किसी भी जीव को त्रास=कष्ट नही देना चाहिए।

२५. जीवन में शंकाओं से ग्रस्त—भीत होकर मत चलो।

२६. बुरे के साथ बुरा होना, बचकानापन है।

२७. आत्मा का कभी नाश नही होता।

२८. "आज नही मिला है तो क्या है, कल मिल जायगा"—जो यह विचार कर लेता है, वह कभी अलाभ के कारण पीडित नही होता।

२९. इस संसार मे प्राणियो को चार परम अंग (उत्तम संयोग) अत्यन्त दुर्लभ हैं—(१) मनुष्य जन्म (२) धर्म का सुनना (३) सम्यक् श्रद्धा (४) और संयम में पुरुषार्थ।

३०. संसार मे आत्माएं क्रमशः शुद्ध होते-होते मनुष्यभव को प्राप्त करती है।

३१. धर्म मे श्रद्धा होना परम दुर्लभ है।

३२. सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

—३।१२

३३. असंखयं जीविय मा पमायए,

—४।१

३४. वेराणुबद्धा नरयं उवेंति।

—४।२

३५. कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

—४।३

३६. सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।

—४।३

३७. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।

—४।५

३८. घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते।

—४।६

३९. सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी।

—४।६

४०. छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं।

—४।८

४१. कंखे गुणे जाव सरीरभेऊ।

—४।१३

४२. चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परियागयं॥

—५।२१

४३. भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं।

—५।२२

३२. ऋजु अर्थात् सरल आत्मा की विशुद्धि होती है। और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है।

३३ जीवन का धागा टूटजाने पर पुनः जुड़ नही सकता, वह असंस्कृत है, इसलिए प्रमाद मत करो।

३४. जो वैर की परम्परा को लम्बा किए रहते है, वे नरक को प्राप्त होते है।

३५. कृत कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

३६. पापात्मा अपने ही कर्मों से पीडित होता है।

३७. प्रमत्त मनुष्य धन के द्वारा अपनी रक्षा नही कर सकता, न इस लोक में और न परलोक मे !

३८. समय वड़ा भयंकर है, और इधर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता हुआ शरीर है। अतः साधक को सदा अप्रमत्त होकर भारंडपक्षी (सतत सतर्क रहने वाला एक पौराणिक पक्षी) की तरह विचरण करना चाहिए।

३९. प्रवुद्ध साधक सोये हुओ (प्रमत्त मनुष्यो) के बीच भी सदा जागृत-अप्रमत्त रहे।

४०. इच्छाओ को रोकने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

४१. जव तक जीवन है (शरीर-भेद न हो), सद्गुणों की आराधना करते रहना चाहिए।

४२. चीवर, मृगचर्म, नग्नता, जटाएं, कन्था और शिरोमुंडन—यह सभी उपक्रम आचारहीन साधक की (दुर्गति से) रक्षा नही कर सकते।

४३. भिक्षु हो चाहे गृहस्थ हो, जो सुव्रती (सदाचारी) है, वह दिव्यगति को प्राप्त होता है।

४४. गिहिवासे वि सुव्वए।

—५।२४

४५. न संतसंति मरणंते,, सीलवंता बहुस्सुया।

—५।२६

४६. जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए॥

—६।१

४७. अप्पणा सच्चमेसेज्जा।

—६।२

४८. मेत्तिं भूएसु कप्पए।

—६।२

४९ न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए।

—६।७

५०. भणंता अकरेन्ता य, बंधमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं॥

—६।१०

५१. न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।

—६।११

५२. पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे।

—६।१४

५३. आसुरीयं दिसं बाला, गच्छंति अवसा तमं।

—७।१०

५४. माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्ख त्तणं धुवं॥

—७।१६

४४. धर्मशिक्षासंपन्न गृहस्थ गृहवास मे भी सुव्रती है ।

४५. ज्ञानी और सदाचारी आत्माएं मरणकाल मे भी त्रस्त अर्थात् भयाक्रांत नही होते ।

४६. जितने भी अज्ञानी—तत्त्व-बोध-हीन पुरुष है, वे सब दु:ख के पात्र है । इस अनन्त संसार में वे मूढ़ प्राणी बार-बार विनाश को प्राप्त होते रहते है ।

४७. अपनी स्वयं की आत्मा के द्वारा सत्य का अनुसंधान करो ।

४८. समस्त प्राणियो पर मित्रता का भाव रखो ।

४९. जो भय और वैर से उपरत—मुक्त है, वे किसी प्राणी की हिंसा नही करते ।

५०. जो केवल बोलते है, करते कुछ नही, वे बन्ध मोक्ष की बाते करने वाले दार्शनिक केवल वाणी के बल पर ही अपने आप को आश्वस्त किए रहते है ।

५१. विविध भाषाओ का पाण्डित्य मनुष्य को दुर्गति से नही बचा सकता, फिर भला विद्याओ का अनुशासन—अध्ययन किसी को कैसे बचा सकेगा ?

५२. पहले के किए हुए कर्मो को नष्ट करने के लिए इस देह की सार-संभाल रखनी चाहिये ।

५३. अज्ञानी जीव विवश हुए अंधकाराच्छन्न आसुरीगति को प्राप्त होते है ।

५४. मनुष्य-जीवन मूल-धन है । देवगति उस में लाभ रूप है । मूल-धन के नाश होने पर नरक, तिर्यंच-गति रूप हानि होती है ।

५५. कम्मसच्चा हु पाणिणो।

—७।२०

५६. बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं।

—८।१५

५७ कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥

—८।१६

५८. जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं॥

—८।१७

५६. संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणइ घरं।

—६।२६

६०. जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

—६।३४

६१. सव्वं अप्पे जिए जियं।

—६।३६

६२. इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

—६।४८

६३. कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं।

—६।५३

६४. अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
माया गइपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं॥

—६।५४

६५. दुमपत्तए पंडुयए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं,
समयं गोयम! मा पमायए॥

—१०।१

५५. प्राणियों के कर्म ही सत्य हैं।

५६. जो आत्माएं बहुत अधिक कर्मों से लिप्त हैं, उन्हें बोधि प्राप्त होना अति दुर्लभ है।

५७. धन-धान्य से भरा हुआ यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को दे दिया जाय, तब भी वह उससे संतुष्ट नही हो सकता—इस प्रकार आत्मा की यह तृष्णा बड़ी दुष्पूर (पूर्ण होना कठिन) है।

५८. ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ होता है। इस प्रकार लाभ से लोभ निरंतर बढ़ता ही जाता है। दो माशा सोने से संतुष्ट होने वाला करोड़ो (स्वर्णमुद्राओं) से भी सतुष्ट नही हो पाया।

५९. साधना मे संशय वही करता है, जो कि मार्ग मे ही घर करना (रुक जाना) चाहता है।

६० भयंकर युद्ध में हजारो—हजार दुर्दान्त शत्रुओ को जीतने की अपेक्षा अपने आप को जीत लेना ही सबसे बड़ी विजय है।

६१. एक अपने (विकारों) को जीत लेने पर सब को जीत लिया जाता है।

६२. इच्छाएं आकाश के समान अनन्त है।

६३. काम भोग की लालसा-ही-लालसा मे प्राणी, एक दिन, उन्हें बिना भोगे ही दुर्गति मे चला जाता है।

६४. क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है। मान से अधम गति प्राप्त करता है। माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। लोभ से इस लोक और परलोक—दोनों में ही भय=कष्ट होता है।

६५. जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते समय आने पर पीले पड़ जाते हैं, एवं भूमि पर झड़ पड़ते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर क्षीण हो जाता है। अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर।

६६. कुसग्गे जह ओसबिन्दुए,
थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं,
समयं गोयम ! मा पमायए॥

—१०।२

६७. विहुणाहि रयं पुरे कडं।

—१०।३

६८. दुल्लहे खलु माणुसे भवे।

—१०।४

६९. परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए॥

—१०।२६

७०. तिण्णोहु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ?
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए॥

—१०।३४

७१. अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण वा॥

—११।३

७२. न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई।

—११।१२

७३. पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धु मरिहई।

—११।१४

७४. महप्पसाया इसिणो हवंति,
न हु मुणी कोवपरा हवंति।

—१२।३१

६६. जैसे कुशा (घास) की नोंक पर हिलती हुई ओस की बूंद बहुत थोड़े समय के लिए टिक पाती है, ठीक ऐसा ही मनुष्य का जीवन भी क्षणभंगुर है। अतएव हे गौतम ! क्षणभर के लिए भी प्रमाद न कर !

६७. पूर्वसंचित कर्म-रूपी रज को साफ कर !

६८. मनुष्य जन्म निश्चय ही बड़ा दुर्लभ है।

६९. तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पक कर सफेद हो चले है। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है, अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर।

७०. तू महासमुद्र को तैर चुका है, अब किनारे आकर क्यो बैठ गया ? उस पार पहुँचने के लिये शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद उचित नही है।

७१. अहंकार, क्रोध, प्रमाद (विषयासक्ति), रोग और आलस्य—इन पाच कारणो से व्यक्ति शिक्षा (ज्ञान) प्राप्त नही कर सकता।

७२. सुशिक्षित व्यक्ति न किसी पर दोषारोपण करता है और न कभी परिचितो पर कुपित ही होता है। और तो क्या, मित्र से मतभेद होने पर भी परोक्ष में उसकी भलाई की ही बात करता है।

७३. प्रिय (अच्छा) कार्य करने वाला और प्रिय वचन बोलने वाला अपनी अभीष्ट शिक्षा प्राप्त करने मे अवश्य सफल होता है।

७४. ऋषि-मुनि सदा प्रसन्नचित रहते हैं, कभी किसी पर क्रोध नही करते।

७५. सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोई।

—१२।३७

७६. तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती।
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥

—१२।४४

७७. धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥

—१२।४६

७८. सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं।

—१३।१०

७९. सव्वे कामा दुहावहा।

—१३।१६

८०. कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।

—१३।२३

८१. वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं!

—१३।२६

८२. उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी।

—१३।३१

८३. वेया अहीया न हवंति ताणं।

—१४।१२

८४. खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा।

—१४।१३

७५. तप (चरित्र) की विशेषता तो प्रत्यक्ष मे दिखलाई देती है, किन्तु जाति की तो कोई विशेषता नजर नहीं आती ।

७६. तप-ज्योति अर्थात् अग्नि है, जीव ज्योतिस्थान है; मन, वचन, काया के योग स्रुवा=आहुति देने की कड़छी है,शरीर कारीषांग=अग्नि प्रज्वलित करने का साधन है; कर्म जलाए जाने वाला इंधन है, संयम योग शान्ति-पाठ है । मै इस प्रकार का यज्ञ—होम करता हूँ, जिसे ऋषियो ने श्रेष्ठ बताया है ।

७७. धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य शातितीर्थ है, आत्मा की प्रसन्नलेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्मा स्नान कर कर्ममल से मुक्त हो जाता है ।

७८. मनुष्य के सभी सुचरित (सत्कर्म) सफल होते है ।

७९. सभी काम भोग अन्ततः दु:खावह (दु:खद) ही होते है ।

८०. कर्म सदा कर्ता के पीछे-पीछे (साथ) चलते है ।

८१. हे राजन् ! जरा मनुष्य की सुन्दरता को समाप्त कर देती है ।

८२. जैसे वृक्षके फल क्षीण हो जाने पर पक्षी उसे छोड़कर चले जाते है, वैसे ही पुरुष का पुण्य क्षीण होने पर भोगसाधन उसे छोड़ देते हैं, उसके हाथ से निकल जाते हैं ।

८३. अध्ययन कर लेने मात्र से वेद (शास्त्र) रक्षा नही कर सकते ।

८४. संसार के विषय भोग क्षण भर के लिए सुख देते है, किन्तु बदले मे चिर काल तक दु:खदायी होते है ।

८५. धणेण किं धम्मधुराहिगारे ?

—१४।१७

८६. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चं ।

—१४।१९

८७. अज्झत्थ हेउं नियस्स बंधो ।

—१४।१९

८८. मच्चुणाऽभाहओ लोगो, जराए परिवारिओ ।

—१४।२३

८९. जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥

—१४।२५

९०. जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥

—१४।२७

९१. सद्धा खमं णे विणइत्तु रागं ।

—१४।२८

९२. साहाहि रुक्खो लहई समाहिं,
छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं ।

—१४।२९

९३. जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी ।

—१४।३३

९४. सव्वं जगं जइ तुब्भं, सव्वं वा वि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥

—१४।३९

९५. एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ।

—१४।४०

धर्म की धुरा को खीचने के लिए धन की क्या आवश्यकता है ?(वहां तो सदाचार की जरूरत है)

आत्मा आदि अमूर्त तत्त्व इंद्रियग्राह्य नही होते। और जो अमूर्त होते है वे अविनाशी—नित्य भी होते है।

अदर के विकार ही वस्तुतः बंधन के हेतु है।

जरा से घिरा हुआ यह संसार मृत्यु से पीडित हो रहा है।

जो रात्रियां बीत जाती है, वे पुनः लौट कर नही आती। किन्तु जो धर्म का आचरण करता रहता है, उसकी रात्रियां सफल हो जाती हैं।

जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो, जो उससे कही भाग कर बच सकता हो, अथवा जो यह जानता हो कि मै कभी मरूंगा ही नही, वही कल पर भरोसा कर सकता है।

धर्म-श्रद्धा हमे राग (आसक्ति) से मुक्त कर सकती है।

वृक्ष की सुन्दरता शाखाओ से है। शाखाएं कट जाने पर वही वृक्ष-ठूंठ (स्थाणु) कहलाता है।

बूढ़ा हंस प्रतिस्रोत (जलप्रवाह के सम्मुख) मे तैरने से डूब जाता है। (असमर्थ व्यक्ति समर्थ का प्रतिरोध नही कर सकता)।

यदि यह जगत और जगत का समस्त धन भी तुम्हें दे दिया जाय, तब भी वह (जरा मृत्यु आदि से) तुम्हारी रक्षा करने मे अपर्याप्त—असमर्थ है।

राजन् ! एक धर्म ही रक्षा करने वाला है, उसके सिवा विश्व मे कोई भी मनुष्य का त्राता नही है।

९६. उरगो सुवण्णपासे व्व, संकमाणो तणु चरे।
—१४

९७. देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस्स-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं॥
—१६

९८. भुच्चा पिच्चा सुहं सुवई, पावसमणे त्ति वुच्चई।
—१

९९. असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई।
—१७

१००. अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि?
—१८

१०१. जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचचलं।
—१८

१०२. दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयंति य॥
—१८

१०३. किरिअं च रोयए धीरो।
—१८

१०४. जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कोसन्ति जंतुणो॥
—१९

१०५. भासियव्वं हियं सच्चं।
—१९

१०६. दन्तसोहणमाइस्स, अदतस्स विवज्जणं।
—१९

१०७. बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही।
—१९

६. सर्प, गरुड के निकट डरता हुआ बहुत संभल के चलता है।

७. देवता, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी ब्रह्मचर्य के साधक को नमस्कार करते है, क्यों कि वह एक बहुत दुष्कर कार्य करता है।

. जो श्रमण खा पीकर खूब सोता है, समय पर धर्माराधना नही करता, वह पापश्रमण' कहलाता है।

. जो श्रमण असंविभागी है (प्राप्त सामग्री को साथियों में बांटता नही है, और परस्पर प्रेमभाव नही रखता है), वह 'पाप श्रमण' कहलाता है।

१०. जीवन अनित्य है, क्षणभगुर है, फिर क्यो हिसा मे आसक्त होते हो ?

११. जीवन और रूप, विजली की चमक की तरह चंचल है।

१२. स्त्री, पुत्र, मित्र और वन्धुजन सभी जीते जी के साथी है, मरने के वाद कोई किसी के पीछे नही जाता।

१३. धीर पुरुष सदा क्रिया (कर्तव्य) मे ही रुचि रखते है।

१४. संसार मे जन्म का दुःख है, जरा, रोग और मृत्यु का दुःख है, चारो ओर दुःख ही दुःख है। अतएव वहां प्राणी निरंतर कष्ट ही पाते रहते है।

१५. सदा हितकारी सत्य वचन वोलना चाहिए।

१६. अस्तेयव्रत का साधक विना किसी की अनुमति के, और तो क्या, दांत साफ करने के लिए एक तिनका भी नही लेता।

१७. सद्गुणों की साधना का कार्य भुजाओं से सागर तैरने जैसा है।

१०८. असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो।

—१९

१०९. इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्करं।

—१९

११०. ममत्तं छिन्दए ताए, महानागोव्व कंचुयं।

—१९

१११. लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदा पसंसासु, समो माणावमाणओ॥

—१

११२. अप्पणा अनाहो संतो, कहं नाहो भविस्ससि?

—

११३. अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं॥

—

११४. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥

—

११५. राढामणी वेरुलियप्पगासे,
अमहग्घए होइ हु जाणएसु।

—

११६. न तं अरी कंठछित्ता करेई,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।

—२०

११७. कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे,
बलाबलं जाणिय अप्पणो य।

—२१

११८. सीहो व सद्देण न संतसेज्जा।

—२

१०८. तप का आचरण तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है।

१०९. जो व्यक्ति संसार की पिपासा—तृष्णा से रहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन नही है।

११०. आत्मसाधक ममत्व के बंधन को तोड़ फेके,—जैसे कि सर्प शरीर पर आई हुई केंचुली को उतार फेकता है।

१११. जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, और मान-अपमान में समभाव रखता है, वही वस्तुतः मुनि है।

११२. तू स्वयं अनाथ है, तो फिर दूसरे का नाथ कैसे हो सकता है?

११३. मेरी (पाप में प्रवृत्त) आत्मा ही वैतरणी नदी और कूट शाल्मली वृक्ष के समान (कष्टदायी) है। और मेरी आत्मा ही (सत्कर्म मे प्रवृत्त) कामधेनु और नंदन वन के समान सुखदायी भी है।

११४. आत्मा ही सुख दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है। सदाचार मे प्रवृत्त आत्मा मित्र के तुल्य है, और दुराचार मे प्रवृत्त होने पर वही शत्रु है।

११५. वैडूर्य रत्न के समान चमकने वाले कांच के टुकड़े का, जानकार (जोहरी) के समक्ष कुछ भी मूल्य नही रहता।

११६. गर्दन काटने वाला शत्रु भी उतनी हानि नही करता, जितनी हानि दुराचार मे प्रवृत्त अपना ही स्वयं का आत्मा कर सकता है।

११७. अपनी शक्ति को ठीक तरह पहचान कर यथावसर यथोचित कर्तव्य का पालन करते हुए राष्ट्र (विश्व) मे विचरण करिए।

११८. सिंह के समान निर्भीक रहिए, केवल शब्दो (आवाजो) से न डरिए।

११९. पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।

—२१।

१२०. न सव्व सव्वत्थभिरोयएज्जा।

—२१।

१२१. अणेगछन्दा इह माणवेहिं।

—२१।

१२२. अणुन्नए नावणए महेसी,
न यावि पूयं, गरिहं च संजए।

—२१।२

१२३. नाणेणं दसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य।
खंतीए मुत्तीए य, वड्ढमाणो भवाहि य॥

—२२।२

१२४. पन्ना समिक्खए धम्मं।

—२३।२

१२५. विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छिउं।

—२३।३

१२६. पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं।

—२३।३

१२७. एगप्पा अजिए सत्तू।

—२३।३

१२८. भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया।

—२३।४

१२९. कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जलं।

—२३।५

१३०. मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कन्थगं॥

—२३।५

११९. प्रिय हो या अप्रिय, सब को समभाव से सहन करना चाहिए।

१२०. हर कही, हर किसी वस्तु में मन को मत लगा बैठिए।

१२१. इस संसार में मनुष्यो के विचार (छन्द = रुचियाँ) भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं।

१२२. जो पूजा-प्रशंसा सुनकर कभी अहंकार नही करता, और निन्दा सुन कर स्वयं को हीन (अवनत) नही मानता, वही वस्तुतः महर्षि है।

१२३. ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षमा और निर्लोभता की दिशा मे निरन्तर वर्द्धमान=बढ़ते रहिए।

१२४. साधक की स्वयं की प्रज्ञा ही समय पर धर्म की समीक्षा कर सकती है।

१२५. विज्ञान (विवेक ज्ञान) से ही धर्म के साधनो का निर्णय होता है।

१२६. धर्मो के वेष आदि के नाना विकल्प जनसाधारण में प्रत्यय (परिचय-पहिचान) के लिए है।

१२७. स्वयं की अविजित=असंयत आत्मा ही स्वयं का एक शत्रु है।

१२८. संसार की तृष्णा भयंकर फल देने वाली विष-बेल है।

१२९. कषाय—(क्रोध, मान माया और लोभ) को अग्नि कहा है। उसको बुझाने के लिए श्रुत (ज्ञान) शील, सदाचार और तप जल है।

१३०. यह मन बड़ा ही साहसिक, भयंकर, दुष्ट घोड़ा है, जो बड़ी तेजी के साथ दौड़ता रहता है। मैं धर्मशिक्षारूप लगाम से उस घोड़े को अच्छी तरह वश मे किए रहता हूं।

१३१. जरामरण वेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥
—२३।६८

१३२. जाउ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥
—२३।७१

१३३. सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥
—२३।७३

१३४. जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥
—२५।२७

१३५. न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ।
—२५।३१

१३६. समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥
—२५।३२

१३७. कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥
—२५।३३

१३८. उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥
—२५।४१

१३९. विरत्ता हु न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ।
—२५।४३

१३१. जरा और मरण के महाप्रवाह में डूबते प्राणिओं के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा=आधार है, गति है, और उत्तम शरण है।

१३२. छिद्रो वाली नौका पार नही पहुँच सकती, किंतु जिस नौका में छिद्र नही है, वही पार पहुंच सकती है।

१३३. यह शरीर नौका है, जीव-आत्मा उसका नाविक (मल्लाह) है, और संसार समुद्र है। महर्षि इस देहरूप नौका के द्वारा संसार-सागर को तैर जाते है।

१३४. ब्राह्मण वही है—जो संसार मे रह कर भी काम भोगों से निर्लिप्त रहता है, जैसे कि कमल जल में रहकर भी उससे लिप्त नही होता।

१३५. सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नही होता, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल मे रहने से कोई मुनि नही होता और कुशचीवर=वल्कल धारण करने से कोई तापस नही होता।

१३६. समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है।

१३७. कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय। कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र।

१३८. जो भोगी (भोगासक्त), है, वह कर्मो से लिप्त होता है। और जो अभोगी है, भोगासक्त नहीं है, वह कर्मो से लिप्त नही होता। भोगासक्त संसार मे परिभ्रमण करता है। भोगो मे अनासक्त ही संसार से मुक्त होता है।

१३९. मिट्टी के सूखे गोले के समान विरक्त साधक कही भी चिपकता नही है, अर्थात् आसक्त नही होता।

१४०. सज्झाएवा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे ।

—२६।१०

१४१. सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं ।

—२६।३७

१४२. नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गे त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥

—२८।२

१४३. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं ।

—२८।२९

१४४. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं ॥

—२८।३०

१४५. नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई ॥

—२८।३५

१४६. सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयई ।

—२९।८

१४७. खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ ।

—२९।१७

१४८. सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई ।

—२९।१८

१४९. वेयावच्चेणं तित्थयरं नामगोत्तं कम्मं निबन्धई ।

—२९।४३

१५०. वीयरागयाए णं नेहाणुवंधणाणि,
तण्हाणुवंधणाणि य वोच्छिदई ।

—२९।४५

१४०. स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखो से मुक्ति मिलती है।

१४१. स्वाध्याय सब भावों (विषयों) का प्रकाश करने वाला है।

१४२. वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप से जानने वाले जिन भगवान ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बताया है।

१४३. सम्यक्त्व (सत्यदृष्टि) के अभाव मे चारित्र नही हो सकता।

१४४. सम्यग् दर्शन के अभाव में ज्ञान प्राप्त नहीं होता, ज्ञान के अभाव में चारित्र के गुण नही होते, गुणो के अभाव मे मोक्ष नही होता और मोक्ष के अभाव मे निर्वाण (शाश्वत आत्मानन्द) प्राप्त नही होता।

१४५. ज्ञान से भावों (पदार्थो) का सम्यग् बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है। चारित्र से कर्मो का निरोध होता है और तप से आत्मा निर्मल होता है।

१४६. सामायिक की साधना से पापकारी प्रवृत्तियो का निरोध हो जाता है।

१४७. क्षमापना से आत्मा में प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

१४८. स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादन करने वाले) कर्म का क्षय होता है।

१४९. वैयावृत्य (सेवा) से आत्मा तीर्थंकर होने जैसे उत्कृष्ट पुण्य कर्म का उपार्जन करता है।

१५०. वीतराग भाव की साधना से स्नेह (राग) के बंधन और तृष्णा के बंधन कट जाते हैं।

१५१. अविसंवायणसपन्नयाए णं जीवे,
धम्मस्स आराहए भवइ।
—२९।४८

१५२. करण सच्चे वट्टमाणे जीवे,
जहावाई तहाकारी यावि भवइ।
—२९।५१

१५३. वयगुत्तयाए णं णिव्विकारत्तं जणयई।
—२९।५४

१५४. जहा सूई ससुत्ता, पडियावि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ॥
—२९।५९

१५५. कोहविजए णं खंतिं जणयई।
—२९।६७

१५६. माणविजए णं मद्दवं जणयई।
—२९।६८

१५७. मायाविजएणं अज्जवं जणयइ।
—२९।६९

१५८. लोभ विजएणं संतोसं जणयई।
—२९।७०

१५९. भवकोडी-संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ।
—३०।६

१६०. असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।
—३१।२

१६१. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं।
—३२।२

१५१. दम्भरहित, अविसंवादी आत्मा ही धर्म का सच्चा आराधक होता है।

१५२. करणसत्य–व्यवहार में स्पष्ट तथा सच्चा रहने वाला आत्मा 'जैसी कथनी वैसी करनी' का आदर्श प्राप्त करता है।

१५३. वचन गुप्ति से निर्विकार स्थिति प्राप्त होती है।

१५४. धागे में पिरोई हुई सूई गिर जाने पर भी गुम नही होती, उसी प्रकार ज्ञानरूप धागे से युक्त आत्मा संसार में भटकता नही, विनाश को प्राप्त नही होता।

१५५. क्रोध को जीत लेने से क्षमाभाव जागृत होता है।

१५६. अभिमान को जीत लेने से मृदुता (नम्रता) जागृत होती है।

१५७. माया को जीत लेने से ऋजुता (सरल भाव) प्राप्त होती है।

१५८. लोभ को जीत लेने से संतोष की प्राप्ति होती है।

१५९. साधक करोड़ो भवो के संचित कर्मो को तपस्या के द्वारा क्षीण कर देता है।

१६०. असंयम से निवृत्ति और संयम मे प्रवृत्ति करनी चाहिए।

१६१. ज्ञान के समग्र प्रकाश से, अज्ञान और मोह के विवर्जन से तथा राग एवं द्वेष के क्षय से, आत्मा एकान्तसुख-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

१६२. जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति।

—३२।

१६३. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति।

—३२।

१६४. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं॥

—३२।

१६५. रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥

—३२।१

१६६. सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स,
कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं।

—३२।१

१६७. लोभाविले आययई अदत्तं।

—३२।२

१६८. रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।

—३२।३

६२. जिस प्रकार बलाका (बगुली) अंडे से उत्पन्न होती है और अडा बलाका से ; इसी प्रकार मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है और तृष्णा मोह से ।

६३. राग और द्वेष, ये दो कर्म के बीज है । कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म ही जन्म मरण का मूल है और जन्म मरण ही वस्तुतः दुःख है ।

६४. जिसको मोह नही होता उसका दुःख नष्ट हो जाता है । जिस को तृष्णा नही होती, उसका मोह नष्ट हो जाता है । जिसको लोभ नही होता, उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है । और जो अकिंचन (अपरिग्रही) है, उसका लोभ नष्ट हो जाता है ।

६५. ब्रह्मचारी को घी दूध आदि रसो का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए, क्योकि रस प्रायः उद्दीपक होते है । उद्दीप्त पुरुष के निकट कामभावनाएँ वैसे ही चली आती है, जैसे स्वादिष्ठ फल वाले वृक्ष के पास पक्षी चले आते है।

६६. देवताओ सहित समग्र संसार मे जो भी दुःख है, वे सब कामासक्ति के कारण ही है।

६७. जब आत्मा लोभ से कलुषित होता है तो चोरी करने को प्रवृत्त होता है।

६८. मनोज्ञ शब्द आदि राग के हेतु होते है और अमनोज्ञ द्वेष के हेतु ।

१६९. राइ अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।

—३१।

१७०. पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।

—३२।

१७१. न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।

—३२।

१७२. समो य जो तेसु स वीयरागो ।

—३२।

१७३. एविंदियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥

—३२।१

१७४. न कामभोगा समयं उवेंति,
न यावि भोगा विगइं उवेंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥

—३२।

१७५. न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ।

—३५

१७६. अउलं सुहसंपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ ।

—३६

९. शब्द आदि विषयो में अतृप्त और परिग्रह मे आसक्त रहने वाला आत्मा कभी संतोष को प्राप्त नही होता ।

०. आत्मा प्रदुष्टचित्त (रागद्वेष से कलुषित) होकर कर्मो का संचय करता है। वे कर्म विपाक (परिणाम) मे बहुत दु:खदायी होते है।

१. जो आत्मा विषयो के प्रति अनासक्त है, वह संसार में रहता हुआ भी उसमे लिप्त नही होता । जैसे कि पुष्करिणी के जल मे रहा हुआ पलाश —कमल ।

२. जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दादि विषयो मे सम रहता है, वह वीतराग है।

३. मन एवं इन्द्रियो के विषय, रागात्मा को ही दु:ख के हेतु होते है। वीतराग को तो वे किंचित् मात्र भी दु:खी नही कर सकते ।

४. कामभोग—शब्दादि विषय न तो स्वयं में समता के कारण होते है और न विकृति के ही। किंतु जो उनमें द्वेष या राग करता है वह उनमे मोह से राग द्वेष रूप विकार को उत्पन्न करता है।

५. साधु स्वाद के लिए भोजन न करे, किन्तु जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए करे।

१६. मोक्ष मे आत्मा अनंत सुखमय रहता है। उस सुख की कोई उपमा नही है और न कोई गणना ही है।

आचार्य भद्रबाहु की सूक्तियां

●

१. अंगाणं किं सारो ? आयारो ।

—आचारांग निर्युक्ति, ॥

२. सारो परूवणाए चरणं, तस्स वि य होइ निव्वाणं।

—आचा० नि०

३. एक्का मणुस्सजाई ।

—आचा० नि०

४. हेट्ठा नेरइयाणं अहोदिसा उवरिमा उ देवाणं ।

—आचा० नि०

५. सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति ।

—आचा० नि०

६. भावे अ असंजमो सत्थं ।

—आचा० नि०

७. कामनियत्तमई खलु, संसारा मुच्चई खिप्पं ।

—आचा० नि०

८. कामा चरित्तमोहो ।

—आचा० नि०

आचार्य भद्रबाहु की सूक्तियां

●

जिनवाणी (अंग-साहित्य) का सार क्या है ? 'आचार' सार है।

प्ररूपणा का सार है—आचरण।
आचरण का सार (अन्तिमफल) है—निर्वाण !

समग्र मानवजाति एक है।

नारको की दिशा, अधोदिशा है और देवताओं की दिशा ऊर्ध्व दिशा। (यदि अध्यात्मदृष्टि से कहा जाए तो अधोमुखी विचार नारक के प्रतीक है और ऊर्ध्वमुखी विचार देवत्व के)।
कुछ लोग अपने सुख की खोज मे दूसरों को दुःख पहुँचा देते है।

भाव-दृष्टि से संसार मे असंयम ही सबसे बड़ा शस्त्र है।

जिसकी मति, काम (वासना) से मुक्त है, वह शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है।

वस्तुतः काम की वृत्ति ही चारित्रमोह (चरित्र-मूढ़ता) है।

९. संसारस्स उ मूलं कम्म, तस्स वि हुंति य कसाया।

—आचा० नि०

१०. अभयकरो जीवाणं, सीयघरो संजमो भवइ सीओ।

—आचा० नि०

११. न हु बालतवेण मुक्खु त्ति।

—आचा० नि०

१२. न जिणइ अंधो पराणीयं।

—आचा० नि०

१३. कुणमाणोऽवि निवित्ति,
परिच्चयंतोऽवि सयण-धण-भोए।
दितोऽवि दुहस्स उरं,
मिच्छद्दिट्ठी न सिज्झई उ॥

—आचा० नि०

१४. दंसणवओ हि सफलाणि, हुंति तवनाणचरणाइं।

—आचा० नि०

१५. न हु कइतवे समणो।

—आचा० नि०

१६ जह खलु झुसिरं कट्ठं, सुचिरं सुक्कं लहुं डहइ अग्गी।
तह खलु खवंति कम्मं, सम्मच्चरणे ठिया साहू॥

—आचा० नि०

१७. लोगस्स सार धम्मो, धम्मं पि य नाणसारियं बिंति।
नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं॥

—आचा० नि०

१८. देसविमुक्का साहू, सव्वविमुक्का भवे सिद्धा।

—आचा० नि०

९. संसार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय है।

१०. प्राणिमात्र को अभय करने के कारण संयम शीतगृह (वातानुकूलित गृह) के समान शीत अर्थात् शान्तिप्रद है।

११ अज्ञानतप से कभी मुक्ति नहीं मिलती।

१२. अंधा कितना ही बहादुर हो, शत्रुसेना को पराजित नही कर सकता। इसी प्रकार अज्ञानी साधक भी अपने विकारो को जीत नहीं सकता।

१३. एक साधक निवृत्ति की साधना करता है, स्वजन, धन और भोग विलास का परित्याग करता है, अनेक प्रकार के कष्टो को सहन करता है, किंतु यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त नही कर सकता।

१४. सम्यग् दृष्टि के ही तप, ज्ञान और चारित्र सफल होते है।

५. जो दंभी है, वह श्रमण नही हो सकता।

६ जिस प्रकार पुराने सूखे, खोखले काठ को अग्नि शीघ्र ही जला डालती है, वैसे ही निष्ठा के साथ आचार का सम्यक् पालन करने वाला साधक कर्मों को नष्ट कर डालता है।

७ दिव्य—दृष्टि का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान (सम्यग्-बोध) है, ज्ञान का सार संयम है, और संयम का सार निर्वाण—(शाश्वत आनंद की प्राप्ति) है।

१८. साधक कर्मबंधन से देशमुक्त (अंशत: मुक्त) होता है और सिद्ध सर्वथा मुक्त।

१९. जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण, सुज्झए कम्ममट्ठविहं ॥
—आचा० नि० २८१

२०. जह वा विसगंडूसं, कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसंतो, किं नाम ततो न व मरेज्जा !
—सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ५२

२१. धम्मम्मि जो दढमई, सो सूरो सत्तिओ य वीरो य।
ण हु धम्मणिरुस्साहो, पुरिसो सूरो सुवलिओऽवि ॥
—सूत्र० नि० ६०

२२. अहवावि नाणदसणचरित्तविणए तहेव अज्झप्पे।
जे पवरा होंति मुणी, ते पवरा पुंडरीया उ ॥
—सूत्र० नि० १५६

२३. अवि य हु भारियकम्मा, नियमा उक्कस्सनिरयठितिगामी।
तेऽवि हु जिणोवदेसेण, तेणेव भवेण सिज्झंति ॥
—सूत्र० नि० १६०

२४. धम्मो उ भावमंगलमेत्तो सिद्धि त्ति काऊणं।
—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ४

२५. हिंसाए पडिवक्खो होइ अहिंसा।
—दशवै० नि० ४

२६ सुहदुक्खसंपओगो, न विज्जई निच्चवायपक्खंमि।
एगंतुच्छेअंमि य, सुहदुक्खविगप्पणमजुत्तं ॥
—दशवै० नि० ६

२७. उक्कामयंति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा।
—दशवै० नि० १६

२८. मिच्छत्तं वेयन्तो, जं अन्नाणी कहं परिकहेइ।
लिंगत्थो व गिही वा, सा अकहा देसिया समए ॥
तवसंजमगुणधारी, जं चरणत्था कहिंति सब्भावं।
सव्वजगज्जीवहियं, सा उ कहा देसिया समए ॥

१९. जिस प्रकार जल आदि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक तप साधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्ममल से मुक्त हो जाता है।

२०. जिस प्रकार कोई चुपचाप लुकछिपकर विष पी लेता है, तो क्या वह उस विष से नहीं मरेगा ? अवश्य मरेगा। उसी प्रकार जो छिपकर पाप करता है, तो क्या वह उससे दूषित नहीं होगा ? अवश्य होगा।

२१. जो व्यक्ति धर्म में दृढ़ निष्ठा रखता है; वस्तुतः वही बलवान है, वही शूर वीर है। जो धर्म मे उत्साहहीन है, वह वीर एवं बलवान होते हुए भी न वीर है, न बलवान है।

२२. जो साधक अध्यात्मभावरूप ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विनय में श्रेष्ठ हैं, वे ही विश्व के सर्वश्रेष्ठ पुंडरीक कमल हैं।

२३. कोई कितना ही पापात्मा हो और निश्चय ही उत्कृष्ट नरकस्थिति को प्राप्त करने वाला हो, किन्तु वह भी वीतराग के उपदेश द्वारा उसी भव मे मुक्तिलाभ कर सकता है।

२४. धर्म भावमंगल है, इसी से आत्मा को सिद्धि प्राप्त होती है।

२५. हिंसा का प्रतिपक्ष—अहिंसा है।

२६. एकांत नित्यवाद के अनुसार सुख दुःख का संयोग संगत नहीं बैठता और एकांत उच्छेदवाद=अनित्यवाद के अनुसार भी सुख दुःख की बात उपयुक्त नहीं होती। अतः नित्यानित्यवाद ही इसका सही समाधान कर सकता है।

२७. शब्द आदि विषय आत्मा को धर्म से उत्क्रमण करा देते हैं, दूर हटा देते हैं, अतः इन्हें 'काम' कहा है।

जो रांजओ पमत्तो, रागद्दोसवसगओ परिकहेइ।
सा उ विकहा पवयणे, पण्णत्ता धीरपुरिसेहिं॥

—दशवै० नि० २०९-१०-११

२९. जीवाहारो भण्णइ आयारो।

—दशवै० नि० २१५

३०. धम्मो अत्थो कामो, भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता।
जिणवयणं उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा॥

—दशवै० नि० २६२

३१. जिणवयणंमि परिणए, अवत्थविहिआणुठाणओ धम्मो।
[1]सच्छासयप्पयोगा अत्थो, वीसंभओ[2] कामो॥

—दशवै० नि० २६४

३२. वयणविभत्तिअकुसलो, वओगयं बहुविहं अयाणंतो।
जइ वि न भासइ किंची, न चेव वयगुत्तयं पत्तो॥
वयणविभत्ती कुसलो, वओगयं बहुविहं वियाणंतो।
दिवसं पि भासमाणो, तहावि वयगुत्तयं पत्तो॥

—दशवै०नि० २९०-२९१

३३. सद्देसु अ रूवेसु अ, गंधेसु रसेसु तह य फासेसु।
न वि रज्जइ न वि दुस्सइ, एसा खलु इंदिअप्पणिही॥

—दशवै० नि० २९५

३४. जस्स खलु दुप्पणिहिआणि इंदिआइं तवं चरंतस्स।
सो हीरइ असहीणेहिं सारही व तुरंगेहिं॥

—दशवै० नि० २९८

---

१. स्वच्छाशयप्रयोगाद् विशिष्टलोकतः, पुण्यवलाच्चार्थः।
२. विश्रम्भत उचितकलत्राङ्गीकरणतापेक्षो विश्रम्भेण कामः॥

—इति हारिभद्रीया वृत्तिः।

जो संयमी होते हुये भी प्रमत्त है, वह रागद्वेष के वशवर्ती होकर जो कथा करता है, उसे 'विकथा' कहा गया है।

२६. तप-संयमरूप आचार का मूल आधार आत्मा (आत्मा में श्रद्धा) ही है।

३०. धर्म, अर्थ, और काम को भले ही अन्य कोई परस्पर विरोधी मानते हो, किंतु जिनवाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान में अवतरित होने के कारण परस्पर असपत्न=अविरोधी है।

३१. अपनी अपनी भूमिका के योग्य विहित अनुष्ठान रूप धर्म, स्वच्छ आशय से प्रयुक्त अर्थ, विस्रंभयुक्त (मर्यादानुकूल वैवाहिक नियंत्रण से स्वीकृत) काम—जिन वाणी के अनुसार ये परस्पर अविरोधी है।

३२. जो वचन-कला मे अकुशल है, और वचन की मर्यादाओ से अनभिज्ञ है, वह कुछ भी न बोले, तव भी 'वचनगुप्त' नही हो सकता।

जो वचन-कला मे कुशल है और वचन की मर्यादा का जानकार है, वह दिनभर भाषण करता हुआ भी 'वचनगुप्त' कहलाता है।

३३. शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में जिसका चित्त न तो अनुरक्त होता है और न द्वेष करता है, उसी का इन्द्रियनिग्रह प्रशस्त होता है।

३४. जिस साधक की इन्द्रियां कुमार्गगामिनी हो गई है, वह दुष्ट घोड़ों के वश मे पड़े सारथि की तरह उत्पथ मे भटक जाता है।

३५. जस्स वि अ दुप्पणिहिआ होंति कसाया तवं चरंतस्स।
सो बालतवस्सीवि व गयण्हाणपरिस्समं कुणइ॥
—दशवै० नि० ३००

३६. सामन्नमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुफुल्लं व निप्फलं तस्स सामन्नं॥
—दशवै० नि० ३०१

३७. खंतो अ मद्दवऽज्जव विमुत्तया तह अदीणय तितिक्खा।
आवस्सगपरिसुद्धी अ होंति भिक्खुस्स लिंगाइं॥
—दशवै० नि० ३४६

३८. जो भिक्खू गुणरहिओ भिक्खं गिण्हइ न होइ सो भिक्खू।
वण्णेण जुत्तिसुवण्णगं व असइ गुणनिहिम्मि॥
—दशवै० नि० ३५६

३९. जह दीवा दीवसयं, पईप्पए सो य दीप्पए दीवो।
दीवसमा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति॥
—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, ८

४०. जावइया ओदइया सव्वो सो बाहिरो जोगो।
उत्त० नि० ५२

४१. आयरियस्स वि सीसो सरिसो सव्वे हि वि गुणेहिं।
—उत्त० नि० ५८

४२. सुहिओ हु जणो न बुज्झई।
—उत्त० नि० १३५

४३. राइसरिसवमित्ताणि, परछिद्दाणि पाससि।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि, पासंतो वि न पाससि!
—उत्त० नि० १४०

४४. मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।
इअ पंचविहो ऐसो होई पमाओ य अप्पमाओ॥
—उत्त० नि० १८०

३५. जिस तपस्वी ने कषायों को निगृहीत नही किया, वह बाल तपस्वी है। उसके तपरूप में किये गए सब कायकष्ट गजस्नान की तरह व्यर्थ हैं।

३६. श्रमण धर्म का अनुचरण करते हुए भी जिसके क्रोध आदि कषाय उत्कट हैं, तो उसका श्रमणत्व वैसा ही निरर्थक है जैसा कि ईख का फूल।

३७. क्षमा, विनम्रता, सरलता, निर्लोभता, अदीनता, तितिक्षा और आवश्यक क्रियाओं की परिशुद्धि—ये सब भिक्षु के वास्तविक चिन्ह हैं।

३८. जो भिक्षु गुणहीन है, वह भिक्षावृत्ति करने पर भी भिक्षु नही कहला सकता। सोने का झोल चढ़ादेने भर से पीतल आदि सोना तो नही हो सकता!

३९. जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाशमान होता हुआ अपने स्पर्श से अन्य सेकड़ो दीपक जला देता है, उसी प्रकार सद्गुरु—आचार्य स्वयं ज्ञान ज्योति से प्रकाशित होते है एवं दूसरों को भी प्रकाशमान करते है।

४०. कर्मोदय से प्राप्त होने वाली जितनी भी अवस्थाएं हैं वे सब बाह्य भाव है।

४१. यदि शिष्य गुणसंपन्न है, तो वह अपने आचार्य के समकक्ष माना जाता है।

४२. सुखी मनुष्य प्रायः जल्दी नही जग पाता।

४३. दुर्जन दूसरो के राई और सरसो जितने दोष भी देखता रहता है, किंतु अपने बिल्व (बेल) जितने बड़े दोषो को देखता हुआ भी अनदेखा कर देता है।

४४. मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा (अर्थहीन रागद्वेषवर्द्धक वार्ता) यह पांच प्रकार का प्रमाद है। इन से विरक्त होना ही अप्रमाद है।

४५. भावंमि उ पव्वज्जा आरंभपरिग्गहच्चाओ।

—उत्त० नि० २६३

४६. अहिअत्थं निवारितो, न दोसं वत्तुमरिहसि!

—उत्त० नि० २७६

४७. भद्दएणेव होअव्वं पावइ भद्दाणि भद्दओ।
सविसो हम्मए सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चइ।

—उत्त० नि० ३२६

४८. जो भिंदेइ खुहं खलु, सो भिक्खू भावओ होइ।

—उत्त० नि० ३७५

४९. नाणी संजमसहिओ नायव्वो भावओ समणो।

—उत्त० नि० ३८९

५०. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।

—आवश्यक निर्युक्ति, ९२

५१. वाएण विणा पोओ, न चएइ महण्णवं तरिउं।

—आव० नि० ९५

५२. निउणो वि जीवपोओ, तवसंजममारुअविहूणो।

—आव० नि० ९६

५३. चरणगुणविप्पहीणो, बुड्डइ सुबहुंपि जाणंतो।

—आव० नि० ९७

५४. सुबहुंपि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पहीणस्स?
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि॥

—आव० नि० ९८

५५. अप्पं पि सुयमहीयं, पयासयं होइ चरणजुत्तस्स।
इक्को वि जह पईवो, सचक्खुअस्सा पयासेइ॥

—आव० नि० ९९

४५. हिंसा और परिग्रह का त्याग ही वस्तुतः भाव प्रव्रज्या है।

४६. बुराई को दूर करने की दृष्टि से यदि आलोचना की जाये तो कोई [illegible] नही है।

४७. मनुष्य को भद्र (सरल) होना चाहिए, भद्र को ही [illegible] होती है। विपधर सांप ही मारा जाता है, निर्विष को कोई नहीं [illegible]

४८. जो मन की भूख (तृष्णा) का भेदन करता है, वही [illegible]

४९. जो ज्ञानपूर्वक संयम की साधना में रत है, [illegible] है।

५०. तीर्थंकर की वाणी अर्थ (भाव) रूप [illegible] सूत्र-बद्ध करते हैं।

५१. अच्छे से अच्छा जलयान भी हवा के [illegible] सकता।

५२. शास्त्रज्ञान मे कुशल साधक [illegible] सागर को तैर नही सकता।

५३. जो साधक चरित्र के गुण से [illegible] संसार समुद्र मे डूब जाता है

५६. जहा खरो चंदणभारवाही,
भारस्स भागी न हु चंदणस्स।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो,
नाणस्स भागी न हु सोग्गईए॥
—आव० नि० १००

५७. हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ॥
—आव० नि० १०१

५८. संजोगसिद्धीइ फलं वयंति,
न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा,
ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा।
—आव० नि० १०२

५९. णाणं पयासगं, सोहओ तवो, संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि समाजोगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ॥
—आव० नि० १०३

६०. केवलियनाणलंभो, नन्नत्थ खए कसायाणं।
— आव० नि० १०४

६१. अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च।
ण हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु ते बहुं होइ॥
—आव० नि० १२०

६२. तित्थपणामं काउं, कहेइ साहारणेण सद्देणं।
—आव० नि० ५६७

६३. भासंतो होइ जेट्ठो, नो परियाएण तो वन्दे।
आव० नि० ७०४

६४. सामाइयंमि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
—आव० नि० ८०२

६. चंदन का भार उठाने वाला गधा सिर्फ भार ढोने वाला है, उसे चंदन की सुगंध का कोई पता नही चलता। इसी प्रकार चरित्र-हीन ज्ञानी सिर्फ ज्ञान का भार ढोता है, उसे सद्गति प्राप्त नहीं होती।

७. आचार-हीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञान-हीन आचार। जैसे वन मे अग्नि लगने पर पंगु उसे देखता हुआ और अंधा दौड़ता हुआ भी आग से बचन हीं पाता, जलकर नष्ट हो जाता है।

८. संयोगसिद्धि (ज्ञान क्रिया का संयोग) ही फलदायी (मोक्ष रूप फल देने वाला) होता है। एक पहिए से कभी रथ नही चलता। जैसे अंध और पंगु मिलकर वन के दावानल से पार होकर नगर मे सुरक्षित पहुंच गए, इसी प्रकार साधक भी ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मुक्ति-लाभ करता है।

९. ज्ञान प्रकाश करने वाला है, तप विशुद्धि एवं संयम पापो का निरोध करता है। तीनों के समयोग से ही मोक्ष होता है—यही जिनशासन का कथन है।

१०. क्रोधादि कषायो को क्षय किए विना केवल ज्ञान (पूर्णज्ञान) की प्राप्ति नही होती।

११. ऋण, व्रण (घाव), अग्नि और कषाय – यदि इनका थोडा सा अंश भी है तो, उनकी उपेक्षा नही करनी चाहिए। ये अल्प भी समय पर बहुत (विस्तृत) हो जाते है।

१२. तीर्थंकर देव प्रथम तीर्थ (उपस्थित संघ) को प्रणाम करके फिर जन-कल्याण के लिए लोकभाषा मे उपदेश करते है।

१३. शास्त्र का प्रवचन (व्याख्यान) करने वाला बड़ा है, दीक्षा-पर्याय मे कोई बड़ा नही होता। अतः पर्यायज्येष्ठ भी अपने कनिष्ठ शास्त्र के व्याख्याता को नमस्कार करे।

१४. सामायिक की साधना करता हुआ श्रावक भी श्रमण के तुल्य हो जाता है।

६५. जो ण वि वट्टइ रागे, ण वि दोसे दोण्हमज्झयारंमि।
सो होइ उ मज्झत्थो, सेसा सव्वे अमज्झत्था॥

—आव० नि० ८०४

६६. दिट्ठीय दो णया खलु, ववहारो निच्छओ चेव।

—आव० नि० ८१६

६७. ण कुणइ पारत्तहियं, सो सोयइ संकमणकाले।

—आव० नि० ८३७

६८. तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलया चंचलं माणुसत्तं।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो॥

—आव० नि० ८

६९. दव्वुज्जोउज्जोओ, पगासई परिमियम्मि खित्तंमि।
भावुज्जोउज्जोओ, लोगालोगं पगासेइ॥

—आव० नि० १०६

७०. कोहंमि उ निग्गहिए, दाहस्सोवसमणं हवइ तित्थं।
लोहंमि उ निग्गहिए, तण्हावुच्छेअणं होइ॥

—आव० नि० १०७

७१. जियकोहमाणमाया, जियलोहा तेण ते जिणा हुंति।
अरिणो हंता, रयं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति॥

—आव० नि० १०८

७२. मिच्छत्तमोहणिज्जा, नाणावरणा चरित्तमोहाओ।
तिविहतमा उम्मुक्का, तम्हा ते उत्तमा हुंति॥

—आव० नि० ११००

७३. जं तेहिं दायव्वं, तं दिन्नं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
दंसण-नाण-चरित्तस्स, एस तिविहस्स उवएसो॥

—आव० नि० ११०

७४. जह नाम महुरसलिलं, सायरसलिलं कमेण संपत्तं।
पावेइ लोणभावं, मेलणदोसाणुभावेणं॥
एवं खु सीलवंतो, असीलवंतेहिं मीलिओ संतो।
हंदि समुद्दमइगयं, उदयं लवणत्तणमुवेइ॥

—आव० नि० ११२७-२८

जो न राग करता है, न द्वेष करता है, वही वस्तुतः मध्यस्थ है, बाकी सब अमध्यस्थ है ।

जैन दर्शन मे दो नय (विचार-दृष्टियाँ) है—निश्चयनय और व्यवहार-नय ।

जो इस जन्म मे परलोक की हितसाधना नही करता, उसे मृत्यु के समय पछताना पड़ता है ।

जो बडी मुश्किल से मिलता है, बिजली की चमक की तरह चंचल है, ऐसे मनुष्य जन्म को पाकर भी जो धर्म साधना मे प्रमत्त रहता है, वह कापुरुष (अधम पुरुष) ही है, सत्पुरुष नही ।

सूर्य आदि का द्रव्य प्रकाश परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किंतु ज्ञान का प्रकाश तो समस्त लोकालोक को प्रकाशित करता है ।

क्रोध का निग्रह करने से मानसिक दाह (जलन) शात होती है, लोभ का निग्रह करने से तृष्णा शात हो जाती है—इसलिये धर्म ही सच्चा तीर्थ है ।

क्रोध, मान, माया और लोभ को विजय कर लेने के कारण 'जिन' कहलाते है । कर्मरूपी शत्रुओं का तथा कर्म रूप रज का हनन=नाश करने के कारण अरिहंत कहे जाते है ।

मिथ्यात्व-मोह, ज्ञानावरण और चारित्र-मोह—ये तीन प्रकार के तम (अंधकार) है । जो इन तमों=अंधकारो से उन्मुक्त है, उसे उत्तम कहा जाता है ।

तीर्थंकरो ने जो कुछ देने योग्य था, वह दे दिया है, वह समग्र दान यही है - दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उपदेश !

जिस प्रकार मधुर जल, समुद्र के खारे जल के साथ मिलने पर खारा हो जाता है, उसी प्रकार सदाचारी पुरुष दुराचारियो के संसर्ग मे रहने के कारण दुराचार से दूषित हो जाता है ।

७५. न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती।

—आव० नि० ११

७६. जाणंतोऽवि य तरिउं, काइयजोगं न जुंजइ नईए।
सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो॥

—आव० नि० ११

७७. जह जह सुज्झइ सलिलं, तह तह रूवाइं पासई दिट्ठी।
इय जह जह तत्तरुई, तह तह तत्तागमो होइ॥

—आव० नि० ११

७८. सालंबणो पडंतो, अप्पाणं दुग्गमेऽवि धारेइ।
इय सालंबणसेवा, धारेइ जइं असढभावं॥

—आव० नि० १

७९. जह दूओ रायाणं, णमिउं कज्जं निवेइउं पच्छा।
वीसज्जिओवि वंदिय, गच्छइ साहूवि एमेव॥

—आव० नि० १

८०. अइनिद्धेण विसया उइज्जंति।

— आव० नि०

८१. थोवाहारो थोवभणिओ य, जो होइ थोवनिद्दो य।
थोवोवहि-उवगरणो, तस्स हु देवा वि पणमंति॥

—आव० नि० १२

८२. चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं।

—आव० नि० १४

८३. अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवु त्ति एव कयबुद्धी।
दुक्ख-परिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ॥

—आव० नि० १५

जान लेने मात्र से कार्य की सिद्धि नही हो जाती ।

तैरना जानते हुए भी यदि कोई जलप्रवाह मे कूद कर कायचेष्टा न करे, हाय पांव हिलाए नही, तो वह प्रवाह में डूब जाता है। धर्म को जानते हुए भी यदि कोई उस पर आचरण न करे तो वह संसारसागर को कैसे तैर सकेगा ?

जल ज्यो-ज्यो स्वच्छ होता है त्यों-त्यों द्रष्टा उसमे प्रतिविम्बित रूपों को स्पष्टतया देखने लगता है। इसी प्रकार अन्तर् मे ज्यो ज्यों तत्त्व रुचि जाग्रत होती है, त्यों त्यों आत्मा तत्त्वज्ञान प्राप्त करता जाता है ।

किसी आलंवन के सहारे दुर्गम गर्त आदि में नीचे उतरता हुआ व्यक्ति अपने को सुरक्षित रख सकता है। इसी प्रकार ज्ञानादिवर्धक किसी विशिष्ट हेतु का आलंवन लेकर अपवाद मार्ग में उतरता हुआ सरलात्मा साधक भी अपने को दोप से वचाए रख सकता है।

दूत जिस प्रकार राजा आदि के समक्ष निवेदन करने से पहले भी और पीछे भी नमस्कार करता है, वैसे है शिष्य को भी गुरुजनो के समक्ष जाते और आते समय नमस्कार करना चाहिए।

अतिस्निग्ध आहार करने से विषयकामना उद्दीप्त हो उठती है।

जो साधक थोडा खाता है, थोड़ा वोलता है, थोड़ी नीद लेता है और थोड़ी ही धर्मोपकरण की सामग्री रखता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

किसी एक विषय पर चित्त को स्थिर=एकाग्र करना ध्यान है।

८४. जे जत्तिश्रा श्र हेउ भवस्स, ते चेव तत्तिश्रा मुक्खे।

—श्रोघनिर्युक्ति ५

८५. इरिश्रावहमाईश्रा, जे चेव हवंति कम्मबंधाय।
अजयाणं ते चेव उ, जयाण निव्वाणगमणाय॥

—श्रोघ० नि० ५

८६. एगतेण निसेहो, जोगेसु न देसिश्रो विही वाऽवि।
दलिश्रं पप्प निसेहो, होज्ज विही वा जहा रोगे॥

—श्रोघ० नि० ५

८७. श्रणुमित्तो वि न कस्सई, बंधो परवत्थुपच्चश्रो भणिश्रो।

—श्रोघ० नि०

८८. मुत्तनिरोहेण चक्खू, वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ।

—श्रोघ० नि० ९

८९. हियाहारा मियाहारा, श्रप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, श्रप्पाणं ते तिगिच्छगा॥

श्रोघ० नि० ५७

९०. श्रतिरेगं अहिगरणं।

—श्रोघ० नि० ७

९१. श्रज्झत्थविसोहीए, उवगरणं बाहिरं परिहरंतो।
श्रप्परिग्गही त्ति भणिश्रो, जिणेहिं तेलोक्कदरिसीहिं॥

—श्रोघ० नि० ७

९२. श्रज्झत्थ विसोहीए, जीवनिकाएहिं संथडे लोए।
देसियमहिंसगत्तं, जिणेहिं तेलोक्कदरिसीहिं॥

—श्रोघ० नि० ७

९३. उच्चालियंमि पाए,
ईरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी,
मरिज्ज तं जोगमासज्ज॥

जो और जितने हेतु संसार के है, वे और उतने ही हेतु मोक्ष के हैं ।

जो ईर्यापथिक (गमनागमन) आदि क्रियाएँ असंयत के लिए कर्मबंध का कारण होती है, वे ही यतनाशील के लिए मुक्ति का कारण बन जाती है ।

जिन शासन में एकांत रूप से किसी भी क्रिया का न तो निषेध है, और न विधान ही है । परिस्थिति को देखकर ही उनका निषेध या विधान किया जाता है, जैसा कि रोग मे चिकित्सा के लिए ।

बाह्य वस्तु के आधार पर किसी को अणुमात्र भी कर्मबंध नही होता । (कर्मबंध अपनी भावना के आधार पर ही होता है) ।

अत्यधिक मूत्र के वेग को रोकने से आँखें नष्ट हो जाती है और तीव्र मल-वेग को रोकने से जीवन ही नष्ट हो जाता है ।

जो मनुष्य हिताहारी है, मिताहारी हैं और अल्पाहारी है, उन्हे किसी वैद्य से चिकित्सा करवाने की आवश्यकता नही, वे स्वयं ही अपने वैद्य है, चिकित्सक है ।

आवश्यकता से अधिक एवं अनुपयोगी उपकरण (सामग्री) अधिकरण ही (क्लेशप्रद एवं दोषरूप) हो जाते है ।

जो साधक बाह्य उपकरणो को अध्यात्म विशुद्धि के लिये धारण करता है, उसे त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवो ने अपरिग्रही ही कहा है ।

त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवो का कथन है कि अनेकानेक जीवसमूहों से परिव्याप्त विश्व मे साधक का अहिंसकत्व अन्तर मे अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नही ।

कभी-कभार ईर्यासमित साधु के पैर के नीचे भी कीट, पतंग आदि क्षुद्र प्राणी आ जाते है और दब कर मर भी जाते है—

८४. जे जत्तिआ अ हेउ भवस्स, ते चेव तत्तिआ मुक्खे।

— ओघनिर्युक्ति ५

८५. इरिआवहमाईआ, जे चेव हवंति कम्मबंधाय।
अजयाणं ते चेव उ, जयाण निव्वाणगमणाय॥

—ओघ० नि० ५

८६. एगतेण निसेहो, जोगेसु न देसिओ विही वाऽवि।
दलिअं पप्प निसेहो, होज्ज विही वा जहा रोगे॥

—ओघ० नि०

८७. अणुमित्तो वि न कस्सई, बंधो परवत्थुपच्चओ भणिओ।

—ओघ० नि०

८८. मुत्तनिरोहेण चक्खू, वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ।

—ओघ० नि० १

८९. हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा॥

ओघ० नि० ५

९०. अतिरेगं अहिगरणं।

—ओघ० नि० ७

९१. अज्झत्थविसोहीए, उवगरणं बाहिरं परिहरंतो।
अप्परिग्गही त्ति भणिओ, जिणेहिं तेलोक्कदरिसीहिं॥

—ओघ० नि० ७

९२. अज्झत्थ विसोहीए, जीवनिकाएहिं संथडे लोए।
देसियमहिंसगत्तं, जिणेहिं तेलोक्कदरिसीहिं॥

—ओघ० नि०

९३. उच्चालियंमि पाए,
ईरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी,
मरिज्ज तं जोगमासज्ज॥

जो और जितने हेतु संसार के है, वे और उतने ही हेतु मोक्ष के हैं।

. जो ईर्यापथिक (गमनागमन) आदि क्रियाएँ असंयत के लिए कर्मबंध का कारण होती है, वे ही यतनाशील के लिए मुक्ति का कारण बन जाती हैं।

. जिन शासन में एकांत रूप से किसी भी क्रिया का न तो निषेध है, और न विधान ही है। परिस्थिति को देखकर ही उनका निषेध या विधान किया जाता है, जैसा कि रोग मे चिकित्सा के लिए।

. वाह्य वस्तु के आधार पर किसी को अणुमात्र भी कर्मबंध नही होता। (कर्मवंध अपनी भावना के आधार पर ही होता है)।

. अत्यधिक मूत्र के वेग को रोकने से आँखें नष्ट हो जाती है और तीव्र मल-वेग को रोकने से जीवन ही नष्ट हो जाता है।

. जो मनुष्य हिताहारी है, मिताहारी है और अल्पाहारी है, उन्हें किसी वैद्य से चिकित्सा करवाने की आवश्यकता नही, वे स्वयं ही अपने वैद्य है, चिकित्सक है।

. आवश्यकता से अधिक एवं अनुपयोगी उपकरण (सामग्री) अधिकरण ही (क्लेशप्रद एवं दोषरूप) हो जाते है।

. जो साधक वाह्य उपकरणो को अध्यात्म विशुद्धि के लिये धारण करता है, उसे त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवो ने अपरिग्रही ही कहा है।

. त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवों का कथन है कि अनेकानेक जीवसमूहों से परिव्याप्त विश्व मे साधक का अहिसकत्व अन्तर में अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिसा या अहिंसा की दृष्टि से नही।

. इसी प्रकार ईर्यासमित साधु के पैर के नीचे भी कीट, पतंग आदि क्षुद्र प्राणी आ जाते हैं और दब कर मर भी जाते हैं—

न य तस्स तन्निमित्तो,
बंधो सुहुमोवि देसिओ समए।
अणवज्जो उ पओगेण,
सव्वभावेण सो जम्हा ॥

—ओघ० नि० ७४८-४९

९४. जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ॥
जे वि न वावज्जंती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सो उ।
सावज्जो उ पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा॥

—ओघ० नि० ७५२-५

९५. आया चेव अहिंसा, आया हिंस त्ति निच्छओ एसो।
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो॥

—ओघ० नि० ७५

९६. न य हिंसामेत्तेणं, सावज्जेणावि हिंसओ होइ।
सुद्धस्स उ संपत्ती, अफला भणिया जिणवरेहिं॥

—ओघ० नि० ७५

९७ जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स।
सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स॥

—ओघ० नि० ७

९८. निच्छयमवलंबंता, निच्छयतो निच्छयं अयाणंता।
नासंति चरणकरणं, बाहिरकरणालसा केइ॥

—ओघ० नि० ७

९९ [illegible] पि अच्छमाणो,
[illegible] [illegible]मणिओमीसे।
न य [illegible] [illegible]भावं,
[illegible] नियमा ॥

—ओघ० नि० [illegible]

परंतु उक्त हिंसा के निमित्त से उस साधु को सिद्धान्त मे सूक्ष्म भी कर्मबन्ध नही बताया है, क्योकि वह अन्तर मे सर्वतोभावेन उस हिंसा-व्यापार से निर्लिप्त होने के कारण अनवद्य=निष्पाप है।

जो प्रमत्त व्यक्ति है, उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी प्राणी मरजाते हैं, वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है।

परन्तु जो प्राणी नही मारे गये है, वह प्रमत्त उनका भी हिंसक ही है; क्यो कि वह अन्तर मे सर्वतोभावेन हिंसावृत्ति के कारण सविद्य है, पापात्मा है।

निश्चय दृष्टि से आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा। जो प्रमत्त है वह हिंसक है और जो अप्रमत्त है वह अहिंसक।

केवल बाहर मे दृश्यमान पापरूप हिंसा से ही कोई हिंसक नही हो जाता। यदि साधक अन्दर मे रागद्वेष से रहित शुद्ध है, तो जिनेश्वर देवों ने उसकी बाहर की हिंसा को कर्मबध का हेतु न होने से निष्फल बताया है।

जो यतनावान् साधक अन्तराविशुद्धि से युक्त है, और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा होने वाली विराधना (हिंसा) भी कर्मनिर्जरा का कारण है।

जो निश्चयदृष्टि के आलम्बन का आग्रह तो रखते है, परन्तु वस्तुतः उसके सम्बन्ध मे कुछ जानते-बूझते नही है। वे सदाचार की व्यवहार-साधना के प्रति उदासीन हो जाते हैं, और इस प्रकार सदाचार को ही मूलतः नष्ट कर डालते हैं।

वैडूर्यरत्न काच की मणियों मे कितने ही लम्बे समय तक क्यों न मिला रहे, पर अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण रत्न ही रहता है, कभी काच नही होता। (सदाचारी उत्तम पुरुष का जीवन भी ऐसा ही होता है)।

१००. जह बालो जंपंतो,
कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा,
मायामयविप्पमुक्को उ ॥
—ओघ० नि० ८०१

१०१. उद्धरिय सव्वसल्लो,
आलोइय निंदिओ गुरुसगासे।
होइ अतिरेगलहुओ,
ओहरियभरो व्व भारवहो ॥
—ओघ० नि० ८०६

१००. बालक जो भी उचित या अनुचित कार्य कर लेता है, वह सब सरल भाव से कह देता है। इसी प्रकार साधक को भी गुरुजनों के समक्ष दंभ और अभिमान से रहित होकर यथार्थ आत्मालोचन करना चाहिये।

१०१. जो साधक गुरुजनो के समक्ष मन के समस्त शल्यो (कांटों) को निकाल कर आलोचना, निंदा (आत्मनिंदा) करता है, उसकी आत्मा उसी प्रकार हलकी हो जाती है जैसे शिर का भार उतार देने पर भारवाहक।

आचार्य कुन्दकुन्द को सूक्तियाँ

●

१. तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणमसक्कं।

समयसार, ८

२. भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो।

समय० ११

३. ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदापि एकट्ठो॥

समय० २७

४. णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि,
रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते,
ण केवलिगुणा थुदा होंति॥

—समय० ३०

५. उवओग एव अहमिक्को।

—समय० ३७

६. अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदा रूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि॥

—समय० ३८

आचार्य कुन्दकुन्द की सूक्तियां

१. व्यवहार (नय) के विना परमार्थ (शुद्ध आत्मतत्त्व) का उपदेश करना अशक्य है।

२. जो भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ—शुद्ध दृष्टि का अवलम्बन करता है, वही सम्यग् दृष्टि है।

३. व्यवहार नय से जीव (आत्मा) और देह एक प्रतीत होते है, किंतु निश्चय दृष्टि से दोनों भिन्न है, कदापि एक नही है।

४. जिस प्रकार नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं होता, उसी प्रकार शरीर के गुणो का वर्णन करने से शुद्धात्मस्वरूप केवल ज्ञानी के गुणो का वर्णन नही हो सकता।

५. मैं (आत्मा) एक मात्र उपयोगमय = ज्ञानमय हूँ।

६. आत्म द्रष्टा विचार करता है कि—"मैं तो शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप, सदा [illegible] अमूर्त, एक शुद्ध शाश्वत तत्त्व हूं। परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नहीं है।"

७. णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करोदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं॥

—समय० ८३

८. अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि।

—समय० ९२

९. कम्ममसुहं कुसीलं,
सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं,
जं संसारं पवेसेदि॥

—समय० १४५

१०. रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।

—समय० १५०

११. वदणियमाणि धरंता, सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे, णिव्वाणं ते ण विंदंति॥

—समय० १५३

१२. जह कणयमग्गितवियं पि,
कणयभाव ण तं परिच्चयइ।
तह कम्मोदयतविदो,
ण जहदि णाणी दु णाणित्तं

—समय० १८४

१३. पक्के फलम्हि पडिए, जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेइ॥

—समय० १६८

१४. सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहइ॥

—समय० १८६

१५. जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।

—समय० १९३

१६. जह विसमुवभुंजंतो, वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं, तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी॥

—समय० १९५

१७. सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो कोई।

—समय० १९७

१८. अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो।

—समय० २१२

१९. णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पइ रजएण दु, कद्दममज्झे जहा कणयं॥
अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोह॥

—समय० २१८-२१९

२०. जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो॥

—समय० २५३

२१. ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि।

—समय० २६५

२२. आदा खु मज्झ णाणं, आदा मे दंसणं चरित्तं च।

—समय० [illegible]

२३. कह सो घिप्पइ अप्पा ? पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।

—समय० २९६

२४. जो ण कुणइ अवराहे, सो णिस्संको दु जणवए भमदि।

—समय० [illegible]

१६. जिस प्रकार वैद्य (औषध रूप मे) विष खाता हुआ भी विष से मरता नही, उसी प्रकार सम्यग् दृष्टि आत्मा कर्मोदय के कारण सुख दुख का अनुभव करते हुए भी उनसे वद्ध नही होता ।

१७. ज्ञानी आत्मा (अंतर् मे रागादि का अभाव होने के कारण) विषयो का सेवन करता हुआ भी, सेवन नही करता । अज्ञानी आत्मा (अन्तर् मे रागादि का भाव होने के कारण) विषयो का सेवन नही करता हुआ भी, सेवन करता है ।

१८. वास्तव मे अनिच्छा (इच्छामुक्ति) को ही अपरिग्रह कहा है ।

१९ जिस प्रकार कीचड़ मे पड़ा हुआ सोना कीचड़ से लिप्त नही होता, उसे जग नही लगता है, उसी प्रकार ज्ञानी ससार के पदार्थसमूह मे विरक्त होने के कारण कर्म करता हुआ भी कर्म से लिप्त नही होता ।

किंतु जिस प्रकार लोहा कीचड़ मे पड़कर विकृत हो जाता है, उसे जग लग जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पदार्थों मे राग भाव रखने के कारण कर्म करते हुए विकृत हो जाता है, कर्म से लिप्त हो जाता है ।

२०. जो ऐसा मानता हे कि "मै दूसरो को दुःखी या सुखी करता हूँ"—वह वस्तुत. अज्ञानी है। ज्ञानी ऐसा कभी नही मानते ।

२१. कर्मबंध वस्तु से नही, राग और द्वेष के अध्यवसाय—सकल्प से होता है ।

२२. मेरा अपना आत्मा ही ज्ञान (ज्ञानरूप) है, दर्शन है और चारित्र है ।

१६. जह विसमुवभुंजंतो, वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं, तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी॥
—समय० १६५

१७. सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो कोई।
—समय० १६७

१८. अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो।
—समय० २१२

१९. णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पइ रजएण दु, कद्दममज्झे जहा कणयं॥
अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोहं॥
—समय० २१८-२१९

२०. जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते ति।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो॥
—समय० २५३

२१. ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि।
—समय० २६५

२२. आदा खु मज्झ णाणं, आदा मे दंसणं चरित्तं च।
—समय० २७७

२३. कह सो घिप्पइ अप्पा? पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
—समय० २९६

२४. जो ण कुणइ अवराहे, सो णिस्संको दु जणवए भमदि
—समय० ३०२

१६. जिस प्रकार वैद्य (औषध रूप मे) विष खाता हुआ भी विष से मरता नही, उसी प्रकार सम्यग् दृष्टि आत्मा कर्मोदय के कारण सुख दुख का अनुभव करते हुए भी उनसे बद्ध नही होता।

१७. ज्ञानी आत्मा (अतर् मे रागादि का अभाव होने के कारण) विषयो का सेवन करता हुआ भी, सेवन नही करता। अज्ञानी आत्मा (अन्तर् मे रागादि का भाव होने के कारण) विषयो का सेवन नही करता हुआ भी, सेवन करता है।

१८. वास्तव मे अनिच्छा (इच्छामुक्ति) को ही अपरिग्रह कहा है।

१९ जिस प्रकार कीचड़ मे पड़ा हुआ सोना कीचड़ से लिप्त नही होता, उसे जंग नही लगता है, उसी प्रकार ज्ञानी ससार के पदार्थसमूह में विरक्त होने के कारण कर्म करता हुआ भी कर्म से लिप्त नही होता।

किंतु जिस प्रकार लोहा कीचड़ मे पड़कर विकृत हो जाता है, उसे जग लग जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पदार्थों मे राग भाव रखने के कारण कर्म करते हुए विकृत हो जाता है, कर्म से लिप्त हो जाता है।

२०. जो ऐसा मानता है कि "मै दूसरो को दुःखी या सुखी करता हूँ"—वह वस्तुतः अज्ञानी है। ज्ञानी ऐसा कभी नही मानते।

२१ कर्मबंध वस्तु मे नही, राग और द्वेष के अध्यवसाय—संकल्प से होता है।

२२. मेरा अपना आत्मा ही ज्ञान (ज्ञानरूप) है, दर्शन है और चारित्र है।

[illegible] [illegible] आत्मा किस प्रकार जाना जा सकता है? [illegible] भेदविज्ञान रूप बुद्धि से ही जाना जा सकता है।

२५. ण मुयइ पयडिमभव्वो, सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिबंता, ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥

—समय० ३१७

२६. सत्थं णाणं ण हवइ, जम्हा सत्थं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सत्थं जिणा बिंति ॥

—समय० ३९०

२७. चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥

—प्रवचनसार १।७

२८. आदा धम्मो मुणेदव्वो।

—प्रवचन० १।८

२९. जीवो परिणमदि जदा,
सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो
हवदि हि परिणामसब्भावो।

—प्रवचन० १।९

३०. णत्थि विणा परिणामं, अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।

—प्रवचन० १।१०

३१. समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति।

—प्रवचन० १।१४

३२. आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥

—प्रवचन० १।२३

३३. तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति ?

—प्रवचन० १।६७

३४. सपरं बाधासहियं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इन्दियेहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥

—प्रवचन० १।७६

१५. अभव्य जीव चाहे कितने ही शास्त्रो का अध्ययन कर ले, किंतु फिर भी वह अपनी प्रकृति (स्वभाव) नही छोड़ता। सांप चाहे कितना ही गुड़-दूध पी ले, किंतु अपना विषैला स्वभाव नही छोड़ता।

१६. शास्त्र, ज्ञान नही है, क्योकि शास्त्र स्वयं मे कुछ नही जानता है। इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है।

१७. चारित्र ही वास्तव मे धर्म है, और जो धर्म है, वह समत्व है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का अपना शुद्ध परिणमन ही समत्व है।

१८. आत्मा ही धर्म है, अर्थात् धर्म आत्मस्वरूप होता है।

२९. आत्मा परिणमन स्वभाव वाला है, इसलिए जब वह शुभ या अशुभ भाव मे परिणत होता है, तब वह शुभ या अशुभ हो जाता है। और जब शुद्ध भाव मे परिणत होता है, तब वह शुद्ध होता है।

३०. कोई भी पदार्थ विना परिणमन के नही रहता है, और परिणमन भी विना पदार्थ के नही होता है।

३१. जो सुख दुःख मे समान भाव रखता है, वही वीतराग श्रमण शुद्धोपयोगी कहा गया है।

३२. आत्मा ज्ञानप्रमाण (ज्ञान जितना) है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण (ज्ञेय जितना) है, और ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है; इस दृष्टि से ज्ञान सर्वव्यापी हो जाता है।

३३. जिसकी दृष्टि ही स्वयं अंधकार का नाश करने वाली है, उसे दीपक क्या प्रकाश देगा? इसी प्रकार जब आत्मा स्वयं सुख-रूप है तो, उसे विषय क्या सुख देंगे?

३५. किरिया हि णत्थि अफला, धम्मो जदि णिप्फलो परमो।

—प्रवचन० २।२४

३६. असुहो मोह-पदोसो, सुहो व असुहो हवदि रागो।

—प्रवचन० २।८८

३७. कीरदि अज्झवसाणं, अहं ममेदं ति मोहादो।

—प्रवचन० २।९१

३८. मरदु व जियदु व जीवो,
अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो,
हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

—प्रवचन० ३।१

३९. चरदि जदं जदि णिच्चं, कमलं व जले णिरुवलेवो।

—प्रवचन० ३।१

४०. ण हि णिरवेक्खो चागो,
ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स हि चित्ते,
कहं णु कम्मक्खओ होदि ॥

—प्रवचन० ३।२

४१. इहलोगणिरावेक्खो,
अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि।
जुत्ताहार-विहारो,
रहिदकसाओ हवे समणो ॥

—प्रवचन० ३।२

४२. जस्स अणेसणमप्पा त पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥

—प्रवचन ३।२

४३. आगमहीणो समणो, णेवप्पाणं परं वियाणादि।

—प्रवचन० ३।३

३५. संसार की कोई भी मोहात्मक क्रिया निष्फल (बंधनरहित) नही है, एक मात्र धर्म ही निष्फल है, अर्थात् स्व-स्वभाव रूप होने से बन्धन का हेतु नही है।

३६. मोह और द्वेष अशुभ ही होते है, राग शुभ और अशुभ दोनो होता है।

३७. मोह के कारण ही मै और मेरे का विकल्प होता है।

३८. बाहर मे प्राणी मरे या जीये, अयताचारी—प्रमत्त को अन्दर मे हिंसा निश्चित है। परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समितिवाला है, उसको बाहर मे प्राणी की हिंसा होने मात्र से कर्मबन्ध नही है, अर्थात् वह हिंसा नही है।

३९. यदि साधक प्रत्येक कार्य यतना से करता है, तो वह जल मे कमल की भांति निर्लेप रहता है।

४०. जब तक निरपेक्ष त्याग नही होता है, तब तक साधक की चित्तशुद्धि नही होती है। और जब तक चित्तशुद्धि (उपयोग की निर्मलता) नही होती है, तब तक कर्मक्षय कैसे हो सकता है?

४१. जो कषायरहित है, इस लोक से निरपेक्ष है, परलोक मे भी अप्रतिबद्ध —अनासक्त है, और विवेकपूर्वक आहार-विहार की चर्या रखता है, वही सच्चा श्रमण है।

४२. परवस्तु की आसक्ति से रहित होना ही, आत्मा का निराहारस्वरूप वास्तविक तप है। अस्तु, जो श्रमण भिक्षा मे दोषरहित शुद्ध आहार ग्रहण करता है, वह निश्चय दृष्टि से अनाहार (तपस्वी) ही है।

४४. आगम चक्खू साहू,
इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।

—प्रवचन० ३।३

४५. जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्स-कोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥[1]

—प्रवचन० ३।३

४६. कत्ता भोत्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो ।

—नियमसार

४७. जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।

—नियम० ४७

४८. झाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥

—नियम० ९३

४९. केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चिंतए णाणी ।

—नियम० ९६

५०. आलंबणं च मे आदा ।

—नियम० ९९

५१. एगो मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥[2]

—नियम० १०२

५२. सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झ न केणइ ।

—नियम० १०४

५३. कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।

—नियम० ११०

१. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, १०१
२. आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक, २६

४४. अन्य सब प्राणी इन्द्रियो की आंख वाले है, किन्तु साधक आगम की आँख वाला है।

४५. अज्ञानी साधक बाल तप के द्वारा लाखो-करोड़ो जन्मो मे जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म मन, वचन काया को संयत रखने वाला ज्ञानी साधक एक श्वास मात्र मे खपा देता है।

४६. आत्मा पुद्‌गल कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता है, यह मात्र व्यवहार दृष्टि है।

४७. जैसी शुद्ध आत्मा सिद्धों (मुक्त आत्माओ) की है, मूल स्वरूप से वैसी ही शुद्ध आत्मा संसारस्थ प्राणियो की है।

४८. ध्यान मे लीन हुआ साधक सब दोषों का निवारण कर सकता है। इसलिए ध्यान ही समग्र अतिचारों (दोपो) का प्रतिक्रमण है।

४९ "मै केवल शक्तिस्वरूप हूँ"—ज्ञानी ऐसा चितन करे।

५०. मेरा अपना आत्मा ही मेरा अपना एकमात्र आलंबन है।

५१. ज्ञान-दर्शन स्वरूप मेरा आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है, इससे भिन्न जितने भी (राग द्वेष, कर्म, शरीर आदि) भाव है, वे सब संयोगजन्य बाह्य भाव है, अतः वे मेरे नही है।

५२. सब प्राणियो के प्रति मेरा एक जैसा समभाव है, किसी से मेरा वैर नही है।

५३. [illegible] के मूल को काटने वाला आत्मा का अपना ही निजभाव [illegible] है।

५४. जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ।

—नियम० १२३

५५. अन्तर-बाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥

—नियम० १

५६. अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पगो न संदेहो ।

—नियम० १

५७. दव्वं सल्लक्खणयं, उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।

—पंचास्तिकाय

५८. दव्वेण विणा न गुणा, गुणेहि दव्वं विणा न संभवदि ।

—पंचास्ति०

५९. भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।

—पंचास्ति०

६०. चारित्तं समभावो ।

—पंचास्ति० १

६१. सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावं ति हवदि जीवस्स ।

—पंचास्ति० १

६२. रागो जस्स पसत्थो, अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं, पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥

—पंचास्ति० १

६३. चरिया पमादबहुला, कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो, पावस्स य आसवं कुणदि ॥

—पंचास्ति० १

६४. जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं, समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥

—पंचास्ति० १

५४. जो अपनी आत्मा का ध्यान करता है, उसे परम समाधि की प्राप्ति होती है।

५५. जो अन्दर एवं बाहिर के जल्प (वचनविकल्प) में रहता है वह बहिरात्मा है। और जो किसी भी जल्प मे नही रहता, वह अन्तरात्मा कहलाता है।

५६. यह निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा के विना ज्ञान नही, और ज्ञान के विना आत्मा नही।

५७. द्रव्य का लक्षण सत् है, और वह सदा उत्पाद, व्यय एवं ध्रुवत्व भाव से युक्त होता है।

५८. द्रव्य के विना गुण नही होते है और गुण के विना द्रव्य नही होते।

५९. भाव (सत्) का कभी नाश नही होता और अभाव (असत्) का कभी उत्पाद (जन्म) नही होता।

६०. समभाव ही चारित्र है।

६१. आत्मा का शुभ परिणाम (भाव) पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है।

६२. जिस का राग प्रशस्त है, अन्तर् मे अनुकंपा की वृत्ति है और मन मे कलुष भाव नही है, उस जीव को पुण्य का आश्रव होता है।

६३. प्रमादयुक्त चर्या, मन की कलुषता, विषयों के प्रति लोलुपता, पर-परिताप (परपीडा) और परनिंदा—इन से पाप का आश्रव (आगमन) होता है।

६५ दंसणमूलो धम्मो ।

—दर्शन पाहुड, २

६६. दंसणहीणो ण वंदिव्वो ।

—दर्शन० २

६७. तस्स य दोस कहंता, भग्गा भग्गत्तणं दिंति ।

—दर्शन० ६

६८ मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ।

—दर्शन० १०

६९. अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ।

—दर्शन० २०

७०. सोवाणं पढम मोक्खस्स ।

—दर्शन० २१

७१. णाणं णरस्स सारो ।

—दर्शन० ३१

७२. हेयाहेयं च तहा, जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ।

—सूत्रपाहुड ५

७३. गाहेण अप्पगाहा, समुद्दसलिले सचेल-अत्थेण ।

—सूत्र० २७

७४. जं देइ दिक्ख सिक्खा, कम्मक्खयकारणे सुद्धा ।

—बोध पाहुड १६

७५. धम्मो दयाविसुद्धो ।

—बोध० २५

७६. तणकणए समभावा, पव्वज्जा एरिसा भणिया ।

—बोध० ४७

६५. धर्म का मूल दर्शन—(सम्यक् श्रद्धा) है।

६६. जो दर्शन से हीन—(सम्यक् श्रद्धा से रहित, या पतित) है, वह वन्दनीय नहीं है।

६७. धर्मात्मा पुरुष के प्रति मिथ्या दोष का आरोप करने वाला, स्वयं भी भ्रष्ट—पतित होता है और दूसरो को भी भ्रष्ट—पतित करता है।

६८. सम्यक्त्व रूप मूल के नष्ट हो जाने पर मोक्षरूप फल की प्राप्ति नही होती।

६९. निश्चय दृष्टि से आत्मा ही सम्यक्त्व है।

७०. सम्यग् दर्शन (सम्यक् श्रद्धा) मोक्ष की पहली सीढ़ी है।

७१. ज्ञान मनुष्यजीवन का सार है।

७२. जो हेय और उपादेय को जानता है, वही वास्तव मे सम्यग् दृष्टि है।

७३. ग्राह्य वस्तु मे से भी अल्प (आवश्यकतानुसार) ही ग्रहण करना चाहिए। जैसे समुद्र के अथाह जल मे से अपने वस्त्र धोने के योग्य अल्प ही जल ग्रहण किया जाता है।

७४. आचार्य वह है—जो कर्म को क्षय करने वाली शुद्ध दीक्षा और शुद्ध शिक्षा देता है।

७५. जिसमें दया की पवित्रता है, वही धर्म है।

७७. जह णवि लहदि हु लक्खं,
रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो ।
तह णवि लक्खदि लक्खं,
अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥

—बोध० २१

७८. भावो कारणभूदो, गुणदोसाणं जिणा विंति ।

—भाव पाहुड २

७९. भावरहिओ न सिज्झइ ।

—भाव० ४

८०. बाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरगंथजुत्तस्स ।

—भाव० १३

८१. अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो ।

—भाव० ३१

८२. दुज्जणवयणचडक्कं, णिट्ठुर कडुयं सहंति सप्पुरिसा ।

—भाव० १०७

८३. परिणामादो बंधो, मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ।

—भाव० ११६

८४. छिंदंति भावसमणा, झाणकुठारेहि भवरुक्ख ।

—भाव० १२२

८५. तह रायानिलरहिओ, झाणपईवो वि पज्जलई ।

—भाव० १२३

८६. उत्थरइ जा ण जरओ, रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं ।
इन्दियबलं न वियलइ, ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥

—भाव० १३२

८७. जीवविमुक्को सवओ, दसणमुक्को य होइ चलसवओ ।
सवओ लोयअपुज्जो, लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥

—भाव० १४३

७७. जिस प्रकार धनुर्धर बाण के बिना लक्ष्यवेध नही कर सकता है, उसी प्रकार साधक भी विना ज्ञानके मोक्ष के लक्ष्यको नही प्राप्त कर सकता।

७८. गुण और दोष के उत्पन्न होने का कारण भाव ही है।

७९. भाव (भावना) से शून्य मनुष्य कभी सिद्धि प्राप्त नही कर सकता।

८०. जिस के आभ्यन्तर में ग्रन्थि (परिग्रह) है, उसका बाह्य त्याग व्यर्थ है।

८१. जो आत्मा, आत्मा मे लीन है, वही वस्तुतः सम्यग् दृष्टि है।

८२. सज्जन पुरुष, दुर्जनो के निष्ठुर और कठोर वचन रूप चपेटो को भी समभाव पूर्वक सहन करते है।

८३. परिणाम (भाव) से ही बधन और परिणाम से ही मोक्ष होता है, ऐसा जिनशासन का कथन है।

८४. जो भाव मे श्रमण है, वे ध्यानरूप कुठार से भव-वृक्ष को काट डालते है।

८५. हवा से रहित स्थान मे जैसे दीपक निर्विघ्न जलता रहता है, वैसे ही राग की वायु से मुक्त रहकर (आत्ममदिर मे) ध्यान का दीपक सदा प्रज्ज्वलित रहता है।

८६. जब तक बुढ़ापा आक्रमण नहीं करता है, रोगरूपी अग्नि देहरूपी झोंपड़ी को जलाती नहीं है, इन्द्रियों की शक्ति विगलित—क्षीण नहीं होती है, तब तक तुम आत्म-हित के लिए प्रयत्न कर लो।

८८. अप्पो वि य परमप्पो, कम्मविमुक्को य होइ फुडं।

—भाव० १५१

८९. दुक्खे णज्जइ अप्पा।

—मोक्ष पाहुड ६५

९०. तिपयारो सो अप्पा, परमंतरबाहिरो दु हेऊणं।

—मोक्ष० ४

९१. अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।

—मोक्ष० ५

९२. जो सुत्तो ववहारे, सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे, सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥

—मोक्ष० ३१

९३. आदा हु मे सरणं।

—मोक्ष० १०५

९४. सीलेण विणा विसया, णाणं विणासंति।

—शील पाहुड २

९५. णाणं चरित्तसुद्धं....थोओ पि महाफलो होई।

—शील० ६

९६. सीलगुणवज्जिदाणं, णिरत्थयं माणुसं जम्म।

—शील० १५

९७. जीवदया दम सच्चं, अचोरियं बंभचेर संतोसे।
सम्मद्दंसण-णाणे, तओ य सीलस्स परिवारो॥

—शील० १९

९८. सीलं मोक्खस्स सोवाणं।

—शील० २०

९९. सीलं विसयविरागो।

—शील० ४०

८८. आत्मा जब कर्म-मल से मुक्त हो जाता है, तो वह परमात्मा बन जाता है।

८९. आत्मा बड़ी कठिनता से जाना जाता है।

९०. आत्मा के तीन प्रकार है—परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा। (इनमे बहिरात्मा से अन्तरात्मा, और अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढ़ें)।

९१. इन्द्रियो मे आसक्ति बहिरात्मा है, और अन्तरंग में आत्मानुभव रूप आत्मसंकल्प अन्तरात्मा है।

९२. जो व्यवहार (-संसार) के कार्यो मे सोता (उदासीन) है, वह योगी स्वकार्य मे जागता (सावधान) है। और जो व्यवहार के कार्यों में जागता है वह आत्मकार्यों में सोता है।

९३. आत्मा ही मेरा शरण है।

९४. शील (सदाचार) मोक्ष का सोपान है।

९५. चारित्र से विशुद्ध हुआ ज्ञान, यदि अल्प भी है, तब भी वह महान फल देने वाला है।

९६. शीलगुण से रहित व्यक्ति का मनुष्य जन्म पाना निरर्थक ही है।

९७. इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहना, शील है।

९८. शील (सदाचार) के बिना इन्द्रियों के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

भाष्यसाहित्य की सूक्तियां

●

१. गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयपरिसित्तु व्व पावओ भाइ ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहूणो जह पईवो ॥
—बृहत्कल्पभाष्य २४५

२. को कल्लाणं निच्छइ ।
—बृह० भा० २४७

३. जो उत्तमेहि पहओ, मग्गो सो दुग्गमो न सेसाणं ।
—बृह० भा० २४६

४. जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया ।
जावइया अववाया, उस्सग्गा तत्तिया चेव ॥
—बृह० भा० ३२२

५. अंवत्तणेण जीहाइ कूइया होइ खीरमुदगम्मि ।
हंसो मोत्तूण जलं, आपियइ पयं तह सुसीसो ॥
—बृह० भा० ३४७

६. मसगो व्व तुदं जच्चाइएहिं निच्छुब्भइ कुसीसो वि ।
—बृह० भा० ३५२

७. अद्दागसमो साहू ।
—बृह० भा० ८१३

भाष्यसाहित्य की सूक्तियां

●

१. गुणवान व्यक्ति का वचन घृतसिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी होता है, जब कि गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेह-रहित (तैलशून्य) दीपक की तरह तेज और प्रकाश से शून्य होता है।

२. संसार मे कौन ऐसा है, जो अपना कल्याण न चाहता हो ?

३. जो मार्ग महापुरुषो द्वारा चलकर प्रहत=सरल बना दिया गया है, वह अन्य सामान्य जनो के लिए दुर्गम नही रहता।

४. जितने उत्सर्ग (निषेधवचन) है, उतने ही उनके अपवाद (विधिवचन) भी है। और जितने अपवाद हैं उतने ही उत्सर्ग भी है।

[illegible] जिस प्रकार अपनी जिह्वा की अम्लता-शक्ति के द्वारा जलमिश्रित हुए [illegible] जल को छोड़कर दूध को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार [illegible] दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुणों को ग्रहण करता है।

[illegible] गुरु को, जाति आदि की निन्दा द्वारा, मच्छर की तरह दुःख [illegible] रहता है, वह मच्छर की तरह ही भगा दिया जाता है।

[illegible] के समान निर्मल होना चाहिए।

८. पावाणं जदकरणं, तदेव खलु मंगलं परमं ।

—बृह० भा० ८१४

९. रज्जं विलुत्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो ।

—बृह० भा० ९३७

१०. जह ण्हाउत्तिण्ण गओ, बहुअतरं रेणुयं छुभइ अंगे ।
सुट्ठु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणी मलं चिणइ ।

—बृह० भा० ११४३

११. न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झाय समं तवोकम्मं ।

—बृह० भा० ११६९

१२. जो वि पगासो बहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो ।
जच्चंधस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु ॥

—बृह० भा० १२२४

१३. कत्थ व न जलइ अग्गी, कत्थ व चंदो न पायडो होइ ?
कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा ॥

—बृह० भा० १२४१

१४. सुक्किधणम्मि दिप्पइ, अग्गी मेहरहिओ ससी भाइ ।
तव्विहजणे य निउणे, विज्जा पुरिसा वि भायंति ॥

—बृह० भा० १[illegible]

१५. को नाम सारहीणं, स होइ जो भद्दवाइणो दमए ।
दुट्ठे वि उ जो आसे, दमेइ तं आसियं विंति ॥

—बृह० भा० १२

१६. माई अवन्नवाई, किव्विसियं भावणं कुव्वइ ।

—बृह० भा० १३

१७. काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ ।

—बृह० भा० १३

८. पाप कर्म न करना ही वस्तुतः परम मंगल है।

राजा के द्वारा ठीक तरह से देख भाल किए विना जैसे कि राज्य ऐश्वर्य-हीन हो जाता है, वैसे ही आचार्य के द्वारा ठीक तरह से संभाल किए विना संघ भी श्रीहीन हो जाता है।

'. जिस प्रकार हाथी स्नान करके फिर बहुत सी धूल अपने ऊपर डाल लेता है, वैसे ही अज्ञानी साधक साधना करता हुआ भी नया कर्ममल संचय करता जाता है।

१. स्वाध्याय के समान दूसरा तप न अतीत मे कभी हुआ, न वर्तमान मे कही है, और न भविष्य मे कभी होगा।

२. शास्त्र का बार-बार अध्ययन कर लेने पर भी यदि उसके अर्थ की साक्षात् स्पष्ट अनुभूति न हुई हो, तो वह अध्ययन वैसा ही अप्रत्यक्ष रहता है, जैसा कि जन्मांध के समक्ष चंद्रमा प्रकाशमान होते हुए भी अप्रत्यक्ष ही रहता है।

३. अग्नि कहाँ नही जलती है? चन्द्रमा कहाँ नही प्रकाश करता है? और श्रेष्ठ लक्षणो (गुणो) से युक्त सत्पुरुष कहाँ नही प्रतिष्ठा पाते है? अर्थात् सर्वत्र पाते है।

१४. सूखे ईंधन मे अग्नि प्रज्वलित होती है, बादलो से रहित स्वच्छ आकाश मे चन्द्र प्रकाशित होता है, इसी प्रकार चतुर लोगो मे विद्वान् शोभा-(यश) पाते है।

१५ उस शालिहक (घुड़ सवार) का क्या महत्त्व है, जो सीधे-सादे घोडो को काबू में करता है? वास्तव मे घुड़सवार तो उसे कहा जाता है, जो दुष्ट (अड़ियल) घोड़ों को भी काबू में किए चलता है।

१८. जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो।
एसो उ निरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं॥
—बृह० भा० १३२०

१९. अप्पाहारस्स न इंदियाइं, विसएसु संपत्तंति।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि॥
—बृह० भा० १३३१

२०. तं तु न विज्जइ सज्झं, जं धिइमंतो न साहेइ।
—बृह० भा० १३५

२१. धंतं पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्धं अधेणूतो।
—बृह० भा० १६

२२. सीहं पालेइ गुहा, अविहाडं तेण सा महिड्ढीआ।
तस्स पुण जोव्वणम्मि, पओअणं कि गिरिगुहाए?
—बृह० भा० २११५

२३. न य सो भावो विज्जइ, अदोसवं जो अनिययस्स।
—बृह० भा० २१३८

२४. वालेण य न छलिज्जइ, ओसहहत्थो वि किं गाहो?
—बृह० भा० २१६

२५. उदगघडे वि करगए, किमोगमादीवितं न उज्जलइ।
अइइद्धो वि न सक्कइ. विनिव्ववेउं कुडजलेणं॥
—बृह० भा० २१

२६. चूयफलदोसदरिसी, चूयच्छायंपि वज्जेई।
—बृह० भा० २

२७. छाएउं च पभाय, न वि सक्का पडसएणावि।
—बृह० भा० २

. जो कठोरहृदय दूसरे को पीडा से प्रकंपमान देखकर भी प्रकम्पित नही होता, वह निरनुकंप (अनुकंपारहित) कहलाता है। चूँकि अनुकंपा का अर्थ ही है—काँपते हुए को देखकर कंपित होना।

. जो अल्पाहारी होता है उसकी इंद्रियां विषयभोग की ओर नही दौड़ती, तप का प्रसग आने पर भी वह क्लांत नही होता और न ही सरस भोजन मे आसक्त होता है।

. वह कौन सा कठिन कार्य है, जिसे धैर्यवान् व्यक्ति सपन्न नही कर सकता ?

. दूध पाने की कोई कितनी ही तीव्र आकाक्षा क्यो न रखे, पर बाझ गाय से कभी दूध नही मिल सकता।

. गुफा बचपन मे सिह-शिशु की रक्षा करती है, अतः तभी तक उसकी उपयोगिता है। जब सिह तरुण हो गया तो फिर उसके लिए गुफा का क्या प्रयोजन है ?

. पुरुषार्थहीन व्यक्ति के लिए ऐसा कोई कार्य नही, जो कि निर्दोष हो, अर्थात् वह प्रत्येक कार्य मे कुछ न कुछ दोष निकालता ही रहता है।

. हाथ मे नागदमनी औषधि के होते हुए भी क्या सर्प पकड़ने वाला गारुडी दुष्ट सर्प से नही छला जाता है, काट लिया नहीं जाता है ? (साधक को भी तप आदि पर विश्वस्त होकर नही बैठ जाना चाहिए। हर क्षण विकारो से सतर्क रहने की आवश्यकता है।)

. [illegible] के हाथ मे जल से भरा घड़ा होते हुए भी क्या आग लगने पर घर नहीं जल जाता है ? अवश्य जल जाता है। क्योकि सब ओर [illegible] प्रदीप्त हुआ दावानल एक घडे के जल से बुझ नहीं सकता है ? ([illegible] बाधक हो, उतना ही महान् साधन होना चाहिए।)

२८. अवच्छलत्तं य दंसणे हाणी ।

—बृह० भा० २७१

२९. अकसायं खु चरित्तं, कसायसहिओ न संजओ होइ ।

—बृह० भा० २७१

३०. जो पुण जतणारहिओ, गुणो वि दोसायते तस्स ।

—बृह० भा० ३१८

३१. कुलं विणासेइ सयं पयाता,
नदीव कूलं कुलडा उ नारी ।

—बृह० भा० ३२१

३२. अंधो कहिं कत्थइ देसियत्तं ?

—बृह० भा० ३२५

३३. वसुंधरेयं जह वीरभोज्जा ।

—बृह० भा० ३२५

३४. ण सुत्तमत्थं अतिरिच्च जाती ।

—बृह० भा० ३६१

३५. जस्सेव पभावुम्मिल्लिताइं तं चेव हयकतग्घाइं ।
कुमुदाइं अप्पसंभावियाइं चंदं उवहसंति ॥

—बृह० भा० ३६१

३६. जहा जहा अप्पतरो से जोगो,
तहा तहा अप्पतरो से वंधो ।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति,
अछिद्दपोतस्स व अंबुणाधे ॥

—बृह० भा० ३८९

३७. आहच्च हिंसा समितस्स जा तू,
सा दव्वतो होति ण भावतो उ ।
भावेण हिंसा तु असंजतस्सा,
जे वा वि सत्ते ण सदा वधेति ॥

—बृह० भा० ३९३

२८. धार्मिक जनों मे परस्पर वात्सल्य भाव की कमी होने पर सम्यग्दर्शन की हानि होती है।

२९. अकषाय (वीतरागता) ही चारित्र है। अतः कषायभाव रखने वाला सयमी नही होता।

३०. जो यतनारहित है, उसके लिए गुण भी दोष बन जाते है।

३१. स्वच्छंद आचरण करने वाली नारी अपने दोनो कुलो (पितृकुल व श्वसुर-कुल) को वैसे ही नष्ट कर देती है, जैसे कि स्वच्छद बहती हुई नदी अपने दोनो कूलो (तटों) को।

३२. कहाँ अंधा और कहाँ पथप्रदर्शक ?
(अधा और मार्गदर्शक, यह कैसा मेल ?)

३३. यह वसुंधरा वीरभोग्या है।

३४. सूत्र, अर्थ (व्याख्या) को छोड़कर नही चलता है।

३५. जिस चन्द्र की ज्योत्स्ना द्वारा कुमुद विकसित होते है, हन्त ! वे ही कृतघ्न होकर अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करते हुए उसी चन्द्रमा का उपहास करने लग जाते है।

३६. जैसे-जैसे मन, वचन, काया के योग (संघर्ष) अल्पतर होते जाते है, वैसे-वैसे बंध भी अल्पतर होता जाता है। योगचक्र का पूर्णत. निरोध होने पर आत्मा मे बंध का सर्वथा अभाव हो जाता है, जैसे कि समुद्र मे रहे हुए अछिद्र जलयान मे जलागमन का अभाव होता है।

२८. अवच्छलत्तं य दंसणे हाणी ।

—बृह० भा० २

२९. अकसायं खु चरित्तं, कसायसहिओ न संजओ होइ ।

—बृह० भा० २

३०. जो पुण जतणारहिओ, गुणो वि दोसायते तस्स ।

—बृह० भा० ३

३१. कुलं विणासेइ सयं पयाता,
नदीव कूलं कुलडा उ नारी ।

—बृह० भा० ३

३२. अंधो कहिं कत्थइ देसियत्तं ?

—बृह० भा० ३

३३. वसुंधरेयं जह वीरभोज्जा ।

—बृह० भा० ३२

३४. ण सुत्तमत्थं अतिरिच्च जाती ।

—बृह० भा० ३६

३५. जस्सेव पभावुम्मिल्लिताइं तं चेव हयकतग्घाइं ।
कुमुदाइं अप्पसंभावियाइं चंदं उवहसंति ॥

—बृह० भा० ३६

३६. जहा जहा अप्पतरो से जोगो,
तहा तहा अप्पतरो से बंधो ।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति,
अछिद्दपोतस्स व अंबुणाधे ॥

—बृह० भा० ३६३

३७. आहच्च हिंसा समितस्स जा तू,
सा दव्वतो होति ण भावतो उ ।
भावेण हिंसा तु असंजतस्सा,
जे वा वि सत्तो ण सदा वधेति ॥

—बृह० भा० ३६३

२८. धार्मिक जनों मे परस्पर वात्सल्य भाव की कमी होने पर सम्यग्दर्शन की हानि होती है।

२९. अकषाय (वीतरागता) ही चारित्र है। अतः कषायभाव रखने वाला सयमी नही होता ।

३०. जो यतनारहित है, उसके लिए गुण भी दोष बन जाते है।

३१. स्वच्छंद ग्राचरण करने वाली नारी अपने दोनो कुलो (पितृकुल व श्वसुर-कुल) को वैसे ही नष्ट कर देती है, जैसे कि स्वच्छंद बहती हुई नदी अपने दोनो कूलो (तटो) को।

३२. कहाँ ग्रंधा और कहाँ पथप्रदर्शक ?
(ग्रंधा और मार्गदर्शक, यह कैसा मेल ?)

३३. यह वसुंधरा वीरभोग्या है।

३४. सूत्र, अर्थ (व्याख्या) को छोड़कर नही चलता है।

३५. जिस चन्द्र की ज्योत्स्ना द्वारा कुमुद विकसित होते है, हन्त ! वे ही कृतघ्न होकर ग्रपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करते हुए उसी चन्द्रमा का उपहास करने लग जाते है ।

३६. जैसे-जैसे मन, वचन, काया के योग (संघर्ष) अल्पतर होते जाते है, वैसे-वैसे बंध भी ग्रल्पतर होता जाता है। योगचक्र का पूर्णत. निरोध होने पर आत्मा मे वध का सर्वथा अभाव हो जाता है, जैसे कि समुद्र में रहे हुए अच्छिद्र जलयान मे जलागमन का अभाव होता है।

३७. सयमी साधक के द्वारा कभी हिसा हो भी जाय तो वह द्रव्य हिसा होती है, भाव हिसा नही। कितु जो असंयमी है, वह जीवन मे कभी किसी का वध न करने पर भी, भावरूप से सतत हिंसा करता रहता है।

३८. जाणं करेति एक्को, हिंसमजाणमपरो अविरतो य।
तत्थ वि बंधविसेसो, महंतरं देसितो समए॥
—बृह० भा० ३९३८

३९. विरतो पुण जो जाणं, कुणति अजाणं व अप्पमत्तो वा।
तत्थ वि अज्झत्थसमा, संजायति णिज्जरा ण चयो॥
—बृह० भा० ३९३९

४०. देहबलं खलु विरियं, बलसरिसो चेव होति परिणामो।
—बृह० भा० ३९४

४१. संजमहेऊ जोगो, पउज्जमाणो अदोसवं होइ।
जह आरोग्गणिमित्तं, गंडच्छेदो व विज्जस्स॥
—बृह० भा० ३९५

४२. ण भूसणं भूसयते सरीरं, विभूसणं सील हिरी य इत्थिए।
—बृह० भा० ४११

४३. गिरा हि संखारजुया वि संसती, अपेसला होइ असाहुवादिणी
—बृह० भा० ४१

४४. बाला य बुड्ढा य अजंगमा य, लोगे वि एते अणुकंपणिज्जा।
—बृह० भा० ४३

४५. न य मूलविभिन्नए घडे, जलमादीणि धलेइ कण्हुई।
—बृह० भा० ४३

४६. जहा तवस्सी धुणते तवेणं, कम्मं तहा जाण तवोऽणुमंता।
—बृह० भा० ४४

३८. एक अविरत (असंयमी) जानकर हिसा करता है और दूसरा अनजान में। शास्त्र मे इन दोनो के हिसाजन्य कर्मबंध मे महान अन्तर बताया है।[1] अर्थात् तीव्र भावो के कारण जानने वाले को अपेक्षाकृत कर्मबंध तीव्र होता है।

३९. अप्रमत्त संयमी (जागृत साधक) चाहे जान मे (अपवाद स्थिति मे) हिसा करे या अनजान से, उसे अन्तरंग शुद्धि के अनुसार निर्जरा ही होगी, बन्ध नही।

४०. देह का बल ही वीर्य है और बल के अनुसार ही आत्मा में शुभाशुभ भावों का तीव्र या मंद परिणमन होता है।

४१. संयम के हेतु की जाने वाली प्रवृत्तियाँ निर्दोष होती है, जैसे कि वैद्य के द्वारा किया जाने वाला व्रणच्छेद (फोड़े का ऑपरेशन) आरोग्य के लिए होने से निर्दोष होता है।

२. नारी का आभूषण शील और लज्जा है। बाह्य आभूषण उसकी शोभा नही बढा सकते।

३. संस्कृत, प्राकृत आदि के रूप मे सुसंस्कृत भाषा भी यदि असभ्यतापूर्वक बोली जाती है तो वह भी जुगुप्सित हो जाती है।

४. वालक, वृद्ध और अपंग व्यक्ति, विशेष अनुकंपा (दया) के योग्य होते है।

४५. जिस घड़े की पेदी में छेद हो गया हो, उसमें जल आदि कैसे टिक सकते है?

४६. जिस प्रकार तपस्वी तप के द्वारा कर्मो को धुन डालता है, वैसे ही तप का अनुमोदन करने वाला भी।

---

१. यो जानन् जीवहिंसां करोति स तीव्रानुभावं बहुतरं पाप कर्मोपचिनोति, इतरस्तु मन्दतरविपाकमल्पतरं....।

—इति भाष्यवृत्तिकारः क्षेमकीर्तिः।

४७. जोइंति पक्कं न उ पक्कलेणं,
ठावेंति तं सूरहगस्स पासे।
एक्कंमि खंभम्मि न मत्तहत्थी,
वज्झंति वग्घा न य पंजरे दो॥

—बृह० भा० ४४१०

४८. धम्मस्स मूलं विणयं वदंति, धम्मो य मूलं खलु सोग्गईए।

— बृह० भा० ४४४१

४९. मणो य वाया काओ अ, तिविहो जोगसंगहो।
ते अजुत्तस्स दोसा य, जुत्तस्स उ गुणावहा॥

—बृह० भा० ४४४६

५०. जहिं णत्थि सारणा वारणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि।
सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तव्वो॥

—बृह० भा० ४४६४

५१. जं इच्छसि अप्पणतो,
जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि,
एत्तियगं जिणसासणयं॥

—बृह० भा० ४५८४

५२. सव्वारंभ-परिग्गहणिक्खेवो सव्वभूतसमया य।
एक्कग्गमणसमाहाणया य, अह एत्तिओ मोक्खो॥

—बृह० भा० ४५८५

५३. जं कल्लं कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं।
मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि॥

—बृह० भा० ४६७४

५४. तूरह धम्मं काउं, मा हु पमायं खण पि कुव्वित्था।
बहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्हं पडिच्छाहि॥

—बृह० भा० ४६७५

४७. पक्व (झगड़ालू) को पक्व के साथ नियुक्त नही करना चाहिए, किंतु शात के साथ रखना चाहिए, जैसे कि एक खंभे से दो मस्त हाथियो को नही बाँधा जाता और न एक पिजरे मे दो सिह रखे जाते है।

४८. धर्म का मूल विनय है और धर्म सद्गति का मूल है।

४९. मन, वचन और काया के तीनो योग अयुक्त (अविवेकी) के लिए दोष के हेतु है और युक्त (विवेकी) के लिए गुण के हेतु।

५०. जिस सघ मे न सारणा[1] है, न वारणा[2] है और न प्रतिचोदना[3] है, वह संघ संघ नही है, अतः संयम आकांक्षी को उसे छोड़ देना चाहिए।

५१. जो अपने लिए चाहते हो वह दूसरो के लिए भी चाहना चाहिए, जो अपने लिए नही चाहते हो वह दूसरो के लिए भी नही चाहना चाहिए —वस इतना मात्र जिन शासन है, तीर्थंकरो का उपदेश है।

५२. सव प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग, सब प्राणियो के प्रति समता, और चित्त की एकाग्रतारूप समाधि—वस इतना मात्र मोक्ष है।

५३. जो कर्तव्य कल करना है, वह आज ही कर लेना अच्छा है। मृत्यु अत्यंत निर्दय है, यह कब आजाए, मालूम नही।

५४. धर्माचरण करने के लिए शीघ्रता करो, एक क्षणभर भी प्रमाद मत करो। जीवन का एक एक क्षण विघ्नो से भरा है, इसमे संध्या की भी प्रतिक्षा नही करनी चाहिए।

---

१. कर्तव्य की सूचना। २. अकर्तव्य का निषेध। ३. भूल होने पर कर्तव्य के लिए कठोरता के साथ शिक्षा देना।

५५. तुल्लम्मि अवराधे, परिणामवसेण होति णाणत्तं।

—बृह० भा० ४९७४

५६. कामं परपरितावो, असायहेतू जिणेहिं पण्णत्तो।
आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्जइ दुस्सले स खलु॥

—बृह० भा० ५१०८

५७. विणयाहीया विज्जा, देंति फलं इह परे य लोगम्मि।
न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइं॥

—बृह० भा० ५२०३

५८. वुग्गाहितो न जाणति, हितएहिं हितं पि भण्णंतो।

—बृह० भा० ५२२८

५९. निव्विकप्पसुहं सुहं।

—बृह० भा० ५७१७

६०. एगागिस्स हि चित्ताइं, विचित्ताइं खणे खणे।
उप्पज्जंति वियंते य, वसेवं सज्जणे जणे॥

—बृह० भा० ५७१९

६१. जह कोति अमयरुक्खो, विसकंटगवल्लिवेढितो संतो।
ण चइज्जइ अल्लीतुं, एवं सो खिसमाणो उ॥

—बृह० भा० ६०९२

६२. सव्वे वि होंति सुद्धा, नत्थि असुद्धो नयो उ सट्ठाणे।

—व्यवहारभाष्य पीठिका ४७

६३. पुव्विं बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेयारं, बुद्धिमन्नेसए गिरा॥

—व्यव० भा० पी० ७६

६४. अकुसलमणनिरोहो, कुसलमणउदीरणं चेव।

—व्यव० भा० पी० ७७

५५. बाहर में समान अपराध होने पर भी अन्तर् में परिणामो की तीव्रता, व मन्दता सम्बन्धी तरतमता के कारण दोष की न्यूनाधिकता होती है ।

५६. यह ठीक है कि जिनेश्वरदेव ने परपरिताप को दुःख का हेतु बताया है । किंतु शिक्षा की दृष्टि से दुष्ट शिष्य को दिया जाने वाला परिताप इस कोटि मे नहीं है, चूंकि वह तो स्व-पर का हितकारी होता है ।

५७. विनयपूर्वक पढ़ी गई विद्या, लोक परलोक मे सर्वत्र फलवती होती है । विनयहीन विद्या उसी प्रकार निष्फल होती है, जिस प्रकार जल के बिना धान्य की खेती ।

८. हितैषियो के द्वारा हित की बात कहे जाने पर भी धूर्तो के द्वारा बहकाया हुआ व्यक्ति (व्युद्ग्राहित) उसे ठीक नही समझता—अर्थात् उसे उल्टी समझता है ।

९. वस्तुतः रागद्वेष के विकल्प से मुक्त निर्विकल्प सुख ही सुख है ।

६०. एकाकी रहने वाले साधक के मन मे प्रतिक्षण नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न एवं विलीन होते रहते हैं । अतः सज्जनो की संगति मे रहना ही श्रेष्ठ है ।

६१. जिस प्रकार जहरीले कांटो वाली लता से वेष्टित होने पर अमृत वृक्ष का भी कोई आश्रय नही लेता, उसी प्रकार दूसरों को तिरस्कार करने और दुर्वचन कहने वाले विद्वान को भी कोई नही पूछता ।

६२. सभी नय (विचारदृष्टियां) अपने अपने स्थान (विचार केन्द्र) पर शुद्ध हैं कोई भी नय अपने स्थान पर अशुद्ध (अनुपयुक्त) नहीं है ।

६३. पहले बुद्धि से परख कर फिर बोलना चाहिये । अंधा व्यक्ति जिस प्रकार पथ-प्रदर्शक की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार वाणी बुद्धि की अपेक्षा रखती है ।

६४. मन को अकुशल=अशुभ विचारो से रोकना चाहिये और कुशल=शुभ विचारो के लिए प्रेरित करना चाहिए ।

६५. न उ सच्छंदता सेया, लोए किमुत उत्तरे।

—व्यव० भा० पी० ८६

६६. जा एगदेसे अदढा उ भंडी,
सीलप्पए सा उ करेइ कज्जं।
जा दुब्बला संठविया वि संती
न तं तु सीलंति विसण्णदारुं ॥

—व्यव० भा० पी० १८

६७. सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं।

—व्यव० भा० पी० १८

६८. अलस अणुबद्धवेरं, सच्छंदमती पयहीयव्वो।

—व्यव० भा० १।१

६९. तुल्ले वि इंदियत्थे, एगो सज्जइ विरज्जई एगो।
अज्झत्थं तु पमाणं, न इंदियत्था जिणा विंति ॥

—व्यव० भा० २।

७०. कम्माण निज्जरट्ठा, एवं खु गणो भवे धरेयव्वो।

—व्यव० भा० ३।

७१. अत्थेण य वंजिज्जइ, सुत्तं तम्हाउ सो बलवं।

—व्यव० भा० ४।१

७२. बलवाहणत्थहीणो, बुद्धीहीणो न रक्खए रज्जं।

—व्यव० भा० ५।१

७३. जो सो मणप्पसादो, जायइ सो निज्जरं कुणति।

—व्यव० भा० ६।१

७४. नवणीयतुल्लहियया साहू।

—व्यव० भा ७।१

७५. जइ नत्थि नाणचरणं, दिक्खा हु निरत्थिगा तस्स।

—व्यव० भा० ७।२

६५ स्वच्छंदता लौकिक जीवन मे भी हितकर नहीं है, तो लोकोत्तर जीवन (साधक जीवन) मे कैसे हितकर हो सकती है ?

६६. गाड़ी का कुछ भाग टूट जाने पर तो उसे फिर सुधार कर काम मे लिया जा सकता है, किंतु जो ठीक करने पर भी टूटती जाए और बेकार बनी रहे, उसको कौन सँवारे ? अर्थात् उसे संवारते रहने से क्या लाभ है ?

६७. जो साधक किसी विशिष्ट ज्ञानादि हेतु से अपवाद (निषिद्ध) का आचरण करता है, वह भी मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है।

६८. आलसी, वैर विरोध रखने वाले, और स्वच्छंदाचारी का साथ छोड़ देना चाहिए।

६९ इन्द्रियो के विषय समान होते हुए भी एक उनमे आसक्त होता है और दूसरा विरक्त। जिनेश्वरदेव ने बताया है कि इस सम्बन्ध मे व्यक्ति का अन्तर् हृदय ही प्रमाणभूत है, इन्द्रियो के विषय नही।

७०. कर्मों की निर्जरा के लिये (आत्मशुद्धि के लिए) ही आचार्य को संघ का नेतृत्व संभालना चाहिए।

७१. सूत्र (मूल शब्द पाठ), अर्थ (व्याख्या) से ही व्यक्त होता है; अतः अर्थ सूत्र से भी बलवान (महत्व पूर्ण) है।

७२. जो राजा सेना, वाहन, अर्थ (संपत्ति) एवं बुद्धि से हीन है वह राज्य की रक्षा नही कर सकता।

७३. साधना में मनःप्रसाद (मानसिक निर्मलता) ही कर्मनिर्जरा का मुख्य कारण है।

७४. साधुजनो का हृदय नवनीत (मक्खन) के समान कोमल होता है।

७५. यदि ज्ञान और तदनुसार आचरण नही है, तो उसकी दीक्षा निरर्थक है।

७६. सव्वजगुज्जोयकरं नाणं, नाणेण नज्जए चरणं।

—व्यव० भा० ७।२१६

७७. नाणंमि असंतंमि, चरित्तं वि न विज्जए।

—व्यव० भा० ७।२१७

७८. न हि सूरस्स पगासं, दीवपगासो विसेसेइ।

—व्यव० भा० १०।५४

७९. अहवा कायमणिस्स उ, सुमहल्लस्स वि उ कागणीमोल्लं।
वइरस्स उ अप्पस्स वि, मोल्लं होति सयसहस्सं॥

—व्यव० भा० १०।२१६

८०. जो जत्थ होइ कुसलो, सो उ न हावेइ तं सइ बलम्मि।

—व्यव० भा० १०।५०८

८१. उवकरणेहि विहूणो, जह वा पुरिसो न साहए कज्जं।

—व्यव० भा० १०।५४०

८२. अत्थधरो तु पमाणं, तित्थगरमुहुग्गतो तु सो जम्हा।

—निशीथ भाष्य, २२

८३. कामं सभावसिद्धं तु, पवयणं दिप्पते सयं चेव।

—नि० भा० ३१

८४. कुसलवइ उदीरंतो, जं वइगुत्तो वि समिओ वि।

—नि० भा० ३७

—बृह० भा० ४४५१

८५. ण हु वीरियपरिहीणो, पवत्तते णाणमादीसु।

—नि० भा० ४८

८६. णाणी ण विणा णाणं।

—नि० भा० ७५

७६. ज्ञान विश्व के समग्र रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है। ज्ञान से ही चारित्र (कर्तव्य) का बोध होता है।

७७. ज्ञान नही है, तो चारित्र भी नहीं है।

७८ सूर्य के प्रकाश के समक्ष दीपक के प्रकाश का क्या महत्व है ?

७९. काच के बडे मनके का भी केवल एक काकिनी[1] का मूल्य होता है, और हीरे की छोटी-सी कणी भी लाखों का मूल्य पाती है।

८०. जो जिस कार्य मे कुशल है, उसे शक्ति रहते हुए वह कार्य करना ही चाहिए।

८१. साधनहीन व्यक्ति अभीष्ट कार्य को सिद्ध नही कर पाता है।

८२ सूत्रधर (शब्द-पाठी) की अपेक्षा अर्थधर (सूत्ररहस्य का ज्ञाता) को प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि अर्थ साक्षात् तीर्थंकरो की वाणी से निःसृत है।

८३. जिनप्रवचन सहज सिद्ध है, अतः वह स्वयं प्रकाशमान है।

८४. कुशल वचन (निरवद्य वचन) बोलने वाला वचनसमिति का भी पालन करता है, और वचन गुप्ति का भी।

८५. निर्वीर्य (शक्तिहीन) व्यक्ति ज्ञान आदि की भी सम्यक् साधना नही कर सकता।

८६. ज्ञान के विना कोई ज्ञानी नही हो सकता।

---

१. काकिणी नाम रूवगस्स असीतितमो भागः।
रुपये का अस्सीवां भाग काकिणी होती है। —उत्त० चू० ७

८७. धिती तु मोहस्स उवसमे होति।

—नि० भा० ८५

८८. सुहपडिबोहा णिद्दा, दुहपडिबोहा य णिद्दणिद्दा य।

—नि० भा० १३

८९. णा णज्जोया साहू।

—नि० भा० ११

—बृह० भा० ३४५

९०. जा चिट्ठा सा सव्वा संजमहेउं ति होति समणाणं।

—नि० भा० ३

९१. राग-द्दोसाणुगता, तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा।
अराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पेणं॥

—नि० भा० ३

—बृह० भा० ४९

९२. संसारगड्डपडितो णाणादवलंबितुं समारुहति।
मोक्खतडं जध पुरिसो, वल्लिविताणेण विसमाओ॥

—नि० भा०

९३. ण हु होति सोयितव्वो, जो कालगतो दढो चरित्तम्मि।
सो होइ सोयियव्वो, जो संजम-दुब्बलो विहरे॥

—नि० भा० १

—बृह० भा० ३

९४. णेहरहितं तु फरुसं।

—नि० भा०

९५. अलं विवाएण णे कतमुहेहिं।

—नि० भा०

९६ आमलल्लिअं वराओ, चाएति न गद्दभो काउं।

—नि० भा०

८७. मोह का उपशम होने पर ही धृति होती है।

८८. समय पर सहजतया जाग आ जाना 'निद्रा' है, कठिनाई से जो जाग आए वह 'निद्रा-निद्रा' है।

८६. साधक ज्ञान का प्रकाश लिए जीवन यात्रा करता है।

.०. श्रमणो की सभी चेष्टा अर्थात् क्रियाएं संयम के हेतु होती है।

.१. रागद्वेष पूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना (निषिद्ध आचरण) दर्पिका है और राग द्वेष से रहित प्रतिसेवना (अपवाद काल मे परिस्थितिवश किया जाने वाला निषिद्ध आचरण) कल्पिका है। कल्पिका में संयम की आराधना है और दर्पिका मे विराधना।

६२. जिस प्रकार विषम गर्त मे पड़ा हुआ व्यक्ति लता आदि को पकड़ कर ऊपर आता है, उसी प्रकार संसारगर्त मे पड़ा हुआ व्यक्ति ज्ञान आदि का अवलंबन लेकर मोक्ष रूपी किनारे पर आ जाता है।

६३. वह शोचनीय नही है, जो अपनी साधना में दृढ रहता हुआ मृत्यु को प्राप्त कर गया है। शोचनीय तो वह है, जो संयम से भ्रष्ट होकर जीवित घूमता फिरता है।

६४. स्नेह से रहित वचन 'परुष=कठोर वचन' कहलाता है।

६५. कृतमुख (विद्वान) के साथ विवाद नही करना चाहिए।

६६. शिक्षित अश्व की क्रीडाएं विचारा गर्दभ कैसे कर सकता है ?

९७. जह कोहाइ विवढ्ढी, तह हाणी होइ चरणे वि।

—नि० भा० २७९०

—बृह० भा० २७११

९८. जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए।
तं पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेणं॥

—नि० भा० २७

बृह० भा० २७

९९. राग-द्दोस-विमुक्को सीयघरसमो य आयरिओ।

—नि० भा० २७

१००. तमतिमिरपडलभूओ, पावं चितेइ दीहसंसारी।

—नि० भा० २८

१०१. सोऊण वा गिलाणं, पंथे गामे य भिक्खवेलाए।
जति तुरियं णागच्छति, लग्गति गुरुए[1] सवित्थारं॥

—नि० भा० २९९

—बृह० भा० ३७६

१०२. जह भमर-महुयर-गणा णिवतंति कुसुमितम्मि वणसंडे।
तह होंति णिवतियव्वं, गेलण्णे कतितवजढेणं॥

—नि० भा० २९७

१०३. पुव्वतव-संजमा होंति, रागिणो पच्छिमा अरागस्स।

—नि० भा० ३३

१०४. अप्पो बंधो जयाणं, बहुणिज्जर तेण मोक्खो तु।

—नि० भा० ३३

१. चउम्मासे—इति बृहत्कल्पे।

९७. ज्यों-ज्यो क्रोधादि कषाय की वृद्धि होती है, त्यो-त्यो चारित्र की हानि होती है।

९८. देशोनकोटिपूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र अर्जित किया है, वह अन्तर्मुहूर्त भर के प्रज्वलित कषाय से नष्ट हो जाता है।

९९. राग द्वेष से रहित आचार्य शीतगृह[1] (सब ऋतुओं में एक समान सुख-प्रद) भवन के समान है।

१००. पुंजीभूत अंधकार के समान मलिन चित्तवाला दीर्घसंसारी जीव जब देखो तब पाप का ही विचार करता रहता है।

१०१. विहार करते हुए, गाँव मे रहते हुए, भिक्षाचर्या करते हुए यदि सुन पाए कि कोई साधु साध्वी बीमार है, तो शीघ्र ही वहाँ पहुंचना चाहिए। जो साधु शीघ्र नही पहुँचता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१०२. जिस प्रकार कुसुमित उद्यान को देख कर भौरे उस पर मंडराने लग जाते है, उसी प्रकार किसी साथी को दुःखी देखकर उसकी सेवा के लिए अन्य साथियों को सहज भाव से उमड़ पड़ना चाहिए।

१०३. रागात्मा के तप-संयम निम्न कोटि के होते है, वीतराग के तप-संयम-उत्कृष्टतम होते है।

१०४ यतनाशील साधक का कर्मबंध अल्प, अल्पतर होता जाता है, और निर्जरा तीव्र, तीव्रतर। अतः वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

---

१. वड्ढकीरयण-णिम्मियं चक्किणो सीयघरं भवति। वासासु णिवाय-पवातं, सीयकाले सोम्हं, गिम्हे सीयलं····सव्वरिउक्खमं भवति।

—निशीयचूर्णि।

१०५. इंदियाणि कसाये य, गारवे य किसे कुरु।
णो वयं ते पसंसामो, किसं साहु सरीरगं॥

—नि० भा० ३७५८

१०६. भण्णति सज्झमसज्झं, कज्जं सज्झं तु साहए मइमं।
अविसज्झं साहेंतो, किलिस्सति न तं च साहेई॥

—नि० भा० ४१५७

—बृह० भा० ५२७६

१०७. मोक्खपसाहणहेतू, णाणादि तप्पसाहणो देहो।
देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो॥

—नि० भा० ४१

—बृह० भा० ५२

१०८. णाणे णाणुवदेसे, अवट्टमाणो उ अन्नाणी।

—नि० भा० ४७

—बृह० भा० ६

१०९. सुहसाहगं पि कज्जं, करणविहूणमणुवायसंजुत्तं।
अन्नायऽदेसकाले, विवत्तिमुवजाति सेहस्स॥

— नि० भा० ४८

—बृह० भा० ६

११०. नक्खेणावि हु छिज्जइ, पासाए अभिनवुट्ठितो रुक्खो।
दुच्छेज्जो वड्ढंतो, सो च्चिय वत्थुस्स भेदाय॥

—नि० भा० ४८

—बृह० भा० ६

१११. संपत्ती व विवत्ती व, होज्ज कज्जेसु कारगं पप्प।
अणुपायओ विवत्ती, संपत्ती कालुवाएहिं॥

—नि० भा० ४८

—बृह० भा० ६

११२. जतिभागगया मत्ता, रागादीणं तहा चयो कम्मे।

—नि० भा० ५१

—बृह० भा० २५१

१०५. हम साधक के केवल अनशन आदि से कृश (दुर्बल) हुए शरीर के प्रशंसक नही है, वस्तुतः तो इन्द्रिय (वासना), कषाय और अहंकार को ही कृश (क्षीण) करना चाहिए।

१०६. कार्य के दो रूप है—साध्य और असाध्य। बुद्धिमान साध्य को साधने में ही प्रयत्न करे। चूंकि असाध्य को साधने में व्यर्थ का क्लेश ही होता है, और कार्य भी सिद्ध नही हो पाता।

१०७. ज्ञान आदि मोक्ष के साधन है, और ज्ञान आदि का साधन देह है, देह का साधन आहार है, अतः साधक को समयानुकूल आहार की आज्ञा दी गई है।

१०८. जो ज्ञान के अनुसार आचरण नही करता है, वह ज्ञानी भी वस्तुतः अज्ञानी है।

१०९. देश, काल एवं कार्य को बिना समझे समुचित प्रयत्न एवं उपाय से हीन किया जाने वाला कार्य, सुख-साध्य होने पर भी सिद्ध नही होता है।

११०. प्रासाद की दीवार में फूटनेवाला नया वृक्षांकुर प्रारंभ में नख से भी उखाड़ा जा सकता है, किन्तु वही बढ़ते-बढ़ते एक दिन कुल्हाड़ी से भी दुच्छेद्य हो जाता है, और अन्ततः प्रासाद को ध्वस्त कर डालता है।

१११. कार्य करने वाले को लेकर ही कार्य की सिद्धि या असिद्धि फलित होती है। समय पर ठीक तरह से करने पर कार्य सिद्ध होता है और समय बीत जाने पर या विपरीत साधन से कार्य नष्ट हो जाता है।

११२. राग की जैसी मंद, मध्यम और तीव्र मात्रा होती है, उसी के अनुसार मंद, मध्यम और तीव्र कर्मबंध होता है।

११३. उस्सग्गेण णिसिद्धाणि, जाणि दव्वाणि संथरे मुणिणो।
कारणजाए जाते, सव्वाणि वि ताणि कप्पंति॥

—नि० भा० ५२४५

—बृह० भा० ३३२७

११४. णवि किंचि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं।
एसा तेसिं आणा, कज्जे सच्चेण होयव्वं॥

—नि० भा० ५२४८

—बृह० भा० ३३३०

११५. कज्जं णाणादीयं, उस्सग्गववायओ भवे सच्चं।

—नि० भा० ५२४

११६. दोसा जेण निरुंभंति, जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं।
सो सो मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं व॥

—नि० भा० ५२

—बृह० भा० ३३

११७. णिउणो खलु सुत्तत्थो, न हु सक्को अपडिबोहितो नाउं।

—नि० भा० ५२

—बृह० भा० ३३

११८. निक्कारणम्मि दोसा, पडिबंधे कारणम्मि णिद्दोसा।

—नि० भा० ५२

११९. जो जस्स उ पाओग्गो, सो तस्स तहिं तु दायव्वो।

—नि० भा० ५२

—बृह० भा० ३३

१२०. जागरह! णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
जो सुवति न सो सुहितो, जो जग्गति सो सया सुहितो॥

—नि० भा० ५३

—बृह० भा० ३३

१२१. सुवति सुवंतस्स सुयं, संकियं खलियं भवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्स सुयं, थिर-परिचितमप्पमत्तस्स॥

—नि० भा० ५३

—बृह० भा० ३३८

११३. उत्सर्ग मार्ग मे समर्थ मुनि को जिन बातों का निपेध किया गया है, विशिष्ट कारण होने पर अपवाद मार्ग मे वे सब कर्तव्यरूप से विहित है।

११४ जिनेश्वरदेव ने न किसी कार्य की एकांत अनुज्ञा दी है और न एकांत निषेध ही किया है। उनकी आज्ञा यही है कि साधक जो भी करे वह सच्चाई—प्रामाणिकता के साथ करे।

११५. ज्ञान आदि की साधना देश काल के अनुसार उत्सर्ग एवं अपवाद मर्ग के द्वारा ही सत्य (सफल) होती है।

११६. जिस किसी भी अनुष्ठान से रागादि दोषो का निरोध होता हो तथा पूर्वसंचित कर्म क्षीण होते हो, वह सब अनुष्ठान मोक्ष का साधक है। जैसे कि रोग को शमन करने वाला प्रत्येक अनुष्ठान चिकित्सा के रूप मे आरोग्यप्रद है।

११७. सूत्र का अर्थ अर्थात् शास्त्र का मूलभाव बहुत ही सूक्ष्म होता है, वह आचार्य के द्वारा प्रतिबोधित हुए विना नही जाना जाता।

११८. विना विशिष्ट प्रयोजन के अपवाद दोषरूप है, किंतु विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए वही निर्दोप है।

११९. जो जिसके योग्य हो, उसे वही देना चाहिए।

१२०. मनुष्यो ! सदा जागते रहो, जागने वाले की बुद्धि सदा वर्धमान रहती है। जो सोता है वह सुखी नही होता, जाग्रत रहने वाला ही सदा सुखी रहता है।

१२१. सोते हुए का श्रुत=ज्ञान सुप्त रहता है, प्रमत्त रहने वाले का ज्ञान शंकित एवं स्खलित हो जाता है। जो अप्रमत्त भाव से जाग्रत रहता है, उसका ज्ञान सदा स्थिर एवं परिचित रहता है।

१२२. सुवइ य अजगरभूतो, सुयं पि से णासती अमयभूयं।
होहिति गोणब्भूयो, णट्ठंमि सुये अमयभूये॥
—नि० भा० ५३०५
—बृह० भा० ३३८७

१२३. जागरिया धम्मीणं, आहम्मीणं च सुत्तया सेया।
—नि० भा० ५३०६
—बृह० भा० ३३८६

१२४. णालस्सेण समं सोक्खं, ण विज्जा सह णिद्दया।
ण वेरग्गं ममत्तेणं, णारंभेण दयालुआ॥
—नि० भा० ५३०७
—बृह० भा० ३३८५

१२५. दुक्खं खु णिरणुकंपा।
—नि० भा० ५६३

१२६. जो तु गुणो दोसकरो, ण सो गुणो दोस एव सो होती।
अगुणो वि य होति गुणो, जो सुंदरणिच्छओ होति॥
—नि० भा० ५८७७
—बृह० भा० ४०५२

१२७. पीतीसुण्णो पिसुणो।
नि० भा० ६२१२

१२८. पुरिसम्मि दुव्विणीए, विणयविहाणं न किंचि आइक्खे।
न वि दिज्जति आभरणं, पलियत्तियकण्ण—हत्थस्स॥
—नि० भा० ६२२१
—बृह० भा० ७८२

१२९. मद्दवकरणं णाणं, तेणेव य जे मदं समुवहंति।
ऊणगभायणसरिसा, अगदो वि विसायते तेसिं॥
—नि० भा० ६२२२
—बृह० भा० ७८३

१३०. खेत्तं कालं पुरिसं, नाऊण पगासए गुज्झं।
—नि० भा० ६२२३
—बृह० भा० ७८०

१२२. जो अजगर के समान सोया रहता है, उसका अमृत-स्वरूप श्रुत (ज्ञान) नष्ट हो जाता है, और अमृत स्वरूप श्रुत के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति एक तरह से निरा बैल हो जाता है।

१२३. धार्मिक व्यक्तियों का जागते रहना अच्छा है और अधार्मिक जनो का सोते रहना।

१२४. आलस्य के साथ सुख का, निद्रा के साथ विद्या का, ममत्व के साथ वैराग्य का और आरंभ = हिंसा के साथ दयालुता का कोई मेल नहीं है।

१२५. किसी के प्रति निर्दयता का भाव रखना वस्तुतः दुःखदायी है।

१२६. जो गुण, दोष का कारण है, वह वस्तुतः गुण होते हुए भी दोष ही है। और वह दोष भी गुण है, जिसका कि परिणाम सुंदर है, अर्थात् जो गुण का कारण है।

१२७. जो प्रीति से शून्य है—वह 'पिशुन' है।

१२८. जो व्यक्ति दुर्विनीत है, उसे सदाचार की शिक्षा नहीं देना चाहिए। भला जिसके हाथ पैर कटे हुए है, उसे कंकण और कुंडल आदि अलंकार क्या दिए जायँ ?

१२९. ज्ञान मनुष्य को मृदु बनाता है, किंतु कुछ मनुष्य उससे भी मदोद्धत होकर अधजलगगरी की भाँति छलकने लग जाते है, उन्हें अमृत स्वरूप औषधि भी विष बन जाती है।

१३०. देश, काल और व्यक्ति को समझ कर ही गुप्त रहस्य प्रकट करना चाहिए।

१३१. अप्पत्तं च ण वातेज्जा, पत्तं च ण विमाणए।

—नि० भा० ६२३०

१३२ आमे घडे निहित्तं, जहा जलं तं घडं विणासेति।
इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ॥

—नि० भा० ६२४३

१३३. णाणं भावो ततो णऽण्णो।

—नि० भा० ६२६१

१३४. दुग्ग-विसमे वि न खलति, जो पंथे सो समे कहण्णु खले।

—नि० भा० ६६६८

१३५. सव्वे अ चक्कजोही, सव्वे अ हया सचक्केहिं।

—आवश्यक नियुक्ति भाष्य ४३

१३६. ववहारोऽपि हु बलवं, जं छउमत्थंपि वंदई अरहा।
जा होइ अणाभिण्णो, जाणंतो धम्मयं एय॥

—आव० नि० भा० १२३

१३७. उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ।

—आव० नि० भा० १४६

१३८. सत्तभयविप्पमुक्के, तहा भवंते भयंते अ।

—आव० नि० भा० १८५

१३९. चित्तं तिकालविसयं।

—दशवैकालिक नियुक्ति भा० १६

१४०. अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंसचक्खुणा।

—दशवै० नि० भा० ३४

१४१. णिच्चो अविणासि सासओ जीवो।

—दशवै० नि० भा० ४२

१४२. हेउप्पभवो बन्धो।

—दशवै० नि० भा० ४९

१३१. अपात्र (अयोग्य) को शास्त्र का अध्ययन नही कराना चाहिए, और पात्र (योग्य) को उससे वंचित नही रखना चाहिए।

१३२. मिट्टी के कच्चे घड़े में रखा हुआ जल जिस प्रकार उस घड़े को ही नष्ट कर डालता है, वैसे ही मन्दबुद्धि को दिया हुआ गम्भीर शास्त्र-ज्ञान, उसके विनाश के लिए ही होता है।

१३३. ज्ञान आत्मा का ही एक भाव है, इसलिए वह आत्मा से भिन्न नही है।

१३४. जो दुर्गम एवं विषम मार्ग मे भी स्खलित नही होता है, वह सम अर्थात् सीधे, सरल मार्ग मे कैसे स्खलित हो सकता है ?

१३५. जितने भी चक्रयोधी (अश्वग्रीव, रावण आदि प्रति वासुदेव) हुए है, वे अपने ही चक्र से मारे गए है।

१३६. संघव्यवस्था मे व्यवहार बड़ी चीज है। केवली (सर्वज्ञ) भी अपने छद्मस्थ गुरु को स्वकर्तव्य समझकर तब तक वंदना करते रहते है, जब तक कि गुरु उसकी सर्वज्ञता से अनभिज्ञ रहते है।

१३७. यतनापूर्वक साधना में यत्नशील रहने वाला आत्मा ही सामायिक है।

१३८. सात प्रकार के भय से सर्वथा मुक्त होने वाले भदंत 'भवान्त' या 'भयान्त' कहलाते है।

आत्मा की चेतना शक्ति त्रिकालज्ञ है।

१४०. आत्मा के गुण अनिन्द्रिय—अमूर्त है, अतः वह चर्म चक्षुओं से देख पाना कठिन है।

१४१. आत्मा नित्य है, अविनाशी है, एवं शाश्वत है।

१४२. आत्मा को कर्म बंध मिथ्यात्व आदि हेतुओं से होता है।

१४३. दविए दंसणसुद्धी, दंसणसुद्धस्स चरणं तु ।

—ओघ निर्युक्ति भाष्य ७

१४४. चरणपडिवत्तिहेउं धम्मकहा ।

—ओघ नि० भा० ७

१४५. नत्थि छुहाए सरिसया वेयणा ।

—ओघ नि० भा० २९०

१४६. नाण-किरियाहिं मोक्खो ।

—विशेषावश्यक भाष्य गा० ३

१४७. सव्वं च णिज्जरत्थं सत्थमओऽमंगलमजुत्तं ।

—विशेषा० भा० १६

१४८. दव्वसुयं जो अणुवउत्तो ।

—विशेषा० भा० १२६

१४९. जग्गन्तो वि न जाणइ, छउमत्थो हिययगोयरं सव्वं ।
जंतज्झवसाणाइं, जमसंखेज्जाइं दिवसेण ॥

—विशेषा० भा० १६६

१५०. धम्मोऽवि जओ सव्वो, न साहणं किंतु जो जोग्गो ।

—विशेषा० भा० ३३१

१५१. जह दुव्वयणमवयणं, कुच्छियसीलं असीलमसईए ।
भण्णइ तह नाणंपि हु, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ॥

—विशेषा० भा० ५२०

१५२. नाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ।

—विशेषा० भा० ५२१

१५३. सव्वं चिय पइसमयं, उप्पज्जइ नासए य निच्चं च ।

—विशेषा० भा० ५४४

१५४. उवउत्तस्स उ खलियाइयं पि सुद्धस्स भावओ सुत्तं ।
साहइ तह किरियाओ, सव्वाओ निज्जरफलाओ ॥

—विशेषा० भा० ८६३

१४३. द्रव्यानुयोग (तत्वज्ञान) से दर्शन (दृष्टि) शुद्ध होता है, और दर्शन शुद्धि होने पर चारित्र की प्राप्ति होती है।

१४४. आचार रूप सद्गुणों की प्राप्ति के लिए धर्मकथा कही जाती है।

१४५. संसार में भूख के समान कोई वेदना नही है।

१४६. ज्ञान एवं क्रिया (आचार) से ही मुक्ति होती है।

१४७. समग्र शास्त्र निर्जरा के लिये है, अतः उसमे अमंगल जैसा कुछ नहीं है।

१४८. जो श्रुत उपयोगशून्य है, वह सब द्रव्य श्रुत है।

१४९. जाग्रत दशा मे भी छद्मस्थ अपने मन के सभी विचारों को नही जान पाता, क्योकि एक ही दिन में मन के अध्यवसाय (विकल्प) असंख्य रूप ग्रहण कर लेते है।

१५०. सभी धर्म मुक्ति के साधन नहीं होते है, किंतु जो योग्य है, वही साधन होता है।

१५१. जिस प्रकार लोक में कुत्सित वचन, 'अवचन' एवं कुत्सित शील, 'अशील' (शील का अभाव) कहलाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि का ज्ञान कुत्सित होने के कारण अज्ञान कहलाता है।

१५२. ज्ञान के फल (सदाचार) का अभाव होने से मिथ्या दृष्टि का ज्ञान अज्ञान है।

१५३. विश्व का प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और साथ ही नित्य भी रहता है।

१५४. उपयोगयुक्त शुद्ध व्यक्ति के ज्ञान में कुछ स्खलनाएं होने पर भी वह शुद्ध ही है। उसी प्रकार धर्म क्रियाओ मे कुछ स्खलनाएं होने पर भी उस शुद्धोपयोगी की सभी क्रियाएं कर्मनिर्जरा की हेतु होती है।

१५५. चित्तण्णू अणुकूलो, सीसो सम्मं सुयं लहइ ।

—विशेषा० भा० ९३

१५६. मिच्छत्तमयसमूहं सम्मत्तं ।

—विशेषा० भा० ९५

१५७. अन्नं पुट्ठो अन्नं जो साहइ, सो गुरू न बहिरोव्व ।
न य सीसो जो अन्नं सुणेइ, परिभासए अन्नं ॥

—विशेषा० भा० १४४

१५८. वयणं विण्णाणफलं, जइ तं भणिएऽवि नत्थि किं तेण ?

—विशेषा० १५१३

१५९. सामाइओवउत्तो जीवो सामाइयं सयं चेव ।

—विशेषा० भा० १५२९

१६०. असुभो जो परिणामो सा हिंसा ।

—विशेषा० भा० १७६६

१६१. गंथोऽगंथो व मओ मुच्छा मुच्छाहि निच्छयओ ।

—विशेषा० २५७३

१६२. इंदो जीवो सव्वोवलद्धि भोगपरमेसरत्तणओ ।

—विशेषा० २९९३

१६३. धम्मा-धम्मा न परप्पसाय—कोपाणुवत्तिओ जम्हा ।

—विशेषा० भा० ३२५४

१६४. विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ?

—विशेषा० भा० ३४६८

❦

१५५. गुरुदेव के अभिप्राय को समझ कर उसके अनुकूल चलने वाला शिष्य सम्यग् प्रकार से ज्ञान प्राप्त करता है।

१५६. (अनेकान्त दृष्टि से युक्त होने पर) मिथ्यात्वमतों का समूह भी सम्यक्त्व बन जाता है।

१५७. बहरे के समान—शिष्य पूछे कुछ और, बताए कुछ और—वह गुरु, गुरु नही है। और वह शिष्य भी शिष्य नहीं है, जो सुने कुछ और, कहे कुछ और।

१५८. वचन की फलश्रुति है—अर्थज्ञान! जिस वचन के बोलने से अर्थ का ज्ञान नही हो तो उस 'वचन' से भी क्या लाभ?

१५९. सामायिक मे उपयोग रखने वाला आत्मा स्वयं ही सामायिक हो जाता है।

१६०. निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा का अशुभ परिणाम ही हिंसा है।

१६१. निश्चय दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु परिग्रह भी है और अपरिग्रह भी। यदि मूर्च्छा है तो परिग्रह है, मूर्च्छा नहीं है तो परिग्रह नही है।

१६२. सव उपलब्धि एवं भोग के उत्कृष्ट ऐश्वर्य के कारण प्रत्येक जीव इन्द्र है।

१६३. धर्म और अधर्म का आधार आत्मा की अपनी परिणति ही है। दूसरो की प्रसन्नता और नाराजगी पर उसकी व्यवस्था नही है।

१६४. विनय जिनशासन का मूल है, विनीत ही संयमी हो सकता है। जो विनय से हीन है, उसका क्या धर्म, और क्या तप?

चूर्णिसाहित्य की सूक्तियां

●

१. जो अहंकारो, भणितं अप्पलक्खणं।

—आचारांग चूर्णि १।१।१

२. जह मे इट्ठाणिट्ठे सुहासुहे तह सव्वजीवाणं।

—आचा० चू० १।१।६

३. असंतुट्ठाणं इह परत्थ य भयं भवति।

—आचा० चू० १।२।२

४. ण केवलं वयबालो.... कज्जं अयाणओ बालो चेव।

—आचा० चू० १।२।३

५. विसयासत्तो कज्जं अकज्जं वा ण याणति।

—आचा० चू० १।२।४

६. काले चरंतस्स उज्जमो सफलो भवति।

—आचा० चू० १।२।५

७. ण दीणो ण गव्वितो।

—आचा० चू० १।२।५

८. धम्मे अणुज्जुत्तो सीयलो, उज्जुत्तो उण्हो।

—आचा० चू० १।३।१

चूर्णिसाहित्य की सूक्तियां

१. यह जो अन्दर मे 'अहं' की—'मैं' की—चेतना है, यह आत्मा का लक्षण है।

२. जैसे इष्ट—अनिष्ट, सुख-दुःख मुझे होते है, वैसे ही सब जीवों को होते है।

३. असंतुष्ट व्यक्ति को यहां, वहां सर्वत्र भय रहता है।

४. केवल अवस्था से ही कोई बाल (बालक) नहीं होता, किन्तु जिसे अपने कर्तव्य का ज्ञान नही है वह भी 'बाल' ही है।

५. विषयासक्त को कर्तव्य—अकर्तव्य का बोध नही रहता।

६. उचित समय पर काम करने वाले का ही श्रम सफल होता है।

७. साधक को न कभी दीन होना चाहिए और न अभिमानी।

८. धर्म में उद्यमी=क्रियाशील व्यक्ति, उष्ण=गर्म है, उद्यमहीन शीतल=ठंडा है।

९. ण याणंति अप्पणो वि, किन्नु अण्णेसिं।

—आचा० चू० १।३।१

१०. अप्पमत्तस्स णत्थि भयं, गच्छतो चिट्ठतो भुंजमाणस्स वा।

—आचा० चू० १।३।४

११. ण चिय अरिणधणे अग्गी दिप्पति।

—आचा० चू० १।३।४

१२. जत्तियाइं असंजमट्ठाणाइं, तत्तियाइं संजमट्ठाणाइं।

—आचा० चू० १।४।२

१३. कोयि केवलमेव गंथमेहावी भवति, ण तु जहातहं पडितो।

—आचा० चू० १।५।३

१४. रागदोसकरो वादो।

—आचा० चू० १।७।१

१५. विवेगो मोक्खो।

—आचा० चू० १।७।१

१६. जइ वणवासमित्तेणं नाणी जाव तवस्सी भवति,
तेण सीहवग्घादयो वि।

—आचा० चू० १।७।१

१७. छुहा जाव सरीरं, ताव अत्थि।

—आचा० चू० १।७।३

१८. न वृद्धो भूत्वा पुनरुत्तानशायी क्षीराहारो वालको भवति।

—सूत्र कृतांग चूर्णि १।२।२

१९. आरंभपूर्वको परिग्रहः।

—सूत्र० चू० १।२।२

२०. समभावः सामाइयं।

—सूत्र० चू० १।२।२

२१. चित्तं न दूषयितव्यं।

—सूत्र० चू० १।२।२

९ जो अपने को ही नही जानता, वह दूसरों को क्या जानेगा ?

१०. अप्रमत्त (सदा सावधान) को चलते, खड़े होते, खाते, कही भी कोई भय नही है ।

११. विना ईंधन के अग्नि नही जलती ।

१२. विश्व मे जितने असंयम के स्थान (कारण) है, उतने ही संयम के स्थान (कारण) है ।

१३. कुछ लोग केवल ग्रंथ के पंडित (शब्द-पंडित) होते है, 'यथार्थ पंडित' (भावपंडित) नही होते ।

१४. प्रत्येक 'वाद' रागद्वेष की वृद्धि करने वाला है ।

१५. वस्तुतः विवेक ही मोक्ष है ।

१६. यदि कोई वन मे रहने मात्र से ही ज्ञानी और तपस्वी हो जाता है, तो फिर सिंह, बाघ आदि भी ज्ञानी, तपस्वी हो सकते है ।

१७. जब तक शरीर है तब तक भूख है ।

१८. बूढा होकर कोई फिर उत्तानशायी दूधमुंहा बालक नही हो सकता ।

१९. परिग्रह (धनसंग्रह) विना हिंसा के नही होता ।

२०. समभाव ही सामायिक है ।

२१. [illegible] करो, किन्तु मन को दूषित न होने दो ।

२२. समाधिर्नाम रागद्वेषपरित्यागः ।

—सूत्र० चू० १।२।२

२३. न हि सुखेन सुखं लभ्यते ।

—सूत्र० चू० १।३।४

२४. न निदानमेव रोगचिकित्सा ।

—सूत्र० चू० १।१२

२५. कर्मभीताः कर्माण्येव वर्द्धयन्ति ।

—सूत्र० चू० १।१२

२६. ज्ञानधनानां हि साधूनां किमन्यद् वित्तं स्यात् ?

—सूत्र० चू० १।१४

२७. सयणे सुवंतो साधू, साधुरेव भवति ।

—सूत्र० चू० १।१४

२८. शरीरधारणार्थं स्वपिति, निद्रा हि परमं विश्रामणं ।

—सूत्र० चू० १।१४

२९. गेहंमि अग्गिजालाउलंमि, जह णाम डज्झमाणंमि ।
जो बोहेइ सुयंतं, सो तस्स जणो परमबंधू ॥

—सूत्र० चू० १।१४

३०. मणसंजमो णाम अकुसलमणनिरोहो, कुसलमणउदीरणं वा ।

——दशवैकालिक चूर्णि, अध्ययन १

३१. साहुणा सागरो इव गंभीरेण होयव्वं ।

—दशवै० चू० १

३२. मइलो पडो रंगिओ न सुंदरं भवइ ।

—दशवै० चू० १

३३. अरत्त-दुट्ठस्स परिभुंजतस्स ण परिग्गहो भवति ।

—दशवै० चू० १

३४. कोवाकुलचित्तो जं संतमवि भासति, तं मोसमेव भवति ।

—दशवै० चू० ३

२२. रागद्वेष का त्याग ही समाधि है।

२३. सुख से (आसानी से) सुख नही मिलता।

२४. केवल निदान (रोगपरीक्षा) हो रोग की चिकित्सा नही है।

२५. कर्मों से डरते रहने वाले प्रायः कर्म ही बढ़ाते रहते हैं।

२६. जिन के पास ज्ञान का ऐश्वर्य है, उन साधु पुरुषों को, और क्या ऐश्वर्य चाहिए?

२७. बाहर मे शय्या पर सोता हुआ भी साधु, (अन्दर में जागृत रहने से) साधु ही है, असाधु नही।

२८. साधक स्वास्थ्य रक्षा के लिए ही सोता है, क्यों कि निद्रा भी बहुत बड़ी विश्रान्ति है।

२९. अग्नि की ज्वालाओ से जलते हुए घर में सोए व्यक्ति को, यदि कोई जगा देता है, तो वह उसका सर्वश्रेष्ठ बंधु है।

३०. अकुशल मन का निरोध और कुशलमन का प्रवर्तन—मन का संयम है।

३१. साधु को सागर के समान गंभीर होना चाहिए।

३२. मलिन वस्त्र रंगने पर भी सुंदर नही होता।

३३. राग द्वेष से रहित साधक वस्तु का परिभोग (उपयोग) करता हुआ भी परिग्रही नही होता।

३४. क्रोध से क्षुब्ध हुए व्यक्ति का सत्य भापण भी असत्य ही है।

३५. जं भासं भासंतस्स सच्चं मोसं वा चरित्तं विसुज्झइ,
सव्वा वि सा सच्चा भवति।
जं पुण भासमाणस्स चरित्तं न सुज्झति,
सा मोसा भवति।

—दशवै० चू० ७

३६. न धर्मकथामन्तरेण दर्शनप्राप्तिरस्ति।

—उत्तराध्ययन चूर्णि, अध्ययन १

३७. सव्वगुणाणुत्तारं सुयणाणं।

—उत्त० चू० १

३८. न विनयशून्ये गुणावस्थानम्।

—उत्त० चू० १

३९. यदा निरुद्धयोगास्रवो भवति, तदा जीवकर्मणोः
पृथक्त्वं भवति।

—उत्त० चू० १

४०. पापाद्डीनः—पंडितः।

—उत्त० चू० १

४१. पुरुषस्य हि भुजावेव पक्षौ।

—उत्त० चू० १

४२. पासयति पातयति वा पापं।

—उत्त० चू० २

४३. समो सव्वत्थ मणो जस्स भवति स समणो।

—उत्त० चू० २

४४. मनसि शेते—मनुष्यः।

—उत्त० चू० ३

४५. मरणमपि तेषां जीवितवद् भवति।

—उत्त० चू० ५

४६. सर्वो हि आत्मगृहे राजा।

—उत्त० चू० ५

३५. जिस भाषा को बोलने पर—चाहे वह सत्य हो या असत्य—चारित्र की शुद्धि होती है तो वह सत्य ही है। और जिस भाषा के बोलने पर चारित्र की शुद्धि नही होती–चाहे वह सत्य ही क्यों न हो—असत्य ही है। अर्थात् साधक के लिए शब्द का महत्व नही, भावना का महत्व है।

३६. धर्म कथा के बिना दर्शन (सम्यक्त्व) की उपलब्धि नही होती।

३७. साधना की दृष्टि से श्रुत ज्ञान सब ज्ञानो मे श्रेष्ठ है।

३८. विनयहीन व्यक्ति मे सद्गुण नही ठहरते।

३९. जब आत्मा मन, वचन, काया की चंचलतारूप योगास्रव का पूर्ण निरोध कर देता है, तभी सदा के लिए आत्मा और कर्म पृथक् हो जाते है।

४०. जो पाप से दूर रहता है, वह पंडित है।

४१. मनुष्य की अपनी दो भुजाएं ही उसकी दो पांखे है।

४२. जो आत्मा को बाधता है, अथवा गिराता है, वह पाप है।

४३. जिस का मन सर्वत्र सम रहता है, वह समण (श्रमण) है।

४४. जो मन मे सोता है—अर्थात् चितन मनन में लीन रहता है, वह मनुष्य है

४५. उच्च आदर्श के लिए श्रेष्ठ पुरुषो का मरण भी, जीवन के समान है।

४६. अपने घर मे हर कोई राजा होता है।

४७. परिणिव्वुतो णाम रागद्दोसविमुक्के।

—उत्त० चू० १०

४८ यस्तु आत्मनः परेषां च शान्तये, तद् भावतीर्थं भवति।

—उत्त० चू० १२

४९. शरीरलेश्यासु हि अशुद्धास्वपि आत्मलेश्या शुद्धा भवन्ति।

—उत्त० चू० १२

५०. द्रव्यब्रह्म अज्ञानिनां वस्तिनिग्रहः, मोक्षाधिकारशून्यत्वात्।

—उत्त० चू० १६

५१. देशकालानुरूपं धर्मं कथयन्ति तीर्थकराः।

—उत्त० चू० २३

५२. परमार्थतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षकारणं, न लिंगादीनि।

—उत्त० चू० २३

५३. स्थिरीकरणात् स्थविरः।

—उत्त० चू० २७

५४. अमुक्तस्य च निर्वृति र्नास्ति।

—उत्त० चू० २८

५५. जो अप्पणो परस्स वा आवतीए वि न परिच्चयति, सो बंधू।

—नंदी सूत्र, चूर्णि १

५६. सव्वसत्ताण अहिंसादिलक्खणो धम्मो पिता, रक्खणत्तातो।

—नंदी० चू० १

५७. चिंतिज्जइ [illegible]।

[illegible] चू० २।१३

५८. विमुद्धभावत्त [illegible]

५९. [illegible]।

४७. राग और द्वेष से मुक्त होना ही परिनिर्वाण है।

४८. जो अपने को और दूसरो को शान्ति प्रदान करता है, वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप भावतीर्थ है।

४९. बाहर मे शरीर की लेश्या (वर्ण आदि) अशुद्ध होने पर भी अन्दर मे आत्मा की लेश्या (विचार) शुद्ध हो सकती है।

५०. अज्ञानी साधको का चित्तशुद्धि के अभाव मे किया जाने वाला केवल-जननेन्द्रिय-निग्रह द्रव्य ब्रह्मचर्य है, क्योकि वह मोक्षाधिकार से शून्य है।

५१. तीर्थङ्कर देश और काल के अनुरूप धर्म का उपदेश करते है।

५२. परमार्थ दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है, वेष आदि नही।

५३, जो अपने को और दूसरो को साधना मे स्थिर करता है—वह स्थविर है।

५४. मुक्त हुए विना शान्ति प्राप्त नही होती।

५५. जो अपने या दूसरे के संकट काल मे भी अपने स्नेही का साथ नही छोड़ता है, वह बंधु है।

५६. अहिंसा, सत्य आदि धर्म सब प्राणियों का पिता है, क्यो कि वही सब का रक्षक है।

५७. जिस से चिंतन किया जाता है, वह चित्त है।

५८. विशुद्ध भाव अर्थात् पवित्र विचार ही जीवन की सुगंध है।

५९. विविध कुल एवं जातियो मे उत्पन्न हुए साधु पुरुष पृथ्वी पर के कल्प वृक्ष हैं।

४७. परिणिव्वुतो णाम रागद्दोसविमुक्के।

—उत्त० चू० १०

४८ यस्तु आत्मनः परेषां च शान्तये, तद् भावतीर्थं भवति।

—उत्त० चू० १२

४९. शरीरलेश्यासु हि अशुद्धास्वपि आत्मलेश्या शुद्धा भवन्ति।

—उत्त० चू० १२

५०. द्रव्यब्रह्म अज्ञानिनां वस्तिनिग्रहः, मोक्षाधिकारशून्यत्वात्।

—उत्त० चू० १६

५१. देशकालानुरूपं धर्मं कथयन्ति तीर्थकराः।

—उत्त० चू० २३

५२. परमार्थतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षकारणं, न लिंगादीनि।

—उत्त० चू० २३

५३. स्थिरीकरणात् स्थविरः।

—उत्त० चू० २७

५४. अमुक्तस्य च निर्वृति र्नास्ति।

—उत्त० चू० २८

५५. जो अप्पणो परस्स वा आवतीए वि न परिच्चयति, सो बंधू।

—नंदी सूत्र, चूर्णि १

५६. सव्वसत्ताण अहिंसादिलक्खणो धम्मो पिता, रक्खणत्तातो।

—नंदी० चू० १

५७. चिंतिज्जइ जेण तं चित्तं।

—नंदी० चू० २।१३

५८. विसुद्धभावत्तणतो य सुगंधं।

—नंदी० चू० २।१३

५९. विविहकुलुप्पण्णा साहवो कप्परुक्खा।

—नंदी० चू० २।१६

४७. राग और द्वेष से मुक्त होना ही परिनिर्वाण है।

४८. जो अपने को और दूसरो को शान्ति प्रदान करता है, वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप भावतीर्थ है।

४९. बाहर में शरीर की लेश्या (वर्ण आदि) अशुद्ध होने पर भी अन्दर में आत्मा की लेश्या (विचार) शुद्ध हो सकती है।

५०. अज्ञानी साधको का चित्तशुद्धि के अभाव मे किया जाने वाला केवल-जननेन्द्रिय-निग्रह द्रव्य ब्रह्मचर्य है, क्योंकि वह मोक्षाधिकार से शून्य है।

५१. तीर्थङ्कर देश और काल के अनुरूप धर्म का उपदेश करते है।

५२. परमार्थ दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है, वेष आदि नही।

५३, जो अपने को और दूसरों को साधना मे स्थिर करता है–वह स्थविर है।

५४. मुक्त हुए विना शान्ति प्राप्त नही होती।

५५. जो अपने या दूसरे के संकट काल मे भी अपने स्नेही का साथ नही छोडता है, वह बंधु है।

५६. अहिंसा, सत्य आदि धर्म सब प्राणियों का पिता है, क्यों कि वही सब का रक्षक है।

५७. जिस से चिंतन किया जाता है, वह चित्त है।

५८. विशुद्ध भाव अर्थात् पवित्र विचार ही जीवन की सुगंध है।

५९. विविध कुल एवं जातियो मे उत्पन्न हुए साधु पुरुष पृथ्वी पर के कल्प वृक्ष है।

६०. भूतहितं ति अहिंसा ।

—नंदी० चू० ५।३८

६१. स्व-परप्रत्यायकं सुतनाणं ।

—नदी० चू० ४८

६२. खंडसंजुतं खीरं पित्तजरोदयतो ण सम्मं भवइ ।

—नदी० चू० ७१

६३. अणेगधा जाणमाणो विण्णाता भवति ।

—नंदी० चू० ८५

४२. संघयणा भावा उच्छाहो न भवति ।

—दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि, पृ० ३

६५. सिसस्स व। विणयादिजुतस्स दितो निरिणो भवति ।

— दशा० चू०, पृ० २३

६६. मोक्खत्थं आहार-विहाराइसु अहिगारो कीरति ।

—निशीथ चूर्णि, भाष्य गाथा, ११

६७. णाणं पि काले अहिज्जमाणं णिज्जराहेऊ भवति ।
अकाले पुण उवघाय करं कम्मबंधाय भवति ॥

—नि० चू० ११

६८. विणओववेयस्स इह परलोगे वि विज्जाओ फलं पयच्छंति ।

—नि० चू० १३

६९. मोहो विण्णाण विवच्चासो ।

—नि० चू० २६

७०. अण्णाणोवचियस्स कम्मचयस्स रित्तीकरणं चारित्तं ॥

—नि० चू० ४६

७१. तप्पते अणेण पावं कम्ममिति तपो ।

—नि० चू० ४६

७२. भावे णाणावरणातीणि पंको ।

—नि० चू० ७०

६०. प्राणियों का हित अहिंसा है।

६१. स्व और पर को बोध कराने वाला ज्ञान—श्रुत ज्ञान है।

६२. खांड मिला हुआ मधुर दूध भी पित्तज्वर मे ठीक नहीं रहता।

६३. वस्तु स्वरूप को अनेक दृष्टियों से जानने वाला ही विज्ञाता है।

६४. संहनन (शारीरिक शक्ति) क्षीण होने पर धर्म करने का उत्साह नही होता।

६५. गुरु, शिष्य को ज्ञानदान कर देने पर अपने गुरु के ऋण से मुक्त हो जाता है।

६६. साधक के आहार-विहार आदि का विधान मुक्ति के हेतु किया गया है।

६७. विवेकज्ञान का विपर्यास ही मोह है।

६८. शास्त्र का अध्ययन उचित समय पर किया हुआ ही निर्जरा का हेतु होता है, अन्यथा वह हानि कर तथा कर्मबंध का कारण बन जाता है।

६९. विनयशील साधक की विद्याएं यहां वहां (लोक परलोक मे) सर्वत्र सफल होती है।

७०. अज्ञान से संचित कर्मों के उपचय को रिक्त करना—चारित्र है।

७१. जिस साधना से पाप कर्म तप्त होता है, वह तप है।

७२. भाव दृष्टि से ज्ञानावरण (अज्ञान) आदि दोष आभ्यंतर पंक हैं।

७३. तवस्स मूलं धिती ।

—नि० चू०

७४. पमाया दप्पो भवति अप्पमाया कप्पो ।

—नि० चू०

७५. सति पाणातिवाए अप्पमत्तो अवहगो भवति,
एवं असति पाणातिवाए पमत्तताए वहगो भवति ।

—नि० चू०

७६. णाणातिकारणावेक्ख अकप्पसेवणा कप्पो ।

—नि० चू०

७७. माया-लोभेहिंतो रागो भवति ।
कोह-माणेहिं तो दोसो भवति ॥

—नि० चू०

७८. गेलण्णे य बहुतरा संजमविराहणा ।

—नि० चू० १७५

७९. निब्भएण गंतव्वं ।

—नि० चू० २७३

८०. णिट्ठुरं णिण्हेहवयणं खिसा ।
मउय सिणेहवयणं उवालंभो

—नि० चू० २६३७

८१. समभावोसामायियं, तं सकसायस्स णो विसुज्झेज्जा ।

—नि० चू० २८४६

८२. गुणकारित्तणातो ओमं भोत्तव्वं ।

—नि० चू० २६५१

८३. पुन्नं मोक्खगमणविग्घाय हवति ।

—नि० चू० ३३२६

८४. यत्रात्मा तत्रोपयोगः, यत्रोपयोग स्तत्रात्मा ।

—नि० चू० ३३३२

७३. तप का मूल धृति अर्थात् धैर्य है ।

७४. प्रमाद भाव से किया जाने वाला अपवादसेवन दर्प होता है और वही अप्रमाद भाव से किया जाने पर कल्प=आचार हो जाता है ।

७५. प्राणातिपात, होने पर भी अप्रमत्त साधक अहिंसक है, और प्राणातिपात न होने पर भी प्रमत्त व्यक्ति हिंसक है ।

७६. ज्ञानादि की अपेक्षा से किया जाने वाला अकल्पसेवन भी कल्प है ।

७७. माया और लोभ से राग होता है ।
क्रोध और मान से द्वेष होता है ।

७८. रोग हो जाने पर बहुत अधिक संयम की विराधना होती है ।

७९. जीवन पथ पर निर्भय होकर विचरण करना चाहिए ।

८०. स्नेहरहित निष्ठुर वचन खिंसा (फटकार) है, स्नेहसिक्त मधुर वचन उपालंभ (उलाहना) है ।

८१. समभाव सामायिक है, अतः कषाययुक्त व्यक्ति का सामायिक विशुद्ध नहीं होता ।

८२. कम खाना गुणकारी है ।

८३. परमार्थ दृष्टि से पुण्य भी मोक्ष प्राप्ति मे विघातक=बाधक है ।

८४. जहां आत्मा है, वहां उपयोग (चेतना) है, जहां उपयोग है वहां आत्मा है ।

८५. यत्र तपः, तत्र नियमात्संयमः।
यत्र संयमः, तत्रापि नियमात् तपः।

—नि० चू० ३३३२

८६. अन्नं भासइ अन्नं करेइ त्ति मुसावाओ।

—नि० चू० ३९८८

८७. आवत्तीए जहा अप्पं रक्खंति,
तहा अण्णोवि आवत्तीए रक्खियव्वो।

—नि० चू० ५९४२

८८. णाणदंसणविराहणाहिं णियमा चरणविराहणा।

—नि० चू० ६१९

८९. दव्वेण भावेण वा, ज अप्पणो परस्स वा
उवकारकरणं, तं सव्वं वेयावच्चं॥

—नि० चू० ६६८

९०. पमायमूलो बंधो भवति।

—नि० चू० ६६८

८५. जहां तप है वहां नियम से संयम है, और जहां संयम है वहां नियम से तप है।

८६. 'कहना कुछ और करना कुछ'—यही मृषावाद (असत्य भाषण) है।

८७. आपत्तिकाल में जैसे अपनी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरों की भी रक्षा करनी चाहिए।

८८. ज्ञान और दर्शन की विराधना होने पर चारित्र की विराधना निश्चित है।

८९. भोजन, वस्त्र आदि द्रव्य रूप से, और उपदेश एवं सत्प्रेरणा आदि भाव-रूप से, जो भी अपने को तथा अन्य को उपकृत किया जाता है, वह सब वैय्यावृत्य है।

९०. कर्मबंध का मूल प्रमाद है।

सूक्तिकरण

●

१. एगे आया ।

—समवायांग १।

२. विरणयमूले धम्मे पन्नत्ते ।

—ज्ञाता धर्मकथा १।

३. रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं चेव
पक्खालिज्जमाणस्स रणत्थि सोही ॥

—ज्ञाता० १।

४. अहं अव्वए वि, अहं अवट्ठिए वि ।

—ज्ञाता० १।

५. भोगेहिं य निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं ।

—ज्ञाता० १।

६. सुरूवा वि पोग्गला दुरूवत्ताए परिणमंति,
दुरूवा वि पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमंति ।

—ज्ञाता० १।१

७. चक्खिंदियदुद्दंतत्तणस्स, अह एत्तिओ हवइ दोसो ।
जं जलणंमि जलंते, पडइ पयंगो अबुद्धीओ ॥

—ज्ञाता० १।१७

सूक्तिकरण

१. स्वरूपदृष्टि से सब आत्माएं एक (समान) हैं।

२. धर्म का मूल विनय=आचार है।

३. रक्त से सना वस्त्र रक्त से धोने से शुद्ध नहीं होता।

४. मैं (आत्मा) अव्यय=अविनाशी हूँ, अवस्थित=एकरस हूँ।

५. जो विषय भोगों से निरपेक्ष रहते है, वे संसार वन को पार कर जाते है।

६. सुरूप पुद्गल (सुंदर वस्तुएं) कुरूपता मे परिणत होते रहते है और कुरूप पुद्गल सुरूपता मे।

७. चक्षु इन्द्रिय की आसक्ति का इतना बुरा परिणाम होता है कि मूर्ख पतंगा जलती हुई आग में गिर कर मरजाता है।

८. सयस्स वि य णं कुडुंबस्स मेढीपमाणं,
आहारे, आलंबणं, चक्खू ।

—उपासक दशा १।५

९. कालं अणवकंखमाणे विहरइ ।

—उपा० १।७३

१०. संजमेणं तवसा अप्पाणे भावे माणे विहरइ ।

—उपा० १।७६

११. भारिया धम्मसहाइया, धम्मविइज्जिया,
धम्माणुरागरत्ता समसुहदुक्खसहाइया ।

—उपा० ७।२२७

१२. जलबुब्बुयसमाणं कुसग्गजलबिंदुचंचलं जीवियं ।

—औपपातिक सूत्र २३

१३. निरुवलेवा गगणमिव, निरालंबणा अणिलो इव ।

—औप० २७

१४. अजियं जिणाहि; जियं च पालेहि ।

—औप० ५३

१५. सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति ।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति ॥

—औप० ५६

१६. धम्मं णं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खह,
उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह ।

—औप० ५८

१७ ण वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं ण वि य सव्व देवाणं ।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥

—औप० १८

८. गृहस्थ को अपने परिवार मे मेढीभूत (स्तंभ के समान उत्तरदायित्व वहन करने वाला), आधार, आलंबन और चक्षु अर्थात् पथ-प्रदर्शक बनना चाहिए।

९. साधक कष्टों से जूझता हुआ काल=मृत्यु से अनपेक्ष होकर रहे।

१०. साधक संयम और तप से आत्मा को सतत भावित करता रहे।

११. पत्नी—धर्म मे सहायता करने वाली, धर्म की साथी, धर्म मे अनुरक्त तथा सुख दु:ख में समान साथ देने वाली होती है।

१२. जीवन पानी के बुलबुले के समान और कुशा की नोक पर स्थित जल-बिन्दु के समान चचल है।

१३. सत जन आकाश के समान निरवलेप और पवन के समान निरालंब होते है।

१४. राजनीति का सूत्र है—'नही जीते हुए शत्रुओं को जीतो, और जीते हुओं का पालन करो।'

१५. अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है।
बुरे कर्म का बुरा फल होता है।

१६. प्रभो ! आपने धर्म का उपदेश देते हुए उपशम का उपदेश दिया और उपशम का उपदेश देते हुए विवेक का उपदेश दिया।

१७. संसार के सब मनुष्यों और सब देवताओं को भी वह सुख प्राप्त नहीं है, जो सुख अव्याबाध स्थिति को प्राप्त हुए मुक्त आत्माओं को है।

१८. जे से पुरिसे देति वि, सण्णवेइ वि से णं ववहारी।
जे से पुरिसे नो देति, नो सण्णवेइ से णं अववहारी।

—राजप्रश्नीय ४।८

१९. जत्थेव धम्मायरियं पासेज्जा, तत्थेव वंदिज्जा नमंसिज्जा।

—राजप्र० ४।८

२०. मा णं तुमं पदेसी !
पुव्वं रमणिज्जे भवित्ता, पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जासि।

—राजप्र० ४।८

२१. सम्मद्दिट्ठिस्स सुयं सुयणाणं,
मिच्छद्दिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं।

—नंदी सूत्र ४

२२. सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडियो।

—नंदी० ७

२३. सुट्ठु वि मेहसमुदए होति पभा चंद-सूराणं।

—नंदी० ७

२४, अणुवओगो दव्वं।

—अनुयोग द्वार सू० १

२५. सित्थेण दोणपागं, कविं च एक्काए गाहाए।

—अनु० ११

२६. जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे णिअमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासिअं ॥[1]

—अनु० १२

२७. जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासिअं ॥[2]

—अनु० १२

२८. जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ अ, सममणइ तेण सो समणो ॥

—अनु० १२

१—नियमसार १२७। २—नियमसार १२६।

१८. जो व्यापारी ग्राहक को अभीष्ट वस्तु देता है और प्रीतिवचन से संतुष्ट भी करता है, वह व्यवहारी है। जो न देता है और न प्रीतिवचन से संतुष्ट ही करता है वह अव्यवहारी है।

१९. जहां कही भी अपने धर्माचार्य को देखें, वही पर उन्हें वन्दना नमस्कार करना चाहिए।

२०. हे राजन्! तुम जीवन के पूर्वकाल मे रमणीय होकर उत्तर काल मे अरमणीय मत बन जाना।

२१. सम्यक् दृष्टि का श्रुत, श्रुत ज्ञान है।
मिथ्या दृष्टि का श्रुत, श्रुत अज्ञान है।

२२. सभी संसारी जीवो का कम से कम अक्षर-ज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो सदा उद्‌घाटित ही रहता है।

२३. घने मेघावरणो के भीतर भी चंद्र सूर्य की प्रभा कुछ-न-कुछ प्रकाशमान रहती ही है।

२४. उपयोगशून्य साधना द्रव्य है, भाव नही।

२५. एक कण से द्रोण[1] भर पाक की, और एक गाथा से कवि की परीक्षा हो जाती है।

२६. जिस की आत्मा संयम मे, नियम मे एवं तप में सन्निहित—तल्लीन है, उसी की सच्ची सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

२७. जो त्रस (कीट, पतंगादि) और स्थावर (पृथ्वी, जल आदि) सब जीवो के प्रति सम है अर्थात् समत्वयुक्त है, उसी की सच्ची सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

२८. जिस प्रकार मुझ को दुःख प्रिय नही है, उसी प्रकार सभी जीवो को दुःख प्रिय नही है, जो ऐसा जानकर न स्वयं हिंसा करता है, न किसी से हिंसा करवाता है, वह समत्वयोगी ही सच्चा 'समण' है।

१—[illegible] सेर का एक तौल विशेष। —संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ।

२९. तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ ण होइ पावमणो।
सयणे अ जणे अ समो, समो अ माणावमाणेसु॥

—अनु० १३

३०. उवसमसारं खु सामण्णं।

—बृहत्कल्प सूत्र १।३

३१. जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा,
जो न उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा।

—बृह० १।३

३२. आगमबलिया समणा निग्गंथा।

—व्यवहार सूत्र १

३३. गिलाणं वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे,
महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति।

—व्यवहार० १

३४. चत्तारि पुरिसजाया—
रूवेणाम एगे जहइ णो धम्मं।
धम्मेणामं एगे जहइ णो रूवं।
एगे रूवे वि जहइ धम्मं पि,
एगे णो रूवं जहइ णो धम्मं।

—व्यवहार० १

३५. ओयं चित्तं समादाय झाणं समुप्पज्जइ।
धम्मे ठिओ अविमणो, निव्वाणमभिगच्छइ॥

—दशा श्रुतस्कंध ५।

३६. णेमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ।

—दशा० ५।

३७. अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसेंति ताइणो।

—दशा० ५।

३८. सुक्कमूले जवा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति।
एवं कम्मा न रोहंति, मोहणिज्जे खयं गते॥

—दशा० ५।१

२९. जो मन से सु-मन (निर्मल मन वाला) है, संकल्प से भी कभी पापोन्मुख नही होता, स्वजन तथा परजन मे, मान एवं अपमान में सदा सम रहता है, वह 'समण' होता है।

३०. श्रमणत्व का सार है—उपशम !

३१. जो कषाय को शान्त करता है, वही आराधक है। जो कषाय को शांत नही करता, उसकी आराधना नही होती।

३२. श्रमण निर्ग्रन्थो का बल 'आगम' (शास्त्र) ही है।

३३. रुग्ण साथी की सेवा करता हुआ श्रमण महान् निर्जरा और महान् पर्यवसान (परिनिर्वाण) करता है।

३४. चार तरह के पुरुष है—
कुछ व्यक्ति वेष छोड़ देते हैं, किंतु धर्म नही छोड़ते।
कुछ धर्म छोड़ देते है, किंतु वेष नही छोड़ते।
कुछ वेष भी छोड़ देते है और धर्म भी।
और कुछ ऐसे होते है जो न वेष छोड़ते है, और न धर्म !

३५. चित्तवृत्ति निर्मल होने पर ही ध्यान की सही स्थिति प्राप्त होती है। जो बिना किसी विमनस्कता के निर्मल मन से धर्म मे स्थित है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

३६. निर्मल चित्त वाला साधक संसार मे पुनः जन्म नही लेता।

३७. जो साधक अल्पाहारी है, इन्द्रियों का विजेता है, सभी प्राणियों के प्रति रक्षा की भावना रखता है, उसके दर्शन के लिए देव भी आतुर रहते हैं।

३८. जिस वृक्ष की जड़ सूख गई हो, उसे कितना ही सींचिए, वह हरा भरा नहीं होता। मोह के क्षीण होने पर कर्म भी फिर हरे भरे नही होते।

३९. जहा दड्ढाण बीयाणं, ण जायंति पुणंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा॥

—दशा० ५।१५

४०. धंसेइ जो अभूएणं, अकम्मं अत्त-कम्मुणा।
अदुवा तुम कासित्ति, महामोह पकुव्वइ॥

—दशा० ९।८

४१. जाणमाणो परिसाए, सच्चामोसाणि भासइ।
अक्खीण-झंझे पुरिसे, महामोहं पकुव्वइ॥

—दशा० ९।९

४२. जं निस्सिए उव्वहइ, जससाहिगमेण वा।
तस्स लुब्भइ वित्तं पि, महामोहं पकुव्वइ॥

—दशा० ९।१५

४३. बहुजणस्स णेयारं, दीव-ताणं च पाणिणं।
एयारिसं नरं हंता, महामोहं पकुव्वइ॥

—दशा० ९।१७

४४. नाणी नवं न बन्धइ।

—दशवैकालिक निर्युक्ति ३१९

४५. हिअ-मिअ-अफरुसवाई, अणुवीइभासि वाइओविणओ।

—दशवै० नि० ३२२

४६. तण-कट्ठेहि व अग्गी, लवणजलो वा नईसहस्सेहिं।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं कामभोगेउं॥

—आतुर प्रत्याख्यान ५०

४७. गहिओ सुग्गइमग्गो, नाहं मरणस्स वीहेमि।

—आतुर० ६३

४८. धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्समरियव्वं।
दुण्हं पि हु मरियव्वे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं॥

—आतुर० ६४

३९. बीज जब जल जाता है तो उससे नवीन अंकुर प्रस्फुटित नही हो सकता। ऐसे ही कर्म बीज के जल जाने पर उससे जन्ममरणरूप अंकुर प्रस्फुटित नही हो सकता।

४०. जो अपने किए हुए दुष्कर्म को दूसरे निर्दोष व्यक्ति पर डाल कर उसे लांछित करता है कि यह "पाप तूने किया है", वह महामोह कर्म का बंध करता है।

४१. जो सही स्थिति को जानता हुआ भी सभा के बीच मे अस्पष्ट एवं मिश्र भाषा (कुछ सच कुछ झूठ) का प्रयोग करता है, तथा कलह-द्वेष से युक्त है, वह महामोह रूप पाप कर्म का बंध करता है।

४२. जिसके आश्रय, परिचय तथा सहयोग से जीवनयात्रा चलती हो उसी की संपत्ति का अपहरण करने वाला दुष्ट जन महामोह कर्म का बंध करता है।

४३. दुःखसागर मे डूबे हुए दुःखी मनुष्यों का जो द्वीप के समान सहारा होता है, जो बहुजन समाज का नेता है, ऐसे परोपकारी व्यक्ति की हत्या करने वाला महामोह कर्म का बंध करता है।

४४. ज्ञानी नवीन कर्मो का वन्ध नही करता।

४५. हित, मित, मृदु और विचार पूर्वक बोलना वाणी का विनय है।

४६. जिस प्रकार तृण, काष्ट से अग्नि, तथा हजारों नदियों से समुद्र तृप्त नही होता है, उसी प्रकार रागासक्त आत्मा काम-भोगों से तृप्त नही हो पाता।

४७. मैंने सद्गति का मार्ग (धर्म) अपना लिया है, अब मैं मृत्यु से नही डरता।

४८. धीर पुरुष को भी एक दिन अवश्य मरना है, और कायर को भी, जब दोनों को ही मरना है तो अच्छा है कि धीरता (शान्त भाव) से ही मरा जाए।

४६. दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।

—भक्तपरिज्ञा ६६

५०. जह मक्कडओ खणमवि, मज्झत्थो अच्छिउं न सक्केइ।
तह खणमवि मज्झत्थो, विसएहिं विणा न होइ मणो॥

—भक्त० ८४

५१. धम्ममहिंसासमं नत्थि।

—भक्त० ६१

५२. जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।

—भक्त० ६३

५३. अगीअत्थस्स वयणेणं, अमयंपि न घुंटए।

—गच्छाचार ४६

५४. जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वायरेण कायव्वं।

—महाप्रत्याख्यान १०६

५५. सो नाम अणसणतवो, जेण मणो मंगुलं न चितेइ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति॥

—मरणसमाधि १३४

५६. किं इत्तो लट्ठयरं अच्छेरययं व सुंदरतरं वा?
चंदमिव सव्वलोगा, बहुस्सुयमुहं पलोयंति।

मरण० १४४

५७. नाणेण य करणेण य दोहि वि दुक्खक्खय होइ।

—मरण० १४७

५८. अत्थो मूलं अणत्थाणं।

—मरण० ६०३

५६. न हु पावं हवइ हियं, विसं जहा जीवियत्थिस्स।

—मरण० ६१३

६०. हुंति गुणकारगाइं, सुयरज्जूहिं धणियं नियमियाइं।
नियगाणि इंदियाइं, जइणो तुरगा इव सुदंता॥

—मरण० ६२२

४९. जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वस्तुतः वही भ्रष्ट है, पतित है। क्योंकि दर्शन से भ्रष्ट को मोक्ष प्राप्त नही होता।

५०. जैसे वंदर क्षण भर भी शांत होकर नही बैठ सकता, वैसे ही मन भी संकल्प विकल्प से क्षण भर के लिए भी शांत नही होता।

५१. अहिसा के समान दूसरा धर्म नही है।

५२. किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुतः अपनी ही हत्या है, और अन्य जीव की दया अपनी ही दया है।

५३. अगीतार्थ=अज्ञानी के कहने से अमृत भी नही पीना चाहिए।

५४. जिस किसी भी क्रिया से वैराग्य की जागृति होती हो, उसका पूर्ण श्रद्धा के साथ आचरण करना चाहिए।

५५. वही अनशन तप श्रेष्ठ है जिस से कि मन अमंगल न सोचे, इन्द्रियो की हानि न हो और नित्यप्रति की योग-धर्म क्रियाओं मे विघ्न न आए।

५६. इससे वढकर मनोहर, सुंदर और आश्चर्यकारक क्या होगा कि लोग वहुश्रुत के मुख को चन्द्र-दर्शन की तरह देखते रहते है।

५७. ज्ञान और चारित्र—इन दोनो की साधना से ही दुःख का क्षय होता है।

५८. अर्थ अनर्थों का मूल है।

५९. जैसे कि जीवितार्थी के लिए विष हित कर नही होता, वैसे ही कल्याणार्थी के लिए पाप हितकर नही है।

६०. ज्ञान की लगाम से नियन्त्रित होने पर अपनी इन्द्रियां भी उसी प्रकार लाभकारी हो जाती है, जिस प्रकार लगाम से नियंत्रित तेज दौड़ने वाला घोड़ा।

६१. माणुसजाई बहुविचित्ता ।

—मरण० ६४०

६२. सव्वत्थेसु समं चरे ।

—इसिभासियाइं १।८

६३. मूलसित्ते फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं ।

—इसि० २।६

६४. मोहमूलाणि दुक्खाणि ।

—इसि० २।७

६५. खीरे दूसिं जधा पप्प, विणासमुवगच्छति ।
एवं रागो व दोसो य, बंभचेरविणासणो ।

—इसि० ३।७

६६. सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहिं ।
सव्वोदही जलेणावि, मोहग्गी दुण्णिवारओ ।।

—इसि० ३।१०

६७. मणुस्सहिदयं पुणिणं, गहणं दुव्वियाणकं ।

—इसि० ४।६

६८. संसारसंतईमूलं, पुण्णं पावं पुरेकडं ।

—इसि० ६।२

६९. पत्थरेणाहतो कीवो, खिप्पं डसइ पत्थरं ।
मिगारिऊ सरं पप्प, सरुप्पत्तिं विमग्गति ।।

—इसि० १५।२०

७०. अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं ।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं ।।

—इसि० २१।१

७१. सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य ।
सव्वस्स साहुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ।।

—इसि० २२।१३

६१. मानवजाति बहुत विचित्र है ।

६२. साधक को सर्वत्र सम रहना चाहिए ।

६३. मूल को सीचने पर ही फल लगते हैं । मूल नष्ट होने पर फल भी नष्ट हो जाता है ।

६४. दुःखों का मूल मोह है ।

६५. जरा सी खटाई भी जिस प्रकार दूध को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार राग-द्वेष का संकल्प संयम को नष्ट कर देता है ।

६६. बाहर में जलती हुई अग्नि को थोड़े से जल से शांत किया जा सकता है । किंतु मोह अर्थात् तृष्णा रूप अग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी शांत नही किया जा सकता ।

६७. मनुष्य का मन बड़ा गहरा है, इसे समझ पाना कठिन है ।

६८. पूर्व कृत पुण्य और पाप ही संसार परम्परा का मूल है ।

६९. पत्थर से आहत होने पर कुत्ता आदि क्षुद्र प्राणी पत्थर को ही काटने दौड़ता है (न कि पत्थर मारने वाले को), किंतु सिंह बाण से आहत होने पर बाण मारने वाले की ओर ही झपटता है ।
[अज्ञानी सिर्फ प्राप्त सुख दुःख को देखता है, ज्ञानी उसके हेतु को ।]

७०. अज्ञान सबसे बड़ा दुःख है । अज्ञान से भय उत्पन्न होता है, सब प्राणियों के संसार भ्रमण का मूल कारण अज्ञान ही है ।

७१. [illegible] की साधना में ध्यान का प्रमुख स्थान है जैसे कि शरीर में मस्तक का, तथा वृक्ष के लिए उसकी जड़ का ।

७२. सुभासियाए भासाए, सुकडेण य कम्मुणा।
पज्जण्णे कालवासी वा, जसं तु अभिगच्छति ॥

—इसि० ३३।४

७३. हेमं वा आयसं वावि, बंधणं दुक्खकारणा।
महग्घस्सावि दंडस्स, णिवाए दुक्खसंपदा ॥

—इसि० ४५।५

७४. उप्पज्जंति वियंति य, भावा नियमेण पज्जवनयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥

—सन्मतिप्रकरण १।११

७५. दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥

—सन्मति० १।१२

७६. तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उ ण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥

—सन्मति० १।२१

७७. ण वि अत्थि अण्णवादो, ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि।

—सन्मति० ३।२६

७८. जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया ॥

—सन्मति० ३।४७

७९. दव्वं खित्तं कालं, भावं पज्जाय देस संजोगे।
भेदं पडुच्च समा, भावाणं पण्णवणपज्जा ॥

—सन्मति० ३।६०

८०. ण हु सासणभत्ती मेत्तएण सिद्धंतजाणओ होइ।
ण वि जाणओ वि णियमा, पण्णवणाणिच्छिओ णामं ॥

—सन्मति० ३।६३

७२. जो वाणी से सदा सुन्दर बोलता है, और कर्म से सदा सदाचरण करता है ; वह व्यक्ति समय पर बरसने वाले मेघ की तरह सदा प्रशंसनीय और जनप्रिय होता है ।

७३. बंधन चाहे सोने का हो या लोहे का, बंधन तो आखिर दुःखकारक ही है। बहुत मूल्यवान दंड (डंडे) का प्रहार होने पर भी दर्द तो होता ही है !

७४. पर्यायदृष्टि से सभी पदार्थ नियमेन उत्पन्न भी होते है, और नष्ट भी। परन्तु द्रव्यदृष्टि से सभी पदार्थ उत्पत्ति और विनाश से रहित सदा-काल ध्रुव है।

७५. द्रव्य कभी पर्याय के विना नही होता है, और पर्याय कभी द्रव्य के विना नही होता है। अतः द्रव्य का लक्षण उत्पाद, नाश और ध्रुव (स्थिति) रूप है।

७६. अपने-अपने पक्ष मे ही प्रतिवद्ध परस्पर निरपेक्ष सभी नय (मत) मिथ्या हैं, असम्यक् हैं। परन्तु ये ही नय जब परस्पर सापेक्ष होते है, तब सत्य एवं सम्यक् वन जाते है।

७७. जैन दर्शन में न एकान्त भेदवाद मान्य है और न एकान्त अभेदवाद। (अतः जैन दर्शन भेदाभेदवादी दर्शन है।)

७८. जितने वचनविकल्प है, उतने ही नयवाद है, और जितने भी नयवाद है, संसार में उतने ही पर समय हैं, अर्थात् मत मतान्तर है।

७९. वस्तुतत्त्व की प्ररूपणा द्रव्य[१], क्षेत्र[२], काल[3], भाव[४], पर्याय[५], देश[६], संयोग[७] और भेद[८] के आधार पर ही सम्यक् होती है।

८०. मात्र आगम की भक्ति के वल पर ही कोई सिद्धान्त का ज्ञाता नही हो सकता। और हर कोई सिद्धान्त का ज्ञाता भी निश्चित रूप से प्ररूपणा करने के योग्य प्रवक्ता नही हो सकता।

---

१. पदार्थ की मूल जाति, २ स्थिति क्षेत्र, ३ योग्य समय, ४ पदार्थ की मूल शक्ति, ५ शक्तियों के विभिन्न परिणमन अर्थात् कार्य, ६ व्यावहारिक स्थान, ७ आस-पास की परिस्थिति, ८ प्रकार।

८१. सुत्तं अत्थनिमेणं, न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती।
अत्थगई पुण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा॥
—सन्मति० ३।६४

८२. णाणं किरियारहियं, किरियामेत्तं च दोवि एगंता।
—सन्मति० ३।६८

८३. भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स॥
—सन्मति० ३।६९

८४. जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा ण णिघडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स॥
—सन्मति० ३।७

८५. अक्खेहि णरो रहिओ, ण मुणइ सेसिंदएहिं वेएइ।
जूयंधो ण य केण वि, जाणइ संपुण्णकरणो वि॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार

८६. पासम्मि बहिणिमायं, सिसुंपि हणेइ कोहंधो।
—वसु० श्रा०

८७. जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जुव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणाससहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा

८८. सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं गुणगहणं, मंदकसायाण दिट्ठंता॥
—कार्तिके०

८९. संकप्पमओ जीओ, सुखदुक्खमयं हवेइ संकप्पो।
—कार्तिके० १८४

९०. अंतरतच्चं जीवो, वाहिरतच्चं हवंति सेसाणि।
—कार्तिके० २०४

९१. हिदमिदवयणं भासदि, संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।
—कार्तिके० ३३४

८१. सूत्र (शब्द पाठ) अर्थ का स्थान अवश्य है। परन्तु मात्र सूत्र से अर्थ की प्रतिपत्ति नही हो सकती। अर्थ का ज्ञान तो गहन नयवाद पर आधारित होने के कारण बडी कठिनता से हो पाता है।

८२. क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया-दोनो ही एकान्त हैं, (फलतः जैन दर्शनसम्मत नही है।)

८३. विभिन्न मिथ्यादर्शनों का समूह, अमृतसार=अमृत के समान क्लेश का नाशक, और मुमुक्षु आत्माओ के लिए सहज सुबोध भगवान जिन-प्रवचन का मंगल हो।

८४. जिसके विना विश्व का कोई भी व्यवहार सम्यग् रूप से घटित नही होता है, अतएव जो त्रिभुवन का एक मात्र गुरु (सत्यार्थ का उपदेशक) है, उस अनेकान्त वाद को मेरा नमस्कार है।

८५ आंखो से अंधा मनुष्य, आँख के सिवाय बाकी सब इंद्रियो से जानता है, किन्तु जूए मे अधा हुआ मनुष्य सब इन्द्रियाँ होने पर भी किसी इन्द्रिय से कुछ नही जान पाता।

८६. क्रोध मे अंधा हुआ मनुष्य पास मे खडी मां, बहिन और बच्चे को भी मारने लग जाता है।

८७. जन्म के साथ मरण, यौवन के साथ बुढ़ापा, लक्ष्मी के साथ विनाश निरंतर लगा हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को नश्वर समझना चाहिए।

८८. सब जगह प्रिय वचन वोलना, दुर्जन के दुर्वचन वोलने पर भी उसे क्षमा करना, और सब के गुण ग्रहण करते रहना—यह मंदकषायी (शान्त स्वभावी) आत्मा के लक्षण है।

८९. जीव संकल्पमय है, और संकल्प सुखदु:खात्मक है।

९० जीव (आत्मा) अन्तस्तत्त्व है, वाकी सव द्रव्य वहिस्तत्त्व है।

९१ [illegible] दूसरो को संतोष देने वाला हितकारी और मित—संक्षिप्त वचन [illegible]।

९२. जो बहुमुल्लं वत्थुं, अप्पमुल्लेण णेव गिण्हेदि।
वीसरियं पि न गिण्हदि, लाभे थूये हि तूसेदि॥

—कार्तिके० ३३

९३. धम्मो वत्थुसहावो।

—कार्तिके० ४७

९४. निग्गहिए मणपसरे, अप्पा परमप्पा हवइ।

—आराधनासार २०

९५. मणणरवइए मरणे, मरंति सेणाइं इन्दियमयाइं।

—आराधना० ६०

९६. सुण्णीकयम्मि चित्ते, णूणं अप्पा पयासेइ।

—आराधना० ७४

९७. सुजणो वि होइ लहुओ, दुज्जणसंमेलणाए दोसेण।
माला वि मोल्लगरुया, होदि लहू मडयसंसिट्ठा॥

—भगवती आराधना ३४५

९८. अकहिंतस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो।

—भग० आ० ३६१

९९. वायाए अकहंता सुजणे, चरिदेहि कहियगा होंति।

—भग० आ० ३६६

१००. किच्चा परस्स णिंदं, जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज।
सो इच्छदि आरोग्गं, परम्मि कडुओसहे पीए॥

—भग० आ० ३७१

१०१. दट्ठूण अण्णदोसं, सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ।

—भग० आ० ३७२

१०२. सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो।

—भग० आ० ७४२

१०३. णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स।

—भग० आ० ७६२

९२. वही सद् गृहस्थ श्रावक कहलाने का अधिकारी है, जो किसी की बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य देकर नही ले, किसी की भूली हुई वस्तु को ग्रहण नही करे, और थोड़ा लाभ (मुनाफा) प्राप्त करके ही संतुष्ट रहे।

९३. वस्तु का अपना स्वभाव ही उसका धर्म है।

९४. मन के विकल्पो को रोक देने पर आत्मा, परमात्मा बन जाता है।

९५. मन रूप राजा के मर जाने पर इन्द्रियां रूप सेना तो स्वयं ही मर जाती है। (अतः मन को मारने—वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए।)

९६. चित्त को (विषयो से) शून्य कर देने पर उसमें आत्मा का प्रकाश झलक उठता है।

९७ दुर्जन की संगति करने से सज्जन का भी महत्त्व गिर जाता है, जैसे कि मूल्यवान माला मुर्दे पर डाल देने से निकम्मी हो जाती है।

९८. अपने तेज का बखान नही करते हुए भी सूर्य का तेज स्वतः जगविश्रुत है।

९९. श्रेष्ठ पुरुष अपने गुणों को वाणी से नही, किंतु सच्चरित्र से ही प्रकट करते है।

१००. जो दूसरो की निंदा करके अपने को गुणवान प्रस्थापित करना चाहता है, वह व्यक्ति दूसरो को कड़वी औषध पिला कर स्वयं रोगरहित होने की इच्छा करता है।

१०१. सत्पुरुष दूसरे के दोष देख कर स्वयं में लज्जा का अनुभव करता है। (पर कभी उन्हे अपने मुह से नही कह पाता)।

१०२. सम्यग् दर्शन की प्राप्ति तीन लोक के ऐश्वर्य से भी श्रेष्ठ है।

१०३. मन रूपी उन्मत्त हाथी को वश मे करने के लिए ज्ञान अंकुश के समान है।

१०४. सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं।

—भग० आ० ७९०

१०५. जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया, हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण वंभचेरं, विमुक्कपरदेहतित्तिस्स॥

—भग० आ० ८७८

१०६. होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो, तध ण पित्तउम्मत्तो।

—भग० आ० १३३१

१०७. कोवेण रक्खसो वा, णराण भीमो णरो हवदि।

—भग० आ० १३६१

१०८. रोसेण रुद्दहिदओ, णारगसीलो णरो होदि।

—भग० आ० १३६६

१०९. सयणस्स जणस्स पिओ, णरो अमाणी सदा हवदि लोए।
णाणं जसं च अत्थं, लभदि सकज्जं च साहेदि॥

—भग० आ० १३७९

११०. सच्चाण सहस्साण वि, माया एक्कावि णासेदि।

—भग० आ० १३८४

१११. मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं।

—मूलाचार २०२

११२. मणसलिले थिरभूए, दीसइ अप्पा तहाविमले।

—तत्वसार ४१

१०४. अहिसा सव आश्रमो का हृदय है, सब शास्त्रों का गर्भ—उत्पत्तिस्थान है।

१०५. ब्रह्म का अर्थ है–आत्मा, आत्मा मे चर्या–रमण करना–ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी की पर देह मे प्रवृत्ति और तृप्ति नही होती।

१०६. वात, पित्त आदि विकारो से मनुष्य वैसा उन्मत्त नही होता, जैसा कि कषायो से उन्मत्त होता है। कषायोन्मत्त ही वस्तुतः उन्मत्त है।

१०७. क्रुद्ध मनुष्य राक्षस की तरह भयंकर बन जाता है।

१०८. क्रोध से मनुष्य का हृदय रौद्र बन जाता है। वह मनुष्य होने पर भी नारक (नरक के जीव) जैसा आचरण करने लग जाता है।

१०९. निरभिमानी मनुष्य जन और स्वजन–सभी को सदा प्रिय लगता है। वह ज्ञान, यश और संपत्ति प्राप्त करता है तथा अपना प्रत्येक कार्य सिद्ध कर सकता है।

१११. एक माया (कपट)—हजारो सत्यों का नाश कर डालती है।

१११. जिन शासन (आगम) मे सिर्फ दो ही वात वताई गई है–मार्ग और मार्ग का फल !

११२. मन रूपी जल, जव निर्मल एवं स्थिर हो जाता है, तव उसमें आत्मा का दिव्य रूप झलकने लग जाता है।

सूक्ति

त्रि वे णी

● बौद्ध-धारा
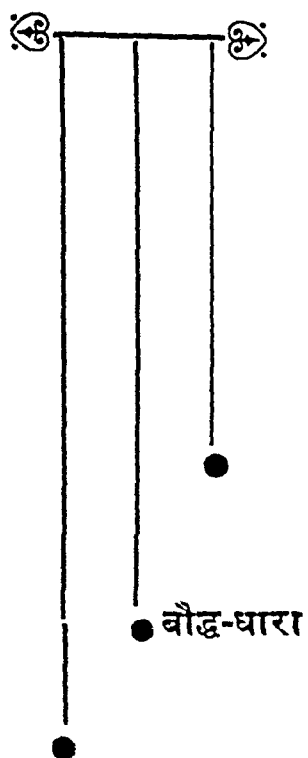
सुत्तपिटक :

दीघनिकाय की सूक्तियां[1]

१. सीलपरिधोता पञ्ञा, पञ्ञापरिधोतं सीलं।
यत्थ सीलं तत्थ पञ्ञा, यत्थ पञ्ञा तत्थ सीलं।

—१।४।४

२. रागरत्ता न दक्खंति, तमोखंधेन आवुटा।

—२।१।६

३. देवतानुकम्पितो पोसो, सदा भद्रानि पस्सती।

—२।३।६

४. अप्पमत्ता सतीमन्तो, सुसीला होथ भिक्खवो!

—२।३।१३

५. वयधम्मा संखारा, अप्पमादेन सम्पादेथा।

—२।३।२२

६. अनिच्चा वत संखारा, उप्पादवयधम्मिनो।
उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति, तेसं वूपसमो सुखो॥

—२।३।२३

१—भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित, नव नालन्दामहाविहार संस्करण।

सुत्तपिटक :

दीघनिकाय की सूक्तियां

●

१. शील से प्रज्ञा (=ज्ञान) प्रक्षालित होती है, प्रज्ञा से शील (आचार) प्रक्षालित होता है।

जहाँ शील है, वहाँ प्रज्ञा है। जहाँ प्रज्ञा है वहाँ शील है।

२. गहन अन्धकार से आच्छन्न रागासक्त मनुष्य सत्य का दर्शन नही कर सकते।

३. जिस पर देवताओं (दिव्यपुरुषो) की कृपा हो जाती है, वह व्यक्ति सदा मंगल ही देखता है, अर्थात् कल्याण ही प्राप्त करता है।

४. भिक्षुओ! सदैव अप्रमत्त, स्मृतिमान् (सावधान) और सुशील (सदाचारी) होकर रहो।

५. जो भी संस्कार (कृत वस्तु) हैं, सब व्ययधर्मा (नाशवान्) हैं। अतः अप्रमाद के साथ (आलस्य रहित होकर) जीवन के लक्ष्य का सम्पादन करो।[1]

६. सभी संस्कार (उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ) अनित्य है, उत्पत्ति और क्षय स्वभाव वाले है। वस्तु जो उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाले है, उनका शान्त हो जाना ही सुख है।[2]

१—बुद्ध की अन्तिम वाणी।   २—बुद्ध के निर्वाण पर देवेन्द्र शक्र की उक्ति।

७. दुक्खा सापेक्खस्स कालं किरिया,
गरहिता च सापेक्खस्स कालं किरिया।

—२।४।१३

८. सारथीव नेत्तानि गहेत्वा, इन्द्रियाणि रक्खन्ति पण्डिता।

—२।७।१

९. पियाप्पिये सति इस्सामच्छरियं होति,
पियाप्पिये असति इस्सामच्छरियं न होति।

—२।८।

१०. छन्दे सति पियाप्पियं होति,
छन्दे असति पियाप्पियं न होति।

—२।८

११. सक्कच्चं दानं देथ, सहत्था दानं देथ,
चित्तीकतं दानं देथ, अनपविद्धं दानं देथ।

—२।१०।१

१२. याव अत्तानं न पस्सति, कोत्थु ताव व्यग्घो त्ति मञ्ञति।

—३।१।६

१३. लाभ-सक्कार-सिलोकेन अत्तानुक्कंसेति परं वम्भेति,
अयं पि खो, निग्रोध, तपस्सिनो उपक्किलेसो होति।

—३।२।८

१४. तपस्सी अक्कोधनो होति, अनुपनाही।

—३।२।१

१५. तपस्सी अनिस्सुकी होति, अमच्छरी।

—३।२।१

१६ अत्तदीपा भिक्खवे विहरथ, अत्तसरणा, अनञ्ञसरणा।

—३।३।१

७. कामनायुक्त मृत्यु दुःखरूप होती है, कामनायुक्त मृत्यु निन्दनीय होती है।

८. जिस प्रकार सारथि लगाम पकड़ कर रथ के घोड़ों को अपने वश में किए रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी साधक ज्ञान के द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं।

९. प्रिय-अप्रिय होने से ही ईर्ष्या एवं मात्सर्य होते हैं।
प्रिय-अप्रिय के न होने से ईर्ष्या एवं मात्सर्य नहीं होते।

१०. छन्द (कामना-चाह) के होने से ही प्रिय-अप्रिय होते हैं। छन्द के न होने से प्रिय-अप्रिय नही होते।

११. सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, ठीक तरह से दोषरहित दान दो।

१२. जब तक अपने आपको नही पहचानता, तब तक सियार अपने को व्याघ्र समझता है।

१३. जो लाभ, सत्कार और प्रशंसा होने पर अपने को बड़ा समझने लगता है और दूसरों को छोटा, हे निगोध! यह तपस्वी का उपक्लेश है।

१४. सच्चा तपस्वी क्रोध और वैर से रहित होता है।

१५. सच्चा तपस्वी ईर्ष्या नहीं करता, मात्सर्य नहीं करता।

१७. 'यं अकुसलं तं अभिनिवज्जेय्यासि,
यं अकुसलं तं समादाय वत्तेय्यासि;
इदं खो, तात, तं अरियं चक्कवत्तिवतं।

—३।३।१

१८. अधनानं धने अननुप्पदीयमाने दालिद्दियं वेपुल्लमगमासि,
दालिद्दिये वेपुल्लं गते अदिन्नादानं वेपुल्लमगमासि।

—३।३।१

१९. धम्मो व सेट्ठो जनेतस्मिं, दिट्ठे चेव धम्मे अभिसम्पराये च।

—३।४।

२०. पाणातिपातो अदिन्नादानं, मुसावादो च वुच्चति।
परदारगमनं चेव, नप्पसंसन्ति पण्डिता॥

—३।८।

२१. छन्दागतिं गच्छन्तो पापकम्मं करोति,
दोसागतिं गच्छन्तो पापकम्मं करोति,
मोहागतिं गच्छन्तो पापकम्मं करोति,
भयागतिं गच्छन्तो पापकम्मं करोति।

—३।८।

२२. छन्दा दोसा भया मोहा, यो धम्मं नातिवत्तति।
आपूरति यसो तस्स, सुक्कपक्खे व चन्दिमा॥

—३।८।

२३. जूतप्पमादट्ठानानुयोगो भोगानं अपायमुखं,
पापमित्तानुयोगो भोगानं अपायमुखं,
आलस्यानुयोगो भोगानं अपायमुखं।

—३।८।

२४. सन्दिट्ठिका धनजानि, कलहप्पवड्ढनो, रोगानं आयतनं,
अकित्तिसञ्जननी, कोपीननिदंसनी पञ्ञाय दुब्बलिकरणी।

—३।८।

२५. यो च अत्थेसु जातेसु, सहायो होति सो सखा।

—३।८।

१७. 'जो बुराई है उसका त्याग करो और जो भलाई है उसको स्वीकार कर पालन करो'— तात, यही आर्य (श्रेष्ठ) चक्रवर्ती व्रत है।

१८. निर्धनों को धन न दिये जाने से दरिद्रता बहुत बढ़ गई और दरिद्रता के बहुत बढ जाने से चोरी बहुत बढ गई।

१९. धर्म ही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, इस जन्म मे भी, परजन्म मे भी।

२०. जीवहिंसा, चोरी, झूठ और परस्त्रीगमन—ये कलुषित कर्म है। इन कर्मों की पंडितजन प्रशंसा नही करते।

२१. मनुष्य राग के वश होकर पापकर्म करता है, द्वेष के वश होकर पापकर्म करता है, मोह के वश होकर पापकर्म करता है, भय के वश होकर पापकर्म करता है।

२२. जो छन्द (राग), द्वेष, भय और मोह से धर्म का अतिक्रमण नही करता, उसका यश शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भांति निरन्तर बढ़ता जाता है।

२३. जूआ आदि प्रमाद स्थानों का सेवन ऐश्वर्य के विनाश का कारण है। बुरे मित्रों का संग ऐश्वर्य के विनाश का कारण है। आलस्य में पड़े रहना ऐश्वर्य के विनाश का कारण है।

२४. शराब तत्काल धन की हानि करती है, कलह को बढाती है, रोगों का घर है, अपयश पैदा करने वाली है, लज्जा का नाश करने वाली है और बुद्धि को दुर्बल बनाती है।

२५. जो काम पड़ने पर समय पर सहायक होता है वही सच्चा मित्र है।

२६. उस्सूरसेय्या परदारसेवा,
वेरप्पसवो च अनत्थता च।
पापा च मित्ता सुकदरियता च,
एते छ ठाना पुरिसं धंसयन्ति॥

—३।८।

२७. निहीनसेवी न च बुद्धसेवी,
निहीयते कालपक्खे व चन्दो।

—३।८।२

२८. न दिवा सोप्पसीलेन, रत्तिमुठ्ठानदेस्सिना।
निच्चं मत्तेन सोण्डेन, सक्का आवसितुं घरं।

—३।८।२

२९. अतिसीतं अतिउण्हं, अतिसायमिदं अहु।
इति विस्सट्ठकम्मन्ते, अत्था अच्चेन्ति माणवे॥

—३।८।

३०. योध सीतं च उण्हं च, तिणा भिय्यो न मञ्ञति।
करं पुरिसकिच्चानि, सो सुखं न विहायति॥

—३।८।

३१. सम्मुखास्स वण्णं भासति।
परम्मुखास्स अवण्णं भासति।

—३।८।

३२. उपकारको मित्तो सुहदो वेदितब्बो,
समानसुखदुक्खो सुहदो वेदितब्बो।

—३।८।

३३. पण्डितो सीलसंपन्नो, जलं अग्गी व भासति।

—३।८।

३४. भोगे संहरमानस्स, भमरस्स इरीयतो।
भोगा संनिचयं यन्ति, वम्मिकोवुपचीयति।

—३।८।

२६. अतिनिद्रा, परस्त्रीगमन, लड़ना-झगड़ना, अनर्थ करना, बुरे लोगो की मित्रता और अति कृपणता—ये छह दोष मनुष्य को बर्बाद करने वाले है।

२७. जो नीच पुरुषो के संग रहते है, ज्ञानी जनो का सत्संग नहीं करते, वे कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा के समान निरन्तर हीन (क्षीण) होते जाते है।

२८. जो दिन मे सोता रहता है, रात मे उठने से घबराता है, और हमेशा नशे मे धुत रहता है, वह घरगृहस्थी नहीं चला सकता।

२९. आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अब तो बहुत सन्ध्या (देर) हो गई,—इस प्रकार कर्तव्य से दूर भागता हुआ मनुष्य धनहीन दरिद्र हो जाता है।

३०. जो व्यक्ति काम करते समय सर्दी-गर्मी को तिनके से अधिक महत्व नही देता, वह कभी सुख से वंचित नही होता।

३१. दुष्ट मित्र सामने प्रशंसा करता है, पीठ पीछे निन्दा करता है।

३२. उपकार करने वाला मित्र सुहृद होता है, सुख दुःख मे समान भाव से साथ रहने वाला मित्र सुहृद होता है।

३३. सदाचारी पंडित प्रज्वलित अग्नि की भाति प्रकाशमान होता है।

३४. जैसे कि मधु जुटाने वाली मधुमक्खी का छत्ता बढ़ता है, जैसे कि वल्मीक बढ़ता है, वैसे ही धर्मानुसार कमाने वाले का ऐश्वर्य बढ़ता है।

३५. एकेन भोगे भुञ्जेय्य, द्वीहि कम्मं पयोजये।
चतुत्थं च निधापेय्य, आपदासु भविस्सति॥

—३।८।४

३६. माता-पिता दिसा पुब्बा, आचरिया दक्खिणा दिसा।
पुत्त-दारा दिसा पच्छा, मित्तामच्चा च उत्तरा॥
दास-कम्मकरा हेट्ठा, उद्धं समण-ब्राह्मणा।
एता दिसा नमस्सेय्य, अलमत्तो कुले गिहा॥

—३।८।५

३८. पण्डितो सील-संपन्नो, सण्हो च पटिभानवा।
निवातवुत्ति अत्थद्धो, तादिसो लभते यसं॥

—३।८।५

३९. उट्ठानको अनलसो, आपदासु न वेधति।
अच्छिद्दवुत्ति मेधावी, तादिसो लभते यसं॥

—३।८।५

४०. यथा दिवा तथा रत्तिं, यथा रत्तिं तथा दिवा।

—३।१०।३

३५. सद्गृहस्थ प्राप्त धन के एक भाग का स्वयं उपयोग करे, दो भागो को व्यापार आदि कार्य क्षेत्र में लगाए और चौथे भाग को आपत्तिकाल में काम आने के लिए सुरक्षित रख छोड़े।

३६. माता-पिता पूर्व दिशा है, आचार्य (शिक्षक) दक्षिण दिशा है, स्त्री-पुत्र पश्चिम दिशा है, मित्र-अमात्य उत्तर दिशा है—
दास और कर्मकर=नौकर अधोदिशा (नीचे की दिशा) है, श्रमण-ब्राह्मण ऊर्ध्व-दिशा—ऊपर की दिशा है। गृहस्थ को अपने कुल मे इन छहो दिशाओ को अच्छी तरह नमस्कार करना चाहिए, अर्थात् इनकी यथा-योग्य सेवा करनी चाहिए।[1]

३७. पण्डित, सदाचारपरायण, स्नेही, प्रतिभावान, एकान्तसेवी—आत्मसंयमी, विनम्र पुरुष ही यश को पाता है।

३८. उद्योगी, निरालस, आपत्ति मे न डिगनेवाला, निरन्तर काम करनेवाला, मेधावी पुरुष यश को पाता है।

३९. साधक के लिए जैसा दिन वैसी रात, जैसी रात वैसा दिन।

१—राजगृहनिवासी श्रेष्ठी पुत्र शृगाल, पिता के अन्तिम वचनानुसार छहों दिशाओं को नमस्कार करता था, किन्तु वह 'छह दिशा' के वास्तविक मर्म को नहीं जान पा रहा था। तथागत बुद्ध ने 'छह दिशा' की यह वास्तविक व्याख्या उसे बताई।

सुत्तपिटक :

मज्झिमनिकाय की सूक्तियां[1]

●

१. सम्पन्नसीला, भिक्खवे, विहरथ !

—१।६।१

२. निच्चं पि बालो पक्खंतो, कण्हकम्मो न सुज्झति।

—१।७।६

३. सुद्धस्स वे सदा फग्गु, सुद्धस्सुपोसथो सदा।
सुद्धस्स सुचिकम्मस्स सदा सम्पज्जते वतं॥

—१।७।६

४. 'अत्तना पलिपपलिपन्नो परं पलिपपलिपन्नं,
उद्धरिस्सती' ति नेतं ठानं विज्जति।
'अत्तना अपलिपपलिपन्नो परं पलिपपलिपन्नं'।
उद्धरिस्सती' ति ठानमेतं विज्जति॥

—१।८।६

५. कतमं चावुसो, अकुसलमूलं ?
लोभो अकुसलमूलं, दोसो अकुसलमूलं. मोहो अकुसलमूलं।

—१।९।२

[1] भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित, नवनालन्दामहाविहार संस्करण।

सुत्तपिटक :

मज्झिमनिकाय की सूक्तियां

●

१ भिक्षुओ ! शील-संपन्न होकर विचरो ।

२. काले (बुरे) कर्म करने वाला मूढ चाहे तीर्थों मे कितनी ही डुबकियां लगाए, किन्तु वह शुद्ध नही हो सकता ।

३. शुद्ध मनुष्य के लिए सदा ही फल्गु (गया के निकट पवित्र नदी) है, सदा ही उपोसथ (व्रत का दिन) है । शुद्ध और शुचिकर्मा के व्रत सदा ही सम्पन्न (पूर्ण) होते रहते है ।

४. जो स्वयं गिरा हुआ है, वह दूसरे गिरे हुए को उठाएगा, यह सम्भव नही है ।
जो स्वयं गिरा हुआ नही है, वही दूसरे गिरे हुए को उठाएगा, यह संभव है ।

५. आयुष्मन् ! पाप (अकुशल) का मूल क्या है ?
लोभ पाप का मूल है, द्वेष पाप का मूल है ।
और मोह पाप का मूल है ।

६. भिक्खवे, कुल्लूपमो, मया धम्मो देसितो
नित्थरणत्थाय, नो गहणत्थाय ॥

—१।२२।४

७. राग-दोस परेतहि, नायं धम्मो सुसम्बुधो ।

—१।२६।३

८. भिक्खवे, नयिदं ब्रह्मचरियं लाभ-सक्कार-सिलोकानिसंसं ।

—१।२६।५

९. न ताव, भिक्खवे, भिक्खुनो इधे कच्चे आदीनवा संविज्जन्ति,
याव न अत्तज्झापन्नो होति यसप्पत्तो ।

—१।४७।१

१०. विज्जाचरणसम्पन्नो, सो सेट्ठो देवमानुसे ।

—२।३।५

११. यं करोति तेन उपपज्जति ।

—२।७।२

१२. यस्स कस्सचि सम्पजानमुसावादे नत्थि लज्जा,
नाहं तस्स किञ्चि पापं अकरणीयं ति वदामि ।

—२।११।१

१३. पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा कायेन कम्मं कातब्बं ।
पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा वाचाय कम्मं कातब्बं ।
पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा मनसा कम्मं कातब्बं ।

—२।११।१

१४. न मीयमानं धनमन्वेति किञ्चि,
पुत्ता च दारा च धनं च रट्ठं ।

—२।३२।४

१५. न दीघमायुं लभते धनेन,
न चा पि वित्तेन जरं विहन्ति ।

—२।३२।४

१६. तस्मा हि पञ्ञा व धनेन सेय्यो,
याय वोसानमिवाधिगच्छति ।

—२।३२।४

६. भिक्षुओ ! मैंने बेड़े की भाँति निस्तरण (पार जाने) के लिए तुम्हें धर्म का उपदेश किया है, पकड़ रखने के लिए नहीं ।

७. जो व्यक्ति राग और द्वेष से प्रलिप्त है, उस को धर्म का जान लेना सुकर नही है ।

८. भिक्षुओ ! यह ब्रह्मचर्य (संयम) लाभ, सत्कार एवं यश पाने के लिए नहीं है ।

९. भिक्षुओ ! जब तक भिक्षु को ख्याति एवं यश प्राप्त नही होता है, तब तक उसको कोई भी दोष नही होता ।

१०. जो विद्या और चरण से सम्पन्न है, वह सब देवताओं और मनुष्यो में श्रेष्ठ है ।

११. प्राणी जो कर्म करता है, वह अगले जन्म में उसके साथ रहता है ।

१२. जिसे जान-बूझ कर झूठ बोलने मे लज्जा नही है उसके लिए कोई भी पाप कर्म अकरणीय नही है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

१३. अच्छी तरह देख-परख कर काया से कर्म करना चाहिए ।
अच्छी तरह देख-परख कर वचन से कर्म करना चाहिए ।
अच्छी तरह देख-परख कर मन से कर्म करना चाहिए ।

१४. मरने वाले के पीछे पुत्र, स्त्री, धन और राज्य कुछ भी नही जाता है ।

१५. धन से कोई लम्बी आयु नही पा सकता है, और न धन से जरा का ही नाश किया जा सकता है ।

१६. धन से प्रज्ञा ही श्रेष्ठ है, जिससे कि तत्त्व का निश्चय होता है ।

१७. चोरो यथा सन्धिमुखे गहीतो,
सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो।
एवं पजा पेच्च परम्हि लोके,
सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो।

—२।३२।५

१८. यो पुब्बेव पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमज्जति।
सोमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥

—२।३६।४

१९. दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति पण्डिता।

—२।३६।४

२०. अप्पमत्तो हि झायन्तो, पप्पोति विपुलं सुखं।

—२।३६।४

२१. यो खो, महाराज, कायसमाचारो अत्तव्याबाधाय पि संवत्तति, परब्याबाधाय पि संवत्तति, उभयव्याबाधायपि संवत्तति, तस्स अकुसला धम्मा अभिवड्ढन्ति, कुसला धम्मा परिहायन्ति।

—२।३८।०

२२. भिक्खवे, यानि कानिचि भयानि उप्पज्जन्ति
सब्बानि तानि बालतो उप्पज्जन्ति, न पण्डिततो।
ये केचि उपद्दवा उप्पज्जन्ति,
सब्बे ते बालतो उप्पज्जन्ति, नो पण्डिततो।

—३।१।५।१

२३. कतमा च, भिक्खवे, मिच्छा वाचा?
मुसावादो, पिसुणा वाचा, फरुसा वाचा, सम्फप्पलापो।

—३।१७।१

२४. सम्मासमाधिस्स सम्माञाणं होति,
सम्माञाणस्स सम्माविमुत्ति पहोति।

—३।१७।१

२५. पुथुसद्दो समजनो, न बालो कोचि मञ्ञथ।

—३।२८।१

१७. सेंध के द्वार पर पकड़ा गया पापी चोर जैसे अपने ही कर्म से मारा जाता है, इसी प्रकार पापी जन मरकर परलोक में अपने ही कर्म से पीड़ित होते हैं।

१८. जो पहले के अर्जित पाप को बाद में मार्जित (साफ) कर देता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति इस लोक को प्रकाशित करता है।

६. जैसे बढई लकड़ी को सीधा करते हैं, वैसे ही पण्डित अपने को अर्थात् आत्मा को साधते है।

०. अप्रमत्त भाव से ध्यान करने वाला साधक विपुल सुख को पाता है।

११. महाराज ! जो कायिक आचरण अपनी पीड़ा के लिए होता है, पर की पीडा के लिए होता है, दोनों की पीड़ा के लिए होता है, उससे अकुशल धर्म (पाप) बढ़ते है, कुशल धर्म नष्ट हो जाते हैं।

[illegible]. भिक्षुओ ! जो भी भय उत्पन्न होते है, वे सभी मूर्ख से उत्पन्न होते है, पण्डित से नही।
जो भी उपद्रव उत्पन्न होते हैं वे सभी मूर्ख से उत्पन्न होते है, पण्डित से नही।

[illegible] भिक्षुओ ! मिथ्या वचन क्या है ?
[illegible] (झूठ), चुगली, कटु वचन और बकवास मिथ्या वचन है।

[illegible] [illegible]समाधि से ही सम्यग्ज्ञान होता है,
[illegible] से ही सम्यग् विमुक्ति होती है।

[illegible] [illegible] वाले एक जैसे लोगो मे, कोई भी अपने को बाल [illegible]।

२६. एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।

—३।२८।१

२७. अतीतं नान्वागमेय्य, नप्पटिकंखे अनागतं।
यदतीतं पहीनं तं, अप्पत्तं च अनागतं॥

—३।३१।१

२८. अज्जेव किच्चमातप्पं, को जञ्ञा मरणं सुवे।

—३।३१।१

२९. अतरमानो व भासेय्य, नो तरमानो।

—३।३९।१

३०. तरमानस्स भासतो कायो पि किलमति,
चित्तं पि उपहञ्ञति, सरो पि उपहञ्ञति,
कण्ठो पि आतुरीयति, अविसट्ठं पि होति,
अविञ्ञेय्यं तरमानस्स भासितं।

—३।३९।२

३१. एसो हि, भिक्खु, परमो अरियो उपशमो,
यदिदं राग-दोस-मोहानं उपशमो।

—३।४०।२

३२. मुनि खो पन, भिक्खु, सन्तो न जायति,
न जीयति, न मीयति।

—३।४०।२

३३. कम्मं विज्जा च धम्मो च, सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति, न गोत्तेन धनेन वा॥

—३।४३।३

३४. यं किञ्चि समुदयधम्मं सव्वं तं निरोधधम्मं।

—३।५०...

६. अकेला विचरना अच्छा है, परन्तु मूर्ख साथी अच्छा नहीं।

७. न अतीत के पीछे दौड़ो और न भविष्य की चिन्ता में पड़ो। क्योंकि जो अतीत है, वह तो नष्ट हो गया, और भविष्य अभी आ नहीं पाया है।

८. आज ही अपने कर्तव्य कर्म में जुट जाना चाहिए। कौन जानता है, कल मृत्यु ही आ जाए?

९. धीरे से बोलना चाहिए, जल्दी नही।

१०. जल्दी बोलने वाले के शरीर को भी कष्ट होता है, चित्त भी पीडित होता है, स्वर भी विकृत होता है, कण्ठ भी आतुर होता है, और जल्दी बोलने वाले की बात श्रोता के लिए अस्पष्ट एवं अविज्ञेय (समझ मे न आने जैसी) होती है।

११. राग, द्वेष एवं मोह का उपशम (शमन) होना ही परम आर्य उपशम है।

१२. भिक्षु, शांत मुनि न जन्मता है, न बुढियाता है और न मरता है।

१३. कर्म, विद्या, धर्म, शील और उत्तम जीवन—इनसे ही मनुष्य शुद्ध होते हैं गोत्र और धन से नहीं।

१४. जो कुछ उत्पन्न होता है, वह सब नष्ट भी होता है।

सुत्तपिटक :

[1]संयुत्तनिकाय की सूक्तियां

१. उपनीयति जीवितमप्पमायु,
जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा।
एतं भयं मरणे पेक्खमानो,
पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि॥ —१।१

२. अच्चेन्ति काला तरयन्ति रत्तियो,
वयोगुणा अनुपुब्बं जहन्ति।
एतं भयं मरणे पेक्खमानो,
पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि॥ —१

३. येसं धम्मा असम्मुट्ठा, परवादेसु न नीयरे।
ते सम्बुद्धा सम्मदञ्ञा, चरन्ति विसमे समं॥ —१

४. अतीतं नानुसोचन्ति, नप्पजप्पन्ति नागतं।
पच्चुप्पन्नेन यापेन्ति, तेन वण्णो पसीदति॥ —१

---

१. भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित नवनालन्दा संस्करण।

सुत्तपिटक :

संयुत्तनिकाय की सूक्तियां

●

1. जीवन बीत रहा है, आयु बहुत थोड़ी है, बुढ़ापे से बचने का कोई उपाय नहीं है। मृत्यु के इस भय को देखते हुए सुख देने वाले पुण्य कर्म कर लेने चाहिएं।

2. समय गुजर रहा है, रातें बीत रही हैं, जिन्दगी के जमाने एक पर एक [illegible] हैं, मृत्यु के इस भय को देखते हुए सुख देने वाले पुण्य कर्म कर लेने चाहिएं।

3. [illegible] धर्मों को ठीक तरह जान लिया है, जो हर किसी मत पक्ष में [illegible] नहीं हैं, वे सम्बुद्ध हैं, सब कुछ जानते हैं, विषम स्थिति में भी [illegible] आचरण सम रहता है।

4. [illegible] सोच नहीं करते, आने वाले भविष्य के मनसूबे नहीं बांधते, [illegible] हैं, उसी से गुजारा करते हैं, इसी से साधकों का चेहरा खिला

५. अनागतप्पजप्पाय, अतीतस्सानुसोचना।
एतेन बाला सुस्सन्ति, नलो व हरितो लुतो॥
—१।१।१

६. नत्थि पुत्तसमं पेमं, नत्थि गोसमितं धनं।
नत्थि सुरियसमा आभा, समुद्दपरमा सरा॥
नत्थि अत्तसमं पेमं, नत्थि धञ्ञसमं धनं।
नत्थि पञ्ञा समा आभा, वुट्ठि वे परमा सरा॥
—१।१।

७. सुस्सूसा सेट्ठा भरियानं, यो च पुत्तानमस्सवो।
—१।१।

८. कतिहं चरेय्य सामञ्ञं, चित्तं चे न निवारये।
पदे पदे विसीदेय्य, सङ्कप्पानं वसानुगो॥
—१।

९. न ख्वाहं, आवुसो, सन्दिट्ठिकं हित्वा कालिकं अनुधावामि
—१।

१०. सन्दिट्ठिको अयं धम्मो अकालिको, एहिपस्सिको।
ओपनयिको, पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूहि॥
—१।

११. छन्नो कालो न दिस्सति।
—१।

१२. नाफुसन्तं फुसति, फुसन्तं च ततो फुसं।
—१।

५. जो आने वाले भविष्य के मनसूबे बाँधते रहते है, बीते हुए का शोक करते रहते है, वे अज्ञानी लोग वैसे ही सूखते जाते हैं, जैसे कि हरा नरकट कट जाने के बाद।

६. पुत्र-जैसा कोई प्रिय नही है, गोधन-जैसा कोई धन नही है, सूर्य-जैसा कोई प्रकाश नही है, समुद्र सबसे महान् सर (जलराशि) है।[1]
अपने आप-जैसा कोई प्रिय नही है, धान्य-जैसा कोई धन नही है, प्रज्ञा-जैसा कोई प्रकाश नही है, वृष्टि सबसे महान जलराशि है।[2]

७. भार्याओं मे सेवा करने वाली भार्या श्रेष्ठ है, और पुत्रो मे वह जो आज्ञाकारी है।

८. कितने दिनो तक श्रामण्य (साधुत्व) को पालेगा, यदि अपने चित्त को वश मे नहीं कर सका है। इच्छाओं के अधीन रहने वाला साधक पद-पद पर फिसलता रहेगा।

९. आवुस ! मैं प्रत्यक्ष वर्तमान को छोड़कर दूर भविष्य के पीछे नही दौड़ता हूँ।

१०. यह धर्म देखते-ही-देखते तत्काल जीते जी फल देने वाला है, विना किसी देरी के। जिस के बारे मे कहा जा सकता है कि आओ और स्वयं देख लो। जो ऊपर उठाने वाला है और जिसे प्रत्येक बुद्धिमान आदमी स्वयं प्रत्यक्ष कर सकता है।

११. काल छन्न है, [illegible] हुआ है, अतः वह दीखता नही है।

१२. [illegible] छूने वाले को नहीं छूता है, छूने वाले को ही छूता है। अर्थात् [illegible] कर्म के प्रति आसक्ति नहीं है, उसको उस कर्म का विपाक (फल) [illegible] है, आसक्तिपूर्वक कर्म करने वाले को ही कर्मविपाक (फल) [illegible] होता है।

१३. जो शुद्ध, निष्पाप, निर्दोष व्यक्ति पर दोष लगाता है, उसी अज्ञानी जीव पर वह सब पाप पलटकर वैसे ही आ जाता है, जैसे कि सामने की हवा मे फेंकी गयी सूक्ष्म धूल ।

देवता ने कहा—

१४. जो व्यक्ति जहाँ जहाँ से मन को हटा लेता है, वहाँ वहाँ से फिर उसको दुःख नही होता । जो सभी जगह से मन को हटा लेता है, वह सभी जगह दुःख से छूट जाता है ।

१५. तथागत बुद्ध ने उत्तर दिया—

सभी जगह से मन को हटाना आवश्यक नहीं है, यदि मन अपने नियंत्रण मे आ गया है तो । जहाँ जहाँ भी पाप है, बस वहाँ वहाँ से ही मन को हटाना है ।

१६. जिनका अभिमान प्रहीण हो गया है, उन्हे कोई गाँठ नही रहती ।

१७. सत्पुरुषो के ही साथ बैठे, सत्पुरुषो के ही साथ मिले-जुले; सत्पुरुषो के अच्छे धर्मो (कर्तव्यो) को जानने से ही प्रज्ञा (सम्यग् ज्ञान) प्राप्त होती है, अन्यथा नही ।

१८. मात्सर्य और प्रमाद से दान नही देना चाहिए ।

१९. वे मरने पर भी नही मरते है, जो एक पथ मे चलते हुए सहयात्रियों की तरह थोडी से थोडी चीज को भी आपस मे बाँट कर खाते हैं । यह पारस्परिक सहयोग ही सनातन धर्म है ।

१३. यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति,
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
तमेव बालं पच्चेति पापं,
सुखुमं रजो पटिवातं व खित्तो॥

—१।१।२२

१४. यतो यतो मनो निवारये,
न दुक्खमेति न ततो ततो।
स सब्बतो मनो निवारये,
स सब्बतो दुक्खा पमुच्चति॥

—१।१।२४

१५. न सब्बतो मनो निवारये,
न मनो संयतत्तमागतं।
यतो यतो च पापकं,
ततो ततो मनो निवारये॥

—१।१।२४

१६. पहीनमानस्स न सन्ति गन्था।

—१।१।२५

१७. सब्भिरेव समासेथ, सब्भि कुब्बेथ सन्थवं।
सतं सद्धम्ममञ्ञाय, पञ्ञा लब्भति नाञ्ञतो॥

—१।१।३१

१८. मच्छेरा च पमादा च, एवं दानं न दीयति।

—१।१।३२

१९. ते मतेसु न मीयन्ति, पन्थानं व सहब्बजं।
अप्पस्मिं ये पवेच्छन्ति, एस धम्मो सनन्तनो॥

—१।१।३२

२०. अप्पस्मा दक्खिणा दिन्ना, सहस्सेन समं मिता।

—१।१।३२

१३. जो शुद्ध, निष्पाप, निर्दोष व्यक्ति पर दोष लगाता है, उसी अज्ञानी जीव पर वह सब पाप पलटकर वैसे ही आ जाता है, जैसे कि सामने की हवा में फेंकी गयी सूक्ष्म धूल।

देवता ने कहा—

१४. जो व्यक्ति जहाँ जहाँ से मन को हटा लेता है, वहाँ वहाँ से फिर उसको दुःख नहीं होता। जो सभी जगह से मन को हटा लेता है, वह सभी जगह दुःख से छूट जाता है।

१५. तथागत बुद्ध ने उत्तर दिया—

सभी जगह से मन को हटाना आवश्यक नहीं है, यदि मन अपने नियंत्रण में आ गया है तो। जहाँ जहाँ भी पाप है, बस वहाँ वहाँ से ही मन को हटाना है।

१६. जिनका अभिमान प्रहीण हो गया है, उन्हें कोई गाँठ नहीं रहती।

१७. सत्पुरुषों के ही साथ बैठे, सत्पुरुषों के ही साथ मिले-जुले; सत्पुरुषों के अच्छे धर्मों (कर्तव्यों) को जानने से ही प्रज्ञा (सम्यग् ज्ञान) प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं।

१८. मात्सर्य और प्रमाद से दान नहीं देना चाहिए।

१९. वे मरने पर भी नहीं मरते हैं, जो एक पथ से चलते हुए सहयात्रियों की तरह थोड़ी में से थोड़ी चीज को भी आपस में बाँट कर खाते हैं। यह पारस्परिक सहयोग ही सनातन धर्म है।

२१. सद्धा हि दानं बहुधा पसत्थं,
दाना च खो धम्मपदं व सेय्यो।

—१।१।३३

२२. छन्दजं अघं, छन्दजं दुक्खं,
छन्दविनया अघविनयो, अघविनया दुक्खविनयो।

—१।१।३४

२३. न ते कामा यानि चित्रानि लोके,
सङ्कप्परागो पुरिसस्स कामो।

—१।१।३४

२४. अच्चयं देसयन्तीनं, यो चे न पटिगण्हति।
कोयंतरो दोसगरु, स वेरं पटिमुञ्चति॥

—१।१।३५

२५. हीनत्थरूपा न पारंगमा ते।

—१।१।३८

२६. अन्नदो बलदो होति, वत्थदो होति वण्णदो।

—१।१।४२

२७. सो च सब्बददो होति, यो ददाति उपस्सयं।
अमतंददो च सो होति, यो धम्ममनुसासति॥

—१।१।४२

२८. अथ को नाम सो यक्खो, यं अन्नं नाभिनन्दति।

—१।१।४३

२९. पुञ्ञानि परलोकस्मिं, पतिट्ठा होन्ति पाणिनं।

—१।१।४३

३०. किंसु याव जरा साधु, किंसु साधु पतिट्ठितं?
किंसु नरानं रतनं, किंसु चोरेहि दूहरं?
सीलं याव जरा साधु, सद्धा साधु पतिट्ठिता।
पञ्ञा नरानं रतनं, पुञ्ञं चोरेहि दूहरं॥

—१।१।५१

२१. श्रद्धा से दिये जाने वाले दान की बड़ी महिमा है।
दान से भी बढ़कर धर्म के स्वरूप को जानना है।

२२. इच्छा बढ़ने से पाप होते है, इच्छा बढ़ने से दुःख होते है।
इच्छा को दूर करने से पाप दूर हो जाता है, पाप दूर होने से दुःख दूर हो जाते हैं।

२३. संसार के सुन्दर पदार्थ काम नही है, मन में राग का हो जाना ही वस्तुतः काम है।

२४. अपना अपराध स्वीकार करने वालो को जो क्षमा नही करता है, वह भीतर ही भीतर क्रोध रखने वाला महा द्वेषी, वैर को और अधिक बाँध लेता है।

२५. हीन (क्षुद्र) लक्ष्य वाले पार नही जा सकते।

२६. अन्न देने वाला बल देता है, वस्त्र देने वाला वर्ण (रूप) देता है।

२७. वह सब कुछ देने वाला होता है, जो उपाश्रय (स्थान, गृह) देता है और जो धर्म का उपदेश करता है, वह अमृत देने वाला होता है।

२८. भला ऐसा कौन सा प्राणी है, जिसे अन्न प्यारा न लगता हो ?

२९. परलोक मे केवल पुण्य ही प्राणियो का आधार (सहारा) होता है।

देवता:—

३०. कौन सी चीज ऐसी है जो बुढ़ापे तक ठीक है ? स्थिरता पाने के लिए क्या ठीक है ? मनुष्यों का रत्न क्या है ? चोरों ने क्या नही चुराया जा सकता ?

[illegible]:—

३१. सत्थो पवसतो मित्तं, माता मित्तं सके घरे।....
सयं कतानि पुञ्ञानि, तं मित्तं सांपरायिकं।

—१।१।५३

३२. पुत्ता वत्थु मनुस्सानं, भरिया च परमो सखा।

—१।१।५४

३३. तण्हा जनेति पुरिसं।

—१।१।५६

३४. तपो च ब्रह्मचरियं च तं सिनानमनोदकं।

—१।१।५८

३५. सद्धा दुतिया पुरिसस्स होति, पञ्ञा चेनं पसासति।

—१।१।५९

३६. चित्तेन नीयति लोको।

—१।१।६२

३७. तण्हाय विप्पहानेन, सब्बं छिन्दति बंधनं।

—१।१।६५

३८. मच्चुनाऽभाहतो लोको, जराय परिवारितो।

—१।१।६६

३९. राजा रट्ठस्स पञ्ञाणं, भत्ता पञ्ञाणमित्थिया।

—१।१।७२

४०. विज्जा उप्पततं सेट्ठं, अविज्जा निपतत परा।

—१।१।७४

४१. लोभो धम्मानं परिपन्थो।

—१।१।७६

४२. आलस्यं च पमादो च, अनुट्ठानं असंयमो।
निद्दा तन्दा च ते छिद्दे, सब्बसो तं विवज्जये॥

—१।१।७६

३१. हथियार राहगीर का मित्र है, माता अपने घर का मित्र है....अपने किए पुण्य कर्म ही परलोक के मित्र हैं।

३२. पुत्र मनुष्यों का आधार है; भार्या (पत्नी) सब से बड़ा मित्र है।

३३. तृष्णा मनुष्य को पैदा करती है।

३४. तप और ब्रह्मचर्य विना पानी का स्नान है।

३५. श्रद्धा पुरुष का साथी है, प्रज्ञा उस पर नियंत्रण करती है।

३६. चित्त से ही विश्व नियंत्रित होता है।

३७. तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सब बन्धन स्वयं ही कट जाते है।

३८. संसार मृत्यु से पीडित है, जरा से घिरा हुआ है।

३९. राजा राष्ट्र का प्रज्ञान (पहचान—चिन्ह) है, पत्नी पति का प्रज्ञान है।

४०. ऊपर उठने वालो मे विद्या सबसे श्रेष्ठ है, गिरने वालो मे अविद्या सबसे बड़ी है।

४१. लोभ धर्मार्थ का बाधक है।

४३ अत्तानं न ददे पोसो, अत्तानं न परिच्चजे ।

—१।१।७८

४४. वुट्ठि अलसं अनलसं च, माता पुत्तं व पोसति ।

—१।१।८०

४५ कतकिच्चो हि ब्राह्मणो ।

—१।२।५

४६ अरियानं समो मग्गो, अरिया हि विसमे समा ।

—१।२।६

४७. कयिरा चे कयिराथेनं, दल्हमेनं परक्कमे ।
सिथिलो हि परिब्बाजो, भिय्यो आकिरते रजं ॥

—१।२।८

४८. अकतं दुक्कटं सेय्यो, पच्छा तपति दुक्कटं ।
कतं च सुकतं सेय्यो, यं कत्वा नानुतप्पति ॥

—१।२।८

४९. कुसो यथा दुग्गहितो, हत्थमेवानुकंतति ।

—१।२।८

५०. सतं च धम्मो न जरं उपेति ।

—१।३।३

५१. अत्तानं चे पियं जञ्ञा, न नं पापेन संयुजे ।

—१।३।४

५२. उभो पुञ्ञं च पापं च, यं मच्चो कुरुते इध ।
तं हि तस्स सकं होति, तं व आदाय गच्छति ॥

—१।३।४

५३. हन्ता लभति हन्तारं, जेतारं लभते जयं ।

—१।३।१५

५४. इत्थी पि हि एकच्चिया, सेय्या पोस जनाधिप ।

—१।३।१६

४३. साधक अपने को न दे डाले, अपने को न छोड़ दे।

४४. वृष्टि आलसी और उद्योगी—दोनो का ही पोषण करती है, माता जैसे पुत्र का।

४५. कृतकृत्य (जो अपने कर्तव्य को पूरा कर चुका हो) ही ब्राह्मण होता है।

४६. आर्यों के लिए सभी मार्ग सम है, आर्य विषम स्थिति मे भी सम रहते हैं।

४७. यदि कोई कार्य करने जैसा है तो उसे दृढ़ता के साथ कर लेना चाहिए। जो साधक अपने उद्देश्य मे शिथिल है वह अपने ऊपर और भी अधिक मैल चढ़ा लेता है।

४८. बुरी तरह करने से न करना अच्छा है, बुरी तरह करने से पछताना पड़ता है। जो करने जैसा हो उसे अच्छी तरह करना ही अच्छा है, अच्छी तरह करने पर पीछे पछतावा नही होता।

४९. अच्छी तरह न पकड़ा हुआ कुश हाथ को ही काट डालता है।

५०. सत्पुरुषो का धर्म कभी पुराना नही होता।

५१. जिस को अपनी आत्मा प्रिय है, वह अपने को पाप में न लगाए।

५२. मनुष्य यहां जो भी पाप और पुण्य करता है, वही उसका अपना होता है। उसे ही लेकर परलोक मे जाता है।

५३. मारने वाले को मारने वाला मिलता है, जीतने वाले को जीतने वाला।

५४. हे राजन् ! कुछ स्त्रियां पुरुषो से भी बढ़कर होती है।

५५. चित्तस्मिं वसीभूतम्हि, इद्धिपादा सुभाविता।

—१।५।५

५६. फलं वे कदलिं हन्ति, फलं वेलुं, फलं नलं।
सक्कारो कापुरिसं हन्ति, गब्भो अस्सतरिं यथा।

—१।६।१२

५७. जयं चेवस्स तं होति, या तितिक्खा विजानतो।

—१।७।३

५८. मा जातिं पुच्छ, चरणं च पुच्छ। कट्ठाहवे जायति जातवेदो।

—१।७।९

५९. नेसा सभा यत्थ न सन्ति सन्तो,
संतो न ते ये न वदन्ति धम्मं।
रागं च दोसं च पहाय मोहं,
धम्मं वदन्ता च भवन्ति सन्तो।

१।७।२२

६०. धम्मं भणे, नाधम्मं,
पियं भणे, नापियं,
सच्चं भणे, नालिकं।

—१।८।६

६१. भिय्यो बाला पभिज्जेय्युं, नो चस्स पटिसेधको।

—१।११।४

६२. यो हवे बलवा सन्तो, दुब्बलस्स तितिक्खति।
तमाहु परमं खन्ति, निच्चं खमति दुब्बलो॥

—१।११।४

६३. अबलं तं बलं आहु, यस्स बालबलं बलं।

—१।११।४

६४. यादिसं वपते बीजं, तादिसं हरते फलं।

—१।११।१०

५५. चित्त के वशीभूत हो जाने परे ऋद्धियां स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं।

५६. जिस प्रकार केले का फल केले को, बांस का फल बांस को और नरकट का फल नरकट को, खच्चरी का अपना ही गर्भ खच्चरी को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सत्कार सम्मान कापुरुष (क्षुद्र व्यक्ति) को नष्ट कर देता है।

५७. आखिर विजय उसीकी होती है, जो चुपचाप सहन करना जानता है।

५८. जाति मत पूछो, कर्म पूछो। लकड़ी से भी आग पैदा हो जाती है।

५९. वह सभा सभा नहीं, जहाँ संत नहीं, और वे संत संत नहीं, जो धर्म की बात नहीं कहते। राग, द्वेष और मोह को छोड़कर धर्म का उपदेश करने वाले ही संत होते हैं।

६०. धर्म कहना चाहिए, अधर्म नहीं।
प्रिय कहना चाहिए, अप्रिय नहीं।
सत्य कहना चाहिए, असत्य नहीं।

६१. [illegible] इन्द्रियाधिक भूतों की ओर दौड़ते ही जाते हैं, यदि उन्हें कोई रोकने वाला नहीं होता है तो।

६२. [illegible] बलवान् होकर भी दुर्बल की बातें सहता है, उसी को [illegible] [illegible] है।

५५. चित्तस्मि वसीभूतम्हि, इद्धिपादा सुभाविता ।

—१।५।५

५६. फलं वे कदलिं हन्ति, फलं वेलुं, फलं नलं ।
सक्कारो कापुरिसं हन्ति, गब्भो अस्सतरिं यथा ।

—१।६।१२

५७. जयं चेवस्स तं होति, या तितिक्खा विजानतो ।

—१।७।३

५८. मा जातिं पुच्छ, चरणं च पुच्छ । कट्ठाहवे जायति जातवेदो ।

—१।७।६

५९. नेसा सभा यत्थ न सन्ति सन्तो,
संतो न ते ये न वदन्ति धम्मं ।
रागं च दोसं च पहाय मोहं,
धम्मं वदन्ता च भवन्ति सन्तो ।

१।७।२२

६०. धम्मं भणे, नाधम्मं,
पियं भणे, नापियं,
सच्चं भणे, नालिकं ।

—१।८।६

६१. भिय्यो बाला पभिज्जेय्युं, नो चस्स पटिसेधको ।

—१।११।४

६२. यो हवे बलवा सन्तो, दुब्बलस्स तितिक्खति ।
तमाहु परमं खन्ति, निच्चं खमति दुब्बलो ॥

—१।११।४

६३. अबलं तं बलं आहु, यस्स बालबलं बलं ।

—१।११।४

६४. यादिसं वपते बीजं, तादिसं हरते फलं ।

—१।११।१०

५५. चित्त के वशीभूत हो जाने पर ऋद्धियां स्वयं ही प्राप्त हो जाती है ।

५६. जिस प्रकार केले का फल केले को, बांस का फल बांस को और नरकट का फल नरकट को, खच्चरी का अपना ही गर्भ खच्चरी को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सत्कार सम्मान कापुरुष (क्षुद्र व्यक्ति) को नष्ट कर देता है ।

५७. आखिर विजय उसीकी होती है, जो चुपचाप सहन करना जानता है ।

५८. जाति मत पूछो, कर्म पूछो । लकड़ी से भी आग पैदा हो जाती है ।

५९. वह सभा सभा नही, जहाँ सत नही, और वे संत संत नही, जो धर्म की बात नही कहते । राग, द्वेष और मोह को छोड़कर धर्म का उपदेश करने वाले ही संत होते है ।

६०. धर्म कहना चाहिए, अधर्म नही ।
प्रिय कहना चाहिए, अप्रिय नही ।
सत्य कहना चाहिए, असत्य नही ।

६१. [illegible] अधिकाधिक भूलों की ओर बढ़ते ही जाते है, यदि उन्हे कोई रोकने वाला नही होता है तो !

६२. जो [illegible] बलवान् होकर भी दुर्बल की बाते सहता है, उसी को सर्वश्रेष्ठ [illegible] है ।

५५. चित्तस्मि वसीभूतम्हि, इद्धिपादा सुभाविता ।

—१।५।५

५६. फलं वे कदलिं हन्ति, फलं वेलुं, फलं नलं ।
सक्कारो कापुरिसं हन्ति, गब्भो अस्सतरिं यथा ।

—१।६।१२

५७. जयं चेवस्स तं होति, या तितिक्खा विजानतो ।

—१।७।३

५८. मा जातिं पुच्छ, चरणं च पुच्छ । कट्ठाहवे जायति जातवेदो ।

—१।७।६

५९. नेसा सभा यत्थ न सन्ति सन्तो,
संतो न ते ये न वदन्ति धम्मं ।
रागं च दोसं च पहाय मोहं,
धम्मं वदन्ता च भवन्ति सन्तो ।

१।७।२२

६०. धम्मं भणे, नाधम्मं,
पियं भणे, नापियं,
सच्चं भणे, नालिकं ।

—१।८।६

६१. भिय्यो वाला पभिज्जेय्युं, नो चस्स पटिसेधको ।

—१।११।८

६२. यो हवे बलवा सन्तो, दुब्बलस्स तितिक्खति ।
तमाहु परमं खन्ति, निच्चं खमति दुब्बलो ॥

—१।११।४

६३. अबलं तं बलं आहु, यस्स बालबलं बलं ।

—१।११।४

६४. यादिसं वपते बीजं, तादिसं हरते फलं ।

—१।११।१०

५५. चित्त के वशीभूत हो जाने पर ऋद्धियां स्वयं ही प्राप्त हो जाती है।

५६. जिस प्रकार केले का फल केले को, बांस का फल बांस को और नरकट का फल नरकट को, खच्चरी का अपना ही गर्भ खच्चरी को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सत्कार सम्मान कापुरुष (क्षुद्र व्यक्ति) को नष्ट कर देता है।

५७. आखिर विजय उसीकी होती है, जो चुपचाप सहन करना जानता है।

५८. जाति मत पूछो, कर्म पूछो। लकड़ी से भी आग पैदा हो जाती है।

५९. वह सभा सभा नही, जहाँ संत नही, और वे संत संत नही, जो धर्म की बात नही कहते। राग, द्वेष और मोह को छोड़कर धर्म का उपदेश करने वाले ही संत होते है।

६०. धर्म कहना चाहिए, अधर्म नही।
प्रिय कहना चाहिए, अप्रिय नही।
सत्य कहना चाहिए, असत्य नही।

६१. मूर्ख अधिकाधिक भूलों की ओर बढ़ते ही जाते हैं, यदि उन्हे कोई रोकने वाला नहीं होता है तो!

६२. जो स्वयं बलवान् होकर भी दुर्बल की बातें सहता है, उसी को सर्वश्रेष्ठ

६५. द्वेमे, भिक्खवे, बाला। यो च अच्चयं अच्चयतो न पस्सति,
यो च अच्चयं देसेतस्स यथाधम्मं नप्पटिग्गण्हाति।

—१।११।२४

६६. का च, भिक्खवे, सुखस्स उपनिसा? पस्सद्धी।
का च, भिक्खवे, पस्सद्धिया उपनिसा? पीती।

—२।१२।२३

६७. ये तण्हं वड्ढेंति ते उपधिं वड्ढेंति।
ये उपधिं वड्ढेंति ते दुक्खं वड्ढेति॥

—२।१२।६६

६८. संसग्गा वनथो जातो, असंसग्गेन छिज्जति।

—२।१४।१६

६९. अस्सद्धा अस्सद्धेहि सद्धिं ससन्दन्ति, समेन्ति,
अहिरिका अहिरिकेहि सद्धिं संसन्दन्ति समेन्ति।
अप्पस्सुता अप्पस्सुतेहि सद्धिं, संसन्दन्ति समेन्ति,
कुसीता कुसीतेहि सद्धिं, संसन्दन्ति समेन्ति॥

—२।१४।१७

७०. यदनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनत्ता।
यदनत्ता तं नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मेसो अत्ता॥

—४।३५।१

७१. फस्सेन फुट्ठो न सुखेन मज्जे,
दुक्खेन फुट्ठो पि न सम्पवेधे।

—४।३५।१६

७२. मनोमयं गेहसितं च मञ्ञं।

—४।३५।१६

७३. दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति, सुते सुतमत्तं भविस्सति....
विञ्ञाते विञ्ञातमत्तं भविस्सति।

—४।३५।९५

६५. भिक्षुओ ! दो प्रकार के मूर्ख होते हैं—एक वह जो अपने अपराध को अपराध के तौर पर नही देखता है, और दूसरा वह जो दूसरे के अपराध स्वीकार कर लेने पर भी क्षमा नही करता है।

६६. भिक्षुओ ! सुख का हेतु क्या है ? शान्ति (प्रस्रब्धि) है, भिक्षुओ ! शान्ति का हेतु क्या है ? प्रीति है।

६७. जो तृष्णा को बढ़ाते है, वे उपाधि को बढ़ाते है। जो उपाधि को बढ़ाते वे दुःख को बढ़ाते हैं।

६८. संसर्ग से पैदा हुआ राग का जंगल असंसर्ग से काट दिया जाता है।

६९. श्रद्धाहीन श्रद्धाहीनो के साथ, निर्लज्ज निर्लज्जो के साथ, मूर्ख मूर्खो के साथ और निकम्मे आलसी निकम्मे आलसियो के साथ उठते-बैठते है, मेल जोल रखते है।

७०. जो अनित्य है वह दुःख है, जो दुःख है वह अनात्मा है, और जो अनात्मा है—वह न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरा आत्मा है।

७१. सुख-स्पर्शों से मतवाला न बने, और दुःख-स्पर्श से कांपने न लगे।

७४. न सो रज्जति रूपेसु, रूपं दिस्वा पटिस्सतो।
विरत्तचित्तो वेदेति, तं च नाज्झोस तिट्ठति॥
यथास्स पस्सतो रूपं, सेवतो चापि वेदनं।
खीयति नोपचीयति, एवं सो चरती सतो॥

—४।३५।९५

७५. पमुदितस्स पीति जायति,
पीतिमनस्स कायो पस्सम्भति;
पस्सद्धकायो सुखं विहरति।

—४।३५।९७

७६. सुखिनो चित्तं समाधीयति,
समाहिते चित्ते धम्मा पातुभवन्ति।

—४।३५।९७

७७. यं भिक्खवे, न तुम्हाकं तं पजहथ।
तं वो पहीनं हिताय सुखाय भविस्सति॥

—४।३५।१०१

७८. न चक्खु रूपानं संयोजनं, न रूपा चक्खुस्स संयोजनं।
यं च तत्थ तदुभयं पटिच्च उपज्जति छन्दरागो तं तत्थ संयोजनं।

—४।३५।२३२

७९. सद्धाय खो, गहपति, ञाणं येव पणीततरं।

४।४१।८

८०. यो खो, भिक्खु,
रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो-इन्द वुच्चति अमतं।

५।४५।७

८१. जराधम्मो योब्बञ्ञे, व्याधिधम्मो आरोग्ये,
मरण धम्मो जीविते।

५।४८।४१

७४. अप्रमत्त साधक रूपों में राग नही करता, रूपों को देखकर स्मृतिमान् रहता है, विरक्त चित्त से वेदन करता है, उनमें अलग्न—अनासक्त रहता है।

अतः रूप को देखने और जानने पर भी उसका राग एवं बन्धन घटता ही है, बढ़ता नही, क्योंकि वह स्मृतिमान् होकर विचरता है।

७५. प्रमोद होने से प्रीति होती है, प्रीति होने से शरीर स्वस्थ रहता है और शरीर स्वस्थ होने से सुखपूर्वक विहार होता है।

७६. सुखी मनुष्य का चित्त समाधिलाभ करता है, और समाहित चित्त में धर्म प्रादुर्भूत होते हैं।

७७. भिक्षुओ! जो तुम्हारा नही है, उसे छोड़ो। उसको छोड़ने से ही तुम्हारा हित होगा,, सुख होगा।

[जो रागादि परभाव है, वे आत्मा के अपने नही है।]

७८. न तो चक्षु रूपों का बन्धन है और न रूप ही चक्षु के बन्धन है। किन्तु जो वहां दोनो के प्रत्यय (निमित्त) से छन्दराग उत्पन्न होता है, वस्तुतः वही बन्धन है।

७९. गृहपति! श्रद्धा से ज्ञान ही बड़ा है।

८०. हे भिक्षु! राग, द्वेष और मोह का क्षय होना ही अमृत है।

सुत्तपिटक :

[1]अंगुत्तरनिकाय की सूक्तियां

●

१. चित्तं, भिक्खवे, रक्खितं महतो अत्थाय संवत्तति।

—१।४।६

२. कोसज्जं, भिक्खवे, महतो अनत्थाय संवत्तति।

—१।१०।३

३. विरियारम्भो, भिक्खवे, महतो अत्थाय संवत्तति।

—१।१०।४

४. मिच्छादिट्ठिकस्स, भिक्खवे,
द्विन्नं गतीनं अञ्ञतरा पाटिकंख-निरयो वा तिरच्छानयोनि वा।

—२।३।७

५. सम्मादिट्ठिकस्स, भिक्खवे,
द्विन्नं गतीनं अञ्ञतरा गति पाटिकंखा—
देवा वा मनुस्सा वा।

—२।३।८

६. द्वेमानि, भिक्खवे, सुखानि।
कतमानि द्वे?
कायिकं च सुखं, चेतसिकं च सुखं।....
एतदग्गं, भिक्खवे, इमेसं द्विन्नं सुखानं यदिदं चेतसिकं सुखं।

—२।७।७

---

1 भिक्षु जगदीश काश्यप सम्पादित नवनालन्दा संस्करण।

सुत्तपिटक :

अंगुत्तरनिकाय की सूक्तियां

●

१. भिक्षुओ ! सुरक्षित चित्त महान् अर्थ=लाभ के लिए होता है ।

२. भिक्षुओ ! आलस्य बड़े भारी अनर्थ (हानि) के लिए होता है ।

३. भिक्षुओ ! वीर्यारम्भ (उद्योगशीलता) महान् अर्थ की सिद्धि के लिए होता है ।

४. भिक्षुओ ! मिथ्यादृष्टि की इन दो गतियों में से कोई भी एक गति होती है — नरक अथवा तिर्यंच ।

५. भिक्षुओ ! सम्यग् दृष्टि आत्मा की इन दो गतियों में से कोई भी एक गति होती है — देव अथवा मनुष्य ।

७. द्वे मा, भिक्खवे, आसा दुप्पजहा।
कतमा द्वे ?
लाभासा च जीवितासा च।

—२।११।१

८. द्वे मे, भिक्खवे, पुग्गला दुल्लभा लोकस्मिं।
कतमे द्वे ?
यो च पुब्बकारी, यो च कतञ्ञू कतवेदी।

—२।११।२

९. द्वे मे, भिक्खवे, पुग्गला दुल्लभा लोकस्मिं।
कतमे द्वे ?
तित्तो च तप्पेता च।

—२।११।३

१०. द्वे मानि, भिक्खवे, दानानि।
कतमानि द्वे ?
आमिसदानं च धम्मदानं च।
....एतदग्गं, भिक्खवे, इमेसं द्विन्नं दानानं यदिदं धम्मदानं।

—२।१३।१

११. तीहि भिक्खवे, धम्मेहि समन्नागतो बालो वेदितब्बो।
कतमेहि तीहि ?
कायदुच्चरितेन, वचीदुच्चरितेन, मनोदुच्चरितेन।

—३।१।२

१२. निहीयति पुरिसो निहीनसेवी,
न च हायथ कदाचि तुल्यसेवी।
सेट्ठमुपनमं उदेति खिप्पं,
तस्मा अत्तनो उत्तरिं भजेथा॥

—३।३।६

१३. नत्थि लोके रहो नाम, पापकम्मं पकुब्बतो।
अत्ता ते पुरिस जानाति, सच्चं वा यदि वा मुसा॥

—३।४।१०

७. भिक्षुओ ! दो आशाएँ (इच्छाएँ) बड़ी कठिनता से छूटती है।
कौन सी दो ?
लाभ की आशा, और जीवन की आशा।

८. भिक्षुओ ! संसार में दो व्यक्ति दुर्लभ है।
कौन से दो ?
एक वह जो पहले उपकार करता है, दूसरा वह कृतज्ञ जो किए हुए उपकार को मानता है।

९. भिक्षुओ ! संसार में दो व्यक्ति दुर्लभ है।
कौन से दो ?
एक वह जो स्वयं तृप्त है=सन्तुष्ट है, और दूसरा वह जो दूसरों को तृप्त=सन्तुष्ट करता है।

१०. भिक्षुओ ! दो दान है।
कौन से दो ?
भोगों का दान और धर्म का दान।
... भिक्षुओ ! उक्त दोनों दानों में धर्म का दान (धर्मोपदेश) ही श्रेष्ठ है।

११. भिक्षुओ ! तीन धर्मों (कर्मों) से व्यक्ति को बाल (अज्ञानी) समझना चाहिए।
कौन से तीन ?

१४. दिन्नं होति सुनीहतं ।

—३।६।२

१५. यो खो, वच्छ, परं दानं ददन्तं वारेति
सो तिण्णं अन्तरायकरो होति, तिण्णं पारिपन्थिको।
कतमेसं तिण्णं ?
दायकस्स पुञ्ञन्तरायकरो होति, पटिग्गाहकानं लाभन्तरायकरो होति, पुब्बेव खो पनस्स अत्ता खतो च होति उपहतो च।

—३।६।७

१६. धीरो हि अरतिस्सहो।

—४।३।८

१७. गमनेन न पत्तब्बो, लोकस्सन्तो कुदाचनं।
न च अप्पत्वा लोकन्तं, दुक्खा अत्थि पमोचनं॥

—४।५।६

१८. उभो च होन्ति दुस्सीला, कदरिया परिभासका।
ते होन्ति जानिपतयो छवा संवासमागता॥

—४।६।३

१९. सब्बा ता जिम्हं गच्छन्ति, नेत्ते जिम्ह गते सति।

—४।७।१०

२०. सब्बं रट्ठं दुक्खं सेति, राजा चे होति अधम्मिको।
सब्बं रट्ठं सुखं सेति, राजा चे होति धम्मिको।

—४।७।१०

२१. एकच्चो पुग्गलो दुस्सीलो होति पापधम्मो,
परिसा पिस्स होति दुस्सीला पापधम्मा।
एवं खो, भिक्खवे, पुग्गलो असुरो होति असुरपरिवारो।

—४।१०।१

२२. एकच्चो पुग्गलो सीलवा होति कल्याणधम्मो,
परिसा पिस्स होति सीलवती कल्याणधम्मा।
एवं खो, भिक्खवे, पुग्गलो देवो होति, देवपरिवारो।

—४।१०।१

१४. दिया हुआ ही सुरक्षित रहता है।

१५. वत्स ! दान देते हुए दूसरे को जो रोकता है, वह तीन का अन्तराय करता है, तीन का परिपन्थी—विरोधी शत्रु होता है।
कौन से तीन का ?
दाता को पुण्य का अन्तराय करता है, गृहीता को लाभ का अन्तराय करता है, और सबसे पहले अपनी आत्मा को क्षत एवं उपहत करता है।

१६. धीर पुरुष ही अरति को सहन कर सकते हैं।

१७. गमन के द्वारा कभी भी लोक का अन्त नहीं मिलता है, और जब तक लोक का अन्त नहीं मिलता है, तब तक दुःख से छुटकारा नहीं होता।
[तृष्णा का अन्त ही लोक का अन्त है।]

१८. यदि पति और पत्नी दोनों ही दुराचारी, कृपण एवं कटुभाषी है, तो यह एक प्रकार से दो शवों (मुर्दों) का समागम है।

१९. नेता के कुटिल चलने पर सब के सब अनुयायी भी कुटिल ही चलने लगते हैं।

२०. राजा यदि अधार्मिक होता है तो सारा का सारा राष्ट्र दु:खित हो जाता है। और यदि राजा धार्मिक होता है, तो सारा का सारा राष्ट्र सुखी हो जाता है।

२३. चत्तारिमानि, भिक्खवे, बलानि।
कतमानि चत्तारि ?
पञ्ञाबलं, विरियबलं, अनवज्जबलं, संगहबलं।

—४।१६।३

२४. मनापदायी लभते मनापं।

—५।५।४

२५. दलिद्दो इणमादाय, भुञ्जमानो विहञ्ञति।

—६।५।३

२६. दोसस्स पहानाय मेत्ता भावितब्बा।
मोहस्स पहानाय पञ्ञा भावितब्बा॥

—६।११।१

२७. सद्धाधनं, सीलधनं, हिरी ओत्तप्पियं धनं।
सुतधनं च चागो च, पञ्ञा वे सत्तमं धनं॥
यस्स एते धना अत्थि, इत्थिया पुरिसस्स वा।
अदलिद्दोति तं आहु, अमोघं तस्स जीवितं॥

—७।१।५

२८. अदण्डेन असत्थेन, विजेय्य पथविं इमं।

—७।६।६

२९. ञातिमित्ता सुहज्जा च, परिवज्जन्ति कोधनं।

—७।६।११

३०. कोधनो दुब्बण्णो होति।

—७।६।११

३१. समिद्धि किं सारा ?
विमुत्तिसारा !

—९।२।४

३२. अनभिरति खो, आवुसो, इमस्मिं धम्मविनये दुक्खा,
अभिरति सुखा।

—१०।७।६

२३. भिक्षुओ ! चार बल है ?
कौन से चार ?
प्रज्ञा का बल, वीर्य=शक्ति का बल, अनवद्य=सदाचार का बल और संग्रह का बल।

२४. मनोनुकूल सुन्दर वस्तु दान मे देने वाला वैसी ही मनोज्ञ सामग्री प्राप्त करता है।

२५. दरिद्र व्यक्ति यदि ऋण लेकर भोगो-पभोग में पड़ जाता है, तो वह नष्ट हो जाता है।

२६. द्वेष को दूर करने के लिए मैत्री भावना करनी चाहिए। मोह को दूर करने के लिए प्रज्ञा भावना (अध्यात्म चिन्तन) करनी चाहिए।

२७. श्रद्धा, शील, लज्जा, संकोच, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा—ये सात धन हैं। जिस स्त्री या पुरुष के पास ये धन हैं, वही वास्तव मे अदरिद्र (धनी) है, उसीका जीवन सफल है।

सुत्तपिटक :

धम्मपद की सूक्तियां

❁

१. मनोपुव्वंगमा धम्मा, मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कं व वहतो पदं ॥

—१।१

२. मनोपुव्वंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति, छाया व अनपायिनि ॥

—१।२

३. नहि वेरेण वेराणि, सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेण च सम्मन्ती, एस धम्मो सनन्तनो।

—१।५

४. यथागारं सुच्छन्नं, वुट्ठी न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं, रागो न समतिविज्झति ॥

—१।१४

५. पापकारी उभयत्थ सोचति।

—१।१५

सुत्तपिटक :

धम्मपद की सूक्तियां

1. सभी धर्म (वृत्तियां) पहले मन मे पैदा होते है, मन ही मुख्य है, सब कुछ मनोमय है। यदि कोई व्यक्ति दूषित मन से कुछ बोलता है, करता है, तो दुःख उसका अनुसरण उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कि पहिया (चक्र) गाडी खीचने वाले बैलो के पैरो का।

2. सभी धर्म (वृत्तियां) पहले मन मे पैदा होते है, मन ही मुख्य है, सब कुछ मनोमय है। यदि कोई निर्मल मनसे कुछ बोलता है या करता है तो सुख उसका अनुसरण उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कि कभी साथ नहीं छोडने वाली छाया मनुष्य का अनुसरण करती है।

3. वैर से वैर कभी शात नही होते। अवैर (प्रेम) से ही वैर शांत होते हैं— यही सनातन नियम है।

६. कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति ।

—१।१६

७. बहुं पि चे सहितं भासमानो,
न तक्करो होति नरो पमत्तो ।
गोपो व गावं गणयं परेसं,
न भागवा सामञ्ञस्स होति ॥

—१।१९

८. अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं ।

—२।१

९. अप्पमादेन मघवा, देवानं सेट्ठतं गतो ।

—२।१०

१०. चित्तस्स दमथो साधु, चित्तं दन्तं सुखावहं ।

—३।३

११. न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं ।
अत्तनो व अवक्खेय्य, कतानि अकतानि च ॥

—४।७

१२. सीलगन्धो अनुत्तरो ।

—४।१२

१३. दीघा जागरतो रत्ति, दीघं सन्तस्स योजनं ।
दीघो बालानं संसारो, सद्धम्मं अविजानतं ॥

—५।१

१४. यावजीवम्पि चे बालो, पण्डितं पयिरुपासति ।
न सो धम्मं विजानाति, दव्वी सूपरसं यथा ॥

—५।५

१५. मुहुत्तमपि चे विञ्ञू, पण्डितं पयिरुपासति ।
खिप्पं धम्मं विजानाति, जिव्हा सूपरस यथा ॥

—५।६

६. जिसने सत्कर्म (पुण्य) कर लिया है, वह दोनों लोक में सुखी होता है।

७. बहुत सी धर्म-संहिताओं का पाठ करने वाला भी यदि उनके अनुसार आचरण नही करता है, तो वह प्रमादी मनुष्य उनके लाभ को प्राप्त नहीं कर सकता, वह श्रमण नही कहला सकता, जैसे कि दूसरो की गायों को गिनने वाला ग्वाला गायो का मालिक नही हो सकता।

८. अप्रमाद अमरता का मार्ग है, प्रमाद मृत्यु का।

९. अप्रमाद के कारण ही इन्द्र देवताओ मे श्रेष्ठ माना गया है।

१०. चंचल चित्त का दमन करना अच्छा है, दमन किया हुआ चित्त सुखकर होता है।

११. दूसरे की त्रुटियां नहीं देखनी चाहिएँ, उसके कृत्य-अकृत्य के फेर मे नहीं पड़ना चाहिए। अपनी ही त्रुटियों का, तथा कृत्य-अकृत्य का विचार करना चाहिए।

१२. शील (सदाचार) की सुगन्ध सबसे श्रेष्ठ है।

१६. न तं कम्मं कतं साधु, यं कत्वा अनुतप्पति ।

—५।८

१७. न हि पापं कतं कम्मं, सज्जु खीरं व मुच्चति ।
डहन्तं बालमन्वेति, भस्माच्छन्नो व पावको ॥

—५।१२

१८. अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो ।
अथायं इतरा पजा, तीरमेवानुधावति ॥

६।१०

१९. गामे वा यदि वा रञ्ञे, निन्ने वा यदि वा थले ।
यत्थावऽरहन्तो विहरन्ति, त भूमिं रामणेय्यकं ॥

—७।९

२०. सहस्समपि चे वाचा, अनत्थपदसंहिता ।
एकं अत्थपदं सेय्यो, य सुत्वा उपसम्मति ॥

—८।१

२१. यो सहस्सं सहस्सेन, संगामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं, स वे संगामजुत्तमो ॥

—८।४

२२. अभिवादनसीलस्स, निच्चं वुड्ढापचायिनो ।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं ॥

—८।१०

२३. यो च वस्ससतं जीवे, कुसीतो हीनवीरियो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो, वीरियमारभतो दल्हं ॥

—८।१३

२४. उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भोपि पूरति ।
धीरो पूरति पुञ्ञस्स, थोकथोकम्पि आचिनं ॥

—[illegible]

१६. वह काम करना ठीक नहीं, जिसे करके पीछे पछताना पड़े।

१७. पाप कर्म ताजा दूध की तरह तुरंत ही विकार नहीं लाता, वह तो राख से ढकी अग्नि की तरह धीरे धीरे जलते हुए मूढ मनुष्य का पीछा करता रहता है।

१८. मनुष्यों में पार जाने वाले थोड़े ही होते हैं, अधिकतर लोग किनारे-ही-किनारे दौड़ते रहते हैं।

१९. गांव में या जंगल में, ऊंचाई पर या निचाई पर जहां कहीं पर भी अर्हंत् विहार करते हैं वही भूमि रमणीय है।

२०. व्यर्थ के पदों से युक्त हजारों वचनों से सार्थक एक पद ही श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त होती है।

२१. जो संग्राम में हजारों मनुष्यों को जीत लेता है, उस से भी उत्तम संग्राम-विजेता वह है, जो एक अपने (आत्मा) को विजय कर लेता है।

२२. वृद्धों की सेवा करने वाले विनयशील व्यक्ति के ये चार गुण सदा बढ़ते रहते हैं—आयु, [illegible] वर्ण, सुख और बल।

२५. पाणिम्हि चे वणो नास्स, हरेय्य पाणिना विसं ।
नाब्बणं विसमन्वेति, नत्थि पापं अकुब्बतो ॥

—९।९

२६ सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति ।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो न लभते सुख ॥

—१०।३

२७. मा वोच फरुसं किंचि, वुत्ता परिवदेय्यु ं तं ।

—१०।५

२८. अन्धकारेन ओनद्धा, पदीपं न गवेस्सथ ।

—११।२

२९. मरणंतं हि जीवितं ।

११।३

३०. अप्पसुता यं पुरिसो, बलिवद्दो व जीरति ।
मंसानि तस्स वड्ढंति, पञ्ञा तस्स न वड्ढति ॥

—११।७

३१. अत्तानं चे तथा कयिरा, यथाञ्ञमनुसासति ।

—१२।३

३२. अत्ताहि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परे सिया ?

—१२।४

३३. सुद्धीअसुद्धि पच्चत्त ं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये ।

—१२।९

३४. उत्तिट्ठे न पमज्जेय्य, धम्मं सुचरितं चरे ।
धम्मचारी मुखं सेति, अस्मि लोके परम्हि च ॥

—१३।२

३५. अन्धभूतो अयं लोको, तनुकेऽथ विपस्सति ।

—१३।८

३६. न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति ।

—१३।११

२५. यदि हाथ मे घाव न हो तो उस हाथ में विष लेने पर भी शरीर में विष का प्रभाव नही होता है। इसी प्रकार मन मे पाप न रखने वाले को बाहर से कर्म का पाप नही लगता।

२६. सभी प्राणी सुख चाहते है, जो अपने सुख की इच्छा से दूसरे प्राणियो की हिंसा करता है, उसे न यहां सुख मिलता है, न परलोक में।

२७. कठोर वचन मत बोलो, ताकि दूसरे भी तुम्हे वैसा न बोलें।

२८. अन्धकार से घिरे हुए लोग दीपक की तलाश क्यों नही करते ?

२९. जीवन की सीमा मृत्यु तक है।

३०. अल्पश्रुत मूढ व्यक्ति बैल की तरह बढ़ता है, उसका मांस तो बढ़ता है किन्तु प्रज्ञा नहीं बढती है।

३१. जैसा अनुशासन तुम दूसरो पर करना चाहते हो, वैसा ही अपने ऊपर भी करो।

३२. [illegible] अपना आत्मा ही अपना नाथ (स्वामी) है, दूसरा कौन उसका नाथ हो सकता है ?

३३. शुद्धि और अशुद्धि अपने से ही होती है, दूसरा कोई किसी अन्य को शुद्ध नहीं कर सकता।

३४. [illegible] प्रमाद मत करो, सद्धर्म का आचरण करो। धर्मचारी पुरुष [illegible] दोनों जगह सुखी रहता है।

३७. किच्छो मनुस्सपटिलाभो, किच्छं मच्चान जीवितं।
किच्छं सद्धम्मस्सवनं, किच्छो बुद्धानुप्पादो॥

—१४।४

३८. सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं॥

—१४।५

३९. खन्ति परमं तपो तितिक्खा।

—१४।६

४०. न कहापणवस्सेन, तित्ति कामेसु विज्जति।

—१४।८

४१. जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजयं॥

—१५।५

४२. नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।

—१५।६

४३. नत्थि सन्ति परं सुखं।

—१५।६

४४. जिघच्छा परमा रोगा।

—१५।७

४५. आरोग्य परमा लाभा, सन्तुट्ठि परमं धनं।
विस्सास परमा ञाती, निब्बानं परमं सुखं॥

—१५।८

४६. तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं?

—१६।८

४७. यो वे उप्पतितं कोधं, रथं भन्तं व धारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥

—१७।२

३७. मनुष्य का जन्म पाना कठिन है, मनुष्य का जीवित रहना कठिन है। सद्धर्म का श्रवण करना कठिन है, और बुद्धो (ज्ञानियो) का उत्पन्न होना कठिन है।

३८. पापाचार का सर्वथा नहीं करना, पुण्य का संचय करना, स्व-चित्त को विशुद्ध करना—यही बुद्धो की शिक्षा है।

३९. क्षमा (सहिष्णुता) परम तप है।

४०. स्वर्णमुद्राओं की वर्षा होने पर भी अतृप्त मनुष्य को विषयों से तृप्ति नहीं होती।

४१. विजय से वैर की परंपरा बढ़ती है, पराजित व्यक्ति मन में कुढ़ता रहता है। जो जय और पराजय को छोड़ देता है वही सुखी होता है।

४२. राग से बढ़कर और कोई अग्नि नहीं है, द्वेष से बढ़कर और कोई पाप नहीं है।

४३. शांति से बढ़कर सुख नहीं है।

४४. भूख सबसे बड़ा रोग है।

४८. अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेन अलीकवादिनं ।।

१७।३

४९. मलं वण्णस्स कोसज्जं, पमादो रक्खतो मलं ।

—१८।७

५०. अविज्जा परमं मलं ।

—१८।९

५१. नत्थि मोहसमो जालं, नत्थि तण्हासमा नदी ।

—१८।१७

५२. सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं, अत्तनो पन दुद्दसो ।

—१८।१८

५३. आकासे च पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे ।

—१८।२१

५४. न तेन पण्डितो होती, यावता बहु भासति ।
खेमी अवेरी अभयो, पण्डितो ति पवुच्चति ।।

—१९।३

५५. न तेन थेरो होति, येनस्स पलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्स, मोघजिण्णो ति वुच्चति ।
यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा सञ्ञमो दमो ।
स वे वन्तमलो धीरो, थेरो ति पवुच्चति ।।

—१९।५।६

५६. न मुण्डकेन समणो, अव्वतो अलिकं भणं ।

—१९।९

५७. न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियो ति पवुच्चति ।।

—१९।१५

५८. मत्ता सुखपरिच्चागा, पस्से चे विपुलं सुखं ।
चजे मत्ता सुखं धीरो, सम्पस्सं विपुलं सुखं ।।

—२१।१

४८. अक्रोध (क्षमा) से क्रोध को जीते, भलाई से बुराई को जीते, दान से कृपण को जीते और सत्य से असत्यवादी को जीते।

४९. आलस्य सुन्दरता का मैल है, असावधानी रक्षक (पहरेदार) का मैल है।

५०. अविद्या सबसे बड़ा मैल है।

५१. मोह के समान दूसरा कोई जाल नहीं। तृष्णा के समान और कोई नदी नहीं।

५२. दूसरों के दोष देखना आसान है। अपने दोष देख पाना कठिन है।

५३. आकाश में कोई किसी का पदचिन्ह नहीं है, बाहर में कोई श्रमण नहीं है।

५४. बहुत बोलने से कोई पंडित नहीं होता। जो क्षमाशील, वैररहित और निर्भय होता है वही पंडित कहा जाता है।

५५. सिर के बाल सफेद हो जाने से भी कोई स्थविर नहीं हो जाता, आयु के परिपक्व होने पर मनुष्य केवल मोघजीर्ण (व्यर्थ का) वृद्ध होता है। जिस में सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, वस्तुतः वही विगतमल और धीर स्थविर कहा जाता है।

५९. एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।

—२३।११

६०. सब्बदानं धम्मदानं जिनाति,
सब्बं रसं धम्मरसो जिनाति।

—२४।२१

६१. हनन्ति भोगा दुम्मेधं।

—२४।२२

६२. तिणदोसानि खेत्तानि, रागदोसा अयं पजा।

—२४।२३

६३. सलाभं नातिमञ्ञेय्य, नाञ्ञेसं पिहयं चरे।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खु, समाधिं नाधिगच्छति॥

—२५।६

६४. समचरिया समणो ति वुच्चति।

—२६।६

६५. यतो यतो हिंसमनो निवत्तति,
ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं।

—२६।८

६६. किं ते जटाहि दुम्मेध! किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं, वाहिरं परिमज्जसि॥

—२६।१२

५६. अकेला चलना अच्छा है, किंतु मूर्ख का संग करना ठीक नहीं है ।

६०. धर्म का दान, सब दानों से बढ़कर है ।
धर्म का रस, सब रसों से श्रेष्ठ है ।

६१. दुर्बुद्धि अज्ञानी को भोग नष्ट कर देते हैं ।

६२. खेतों का दोष तृण (घास फूस) है, मनुष्यों का दोष राग है ।

६३. अपने लाभ की अवहेलना न करे, दूसरों के लाभ की स्पृहा न करे ।
दूसरों के लाभ की स्पृहा करने वाला भिक्षु समाधि नहीं प्राप्त कर सकता ।

६४ जो समता का आचरण करता है, वह समण (श्रमण) कहलाता है ।

६५ मन ज्यों ज्यों हिंसा से दूर हटता है, त्यों त्यों दुःख शांत होता जाता है ।

६६. मूर्ख ! जटाओं से तेरा क्या बनेगा, और मृग छाला से भी तेरा क्या होगा ? तेरे अन्दर में तो राग द्वेष आदि का मल भरा पड़ा है, बाहर क्या धोता है ?

सुत्तपिटक :

उदान[1] की सूक्तियां

●

१. न उदकेन सुची होती, बह्वेत्थ न्हायती जनो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो॥

—१।६

२. अब्यापज्जं सुखं लोके, पाणभूतेसु संयमो।

—२।१

३. सुखा विरागता लोके।

—२।१

४. यं च कामसुखं लोके, यंचिदं दिवियं सुखं।
तण्हक्खयसुखस्सेते, कलं नाग्घन्ति सोलसिं॥

—२।२

५. सुखकामानि भूतानि।

—२।३

६. फुसन्ति फस्सा उपधिं पटिच्च,
निरूपधिं केन फुसेय्य फस्सा।

—२।४

७. जनो जनस्मिं पटिबन्धरूपो।

—२।५

---

१ भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित, नवनालंदा संस्करण।

सुत्तपिटक :

उदान की सूक्तियां

१. स्नान तो प्रायः सभी लोग करते हैं, किन्तु पानी से कोई शुद्ध नहीं होता। जिसमें सत्य है और धर्म है, वही शुद्ध है, वही ब्राह्मण है।

२. छोटे-बड़े सभी प्राणियों के प्रति संयम और मित्रभाव का होना ही वास्तविक सुख है।

३. संसार में वीतरागता ही सुख है।

८. सुखिनो वत वे अकिंञ्चना ।

—२।६

९. असातं सातरूपेन, पियरूपेन अप्पियं।
दुक्खं सुखस्स रूपेन, पमत्तमतिवत्तति ॥

—२।८

१०. सब्बं परवसं दुक्खं, सव्वं इस्सरियं सुखं।

—२।६

११. यस्स नित्तिण्णो पंको, मद्दितो कामकण्टको ।
मोहक्खयं अनुप्पत्तो, सुखदुक्खेसु न वेधती स भिक्खू।

—३।२

१२. यथा पि पब्बतो सेलो, अचलो सुप्पतिट्ठितो।
एवं मोहक्खया भिक्खु, पब्बतो व न वेधती ॥

—३।४

१३. यम्ही न माया वसती न मानो,
यो वीतलोभो अममो निरासो।
पनुण्णकोधो अभिनिव्वुतत्तो,
सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू ॥

—३।६

१४. असुभा भावेतब्बा रागस्स पहानाय।
मेत्ता भावेतब्बा व्यापादस्स पहानाय।
आनापानस्सति भावेतब्बा वितक्कुपच्छेदाय।
अनिच्चसञ्ञा भावेतब्बा अस्मिमानसमुग्घाताय ॥

—४।१

१५. खुद्दा वितक्का सुखुमा वितक्का,
अनुग्गता मनसो उप्पिलावा ।

—४।१

८. जो अकिञ्चन है, वे ही सुखी हैं।

९. बुरे को अच्छे रूप में, अप्रिय को प्रियरूप में, दुःख को सुखरूप में, प्रमत्त लोग ही समझा करते हैं।

१०. जो पराधीन है, वह सब दुःख है, और जो स्वाधीन है, वह सब सुख है।

११. जो पाप पंक को पार कर चुका है, जिस ने कामवासना के कांटों को कुचल दिया है, जो मोह को क्षय कर चुका है, और जो सुख दुःख से खिन्न नहीं होता है, वही सच्चा भिक्षु है।

१२. जैसे ठोस चट्टानों वाला पर्वत अचल होकर खड़ा रहता है, वैसे ही मोह के क्षय होने पर भिक्षु भी शान्त और स्थिर रहता है।

१३. जिस में न माया (दंभ) है, न अभिमान है, न लोभ है, न [illegible] है, न तृष्णा है और जो क्रोध से रहित तथा प्रशान्त है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, और वही भिक्षु है।

१६. अरक्खितेन कायेन, मिच्छादिट्ठिहतेन च।
थीनमिद्धाभिभूतेन, वसं मारस्स गच्छति॥

—४।२

१७. तुदन्ति वाचाय जना असञ्ञता,
सरेहि संगामगतं व कुंजरं।

—४।८

१८. भद्दकं मे जीवितं, भद्दकं मरणं।

—४।६

१६. यं जीवितं न तपति, मरणन्ते न सोचति।
स वे दिट्ठपदो धीरो, सोकमज्झे न सोचति॥

—४।६

२०. नत्थञ्ञो कोचि अत्तना पियतरो।

—५।१

२१. सुद्धं वत्थ अपगतकालकं सम्मदेव रजनं पटिग्गण्हेय्य।

—५।३

२२. पण्डितो जीवलोकस्मिं, पापानि परिवज्जये।

—५।३

२३. सचे भायथ दुक्खस्स, सचे वो दुक्खमप्पियं।
माकत्थ पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो॥

—५।४

२४. सचे च पापकं कम्म, करिस्सथ करोथ वा।
न वो दुक्खा पमुत्यत्थि, उपेच्च पि पलायतं॥

—५।४

२५. छन्नमतिवस्सति, विवटं नातिवस्सति।
तस्मा छन्नं विवरेथ, एवं तं नातिवस्सति॥

—५।५

२६. अरियो न रमती पापे, पापे न रमती सुची।

—५।६

१६ शरीर से संयमहीन प्रवृत्ति करने वाला, मिथ्या सिद्धान्त को मानने वाला और निरुद्यमी आलसी व्यक्ति मार की पकड़ मे आ जाता है।

१७ असंयत मनुष्य दुर्वचनो से उसी प्रकार भडक उठते है, जिस प्रकार युद्ध मे बाणो से आहत होने पर हाथी।

१८ मेरा जीवन भी भद्र (मंगल) है और मरण भी भद्र है।

१९ जिसको न जीवन की तृष्णा है और न मृत्यु का शोक है, वह ज्ञानी धीर पुरुष शोक के प्रसंगो मे भी कभी शोक नही करता है।

२०. अपने से बढ़कर अन्य कोई प्रिय नही है।

२७. सुकरं साधुना साधु, साधु पापेन दुक्करं।
पापं पापेन सुकरं, पापमरियेहि दुक्करं॥

—५।१

२८. परिमुट्ठा पंडिताभासा, वाचागोचरभाणिनो।
याविच्छन्ति मुखायामं, येन नीता न तं विदू॥

—५।१

२९. संवासेन खो, महाराज, सीलं वेदितब्बं,
तं च खो दीघेन श्रद्धुना, न इत्तरं।
मनसि करोता नो श्रमनसि करोता, पञ्ञवता नो दुपञ्ञेन।

—६

३०. संवोहारेण खो, महाराज, सोचेय्यं वेदितब्बं।

—६।२

३१. श्रापदासु खो, महाराज, थामो वेदितब्बो....

—६।२

३२. साकच्छाय खो, महाराज, पञ्ञा वेदितब्बा....।

—६।२

३३. न वायमेय्य सब्बत्थ, नाञ्ञस्स पुरिसो सिया।
नाञ्ञं निस्साय जीवेय्य, धम्मेन न वणि चरे॥

—६।२

३४. विग्गय्ह नं विवदन्ति, जना एकङ्गदस्सिनो।

—६।४

३५. श्रहङ्कारपसूतायं पजा परंकारूपसंहिता।

—६।६

४७. साधु पुरुषों को साधु कर्म (सत्कर्म) करना सुकर है, पापियों को साधु कर्म करना दुष्कर है।
पापियों को पाप कर्म करना सुकर है, आर्यजनों को पाप कर्म करना दुष्कर है।

४८. अपने को पण्डित समझने वाले पण्डिताभास मूर्ख खूब मुँह फाड़-फाड़ कर व्यर्थ की लंबी चौड़ी बातें करते हैं, परन्तु वे क्या कर रहे हैं, यह स्वयं नहीं जान पाते।

४९. महाराज! किसी के साथ रहने से ही उसके शील का पता लगाया जा सकता है, वह भी कुछ दिन नहीं, बहुत दिनों तक,
वह भी बिना ध्यान से नहीं, किन्तु ध्यान से;
बिना बुद्धिमानी से नहीं, किन्तु बुद्धिमानी से।

५०. हे महाराज, व्यवहार करने पर ही मनुष्य की प्रामाणिकता का पता लगता है।

५१. हे महाराज, आपत्ति काल में ही मनुष्य के धैर्य का पता लगता है।

५२. हे महाराज, बातचीत करने पर ही किसी की प्रज्ञा (बुद्धिमानी) का पता लग सकता है।

२७. सुकरं साधुना साधु, साधु पापेन दुक्करं।
पापं पापेन सुकरं, पापमरियेहि दुक्करं॥

—५।८

२८. परिमुट्ठा पंडिताभासा, वाचागोचरभाणिनो।
याविच्छन्ति मुखायामं, येन नीता न तं विदू॥

—५।९

२९. संवासेन खो, महाराज, सीलं वेदितव्वं,
तं च खो दीघेन अद्धुना, न इत्तरं।
मनसि करोता नो अमनसि करोता, पञ्ञवता नो दुपञ्ञेन।

—६।२

३०. संवोहारेण खो, महाराज, सोचेइयं वेदितव्बं।

—६।२

३१. आपदासु खो, महाराज, थामो वेदितव्वो....

—६।२

३२. साकच्छाय खो, महाराज, पञ्ञा वेदितव्वा....।

—६।२

३३. न वायमेय्य सव्वत्थ, नाञ्ञस्स पुरिसो सिया।
नाञ्ञं निस्साय जीवेय्य, धम्मेन न वणिं चरे॥

—६।२

३४. विग्गय्ह नं विवदन्ति, जना एकङ्गदस्सिनो।

—[illegible]

३५. अहङ्कारपसूतायं पजा परंकारूपसंहिता।

—[illegible]

२७. साधु पुरुषो को साधु कर्म (सत्कर्म) करना सुकर है, पापियो को साधु कर्म करना दुष्कर है।
पापियो को पाप कर्म करना सुकर है, आर्यजनों को पाप कर्म करना दुष्कर है।

२८. अपने को पण्डित समझने वाले पण्डिताभास मूर्ख खूब मुँह फाड़-फाड़ कर व्यर्थ की लंबी चौडी बातें करते है, परन्तु वे क्या कर रहे है, यह स्वयं नही जान पाते।

२९. महाराज ![1] किसी के साथ रहने से ही उसके शील का पता लगाया जा सकता है, वह भी कुछ दिन नही, बहुत दिनो तक,
वह भी बिना ध्यान से नही, किन्तु ध्यान से;
बिना बुद्धिमानी से नही, किन्तु बुद्धिमानी से।

३० हे महाराज, व्यवहार करने पर ही मनुष्य की प्रामाणिकता का पता लगता है।

३१. हे महाराज, आपत्ति काल मे ही मनुष्य के धैर्य का पता लगता है।

३२. हे महाराज, बातचीत करने पर ही किसी की प्रज्ञा (बुद्धिमानी) का पता चल सकता है।

३३. हर कोई काम करने को तैयार नही हो जाना चाहिए, दूसरे का गुलाम होकर नही रहना चाहिए, किसी दूसरे के भरोसे पर जीना उचित नही, धर्म के नाम पर धंधा शुरू नही कर देना चाहिए।

३४. धर्म के केवल एक ही अंग को देखने वाले आपस मे झगड़ते है, विवाद करते है।

३५. संसार के [illegible] अहंकार और ममकार के (मेरे मेरे के) चक्कर मे ही [illegible] रहते है।

३६. अहं करोमी ति न तस्स होति,
परो करोती ति न तस्स होति ।

—६।६

३७. दिट्ठीसु सारम्भकथा, संसारं नातिवत्तति ।

—६।६

३८. पतन्ति पज्जोतमिवाधिपातका,
दिट्ठे सुते इतिहेके निविट्ठा ।

—६।९

३९. ओभासति ताव सो किमि,
याव न उन्नमते पभङ्करो ।
स वेरोचनम्हि उग्गते,
हतप्पभो होति नचा पि भासति ॥

—६।१०

४०. विसुक्खा सरिता न सन्दति,
छिन्नं वट्टं न वत्तति ।

—७।२

४१. किं कयिरा उदपानेन, आपा चे सब्बदासियुं ।

—७।९

४२. पस्सतो नत्थि किञ्चनं ।

—७।१०

४३. निस्सितस्स चलितं, अनिस्सितस्स चलितं नत्थि ।

—८।४

४४. नतिया असति आगतिगति न भवति ।

—८।४

४५. ददतो पुञ्ञं पवड्ढति ।
संयमतो वेरं न चीयति ।

—[illegible]

३६. तत्वदर्शी साधक को यह द्वैत नही होता कि यह मैं करता हूँ या कोई दूसरा करता है।

३७. विभिन्न मत पक्षो को लेकर झगड़ने वाले संसारबन्धन से कभी मुक्त नही हो सकते।

३८. जैसे पतंगे उड़-उड़कर जलते प्रदीप पर आ गिरते है, वैसे ही अज्ञजन दृष्ट और श्रुतवस्तु के व्यामोह मे फँस जाते है।

३९. तभी तक खद्योत (जुगनू) टिम टिमाते है, जब तक सूरज नही उगता। सूरज के उदय होते ही उनका टिम टिमाना बन्द हो जाता है, वे हत-प्रभ हो जाते हैं।

४०. सूखी हुई नदी की धारा नही बहती, लता कट जाने पर और नही फैलती।

४१. यदि पानी सदा सर्वदा सर्वत्र मिलता रहे, तो फिर कुँए से क्या करना है?

४२. सत्वद्रष्टा ज्ञानी के लिए रागादि कुछ नही है।

४३. आसक्त का चित्त चंचल रहता है। अनासक्त का चित्त चंचल नही होता है।

४४. राग नही होने से आवागमन नही होता है।

४५. दान देने से पुण्य बढ़ता है, संयम करने से वैर नही बढ़ पाता है।

४६. दुस्सीलो सीलविपन्नो सम्मूढो कालं करोति ।

—८।६

४७. कुल्लं हि जनो पबन्धति,
तिण्णा मेधाविनो जना ।

—८।६

४८. सद्धि चरमेकतो वसं
मिस्सो अञ्ञजनेन वेदगू ।
विद्वा पजहाति पापकं
कोञ्चो खीरपको व निन्नगं ॥

—८।७

४९. येसं नत्थि पियं, नत्थि तेसं दुक्खं ।

—८।८

४६. शीलरहित दुःशील व्यक्ति मृत्यु के क्षणों मे बिमूढ़ हो जाता है, घबड़ा जाता है।

४७. अज्ञजन बेड़ा बाँधते ही रह गये, और ज्ञानी जन संसारसागर को पार भी कर गये।

४८. पण्डित जन अज्ञजनो के साथ हिल मिलकर रहते है, साथ-साथ चलते है, फिर भी उनके दुर्विचार को वैसे ही छोड़े रहते है, जैसे क्रौंच पक्षी दूध पीकर पानी को छोड़ देता है।

४९. जिनका कही भी किसी से भी राग नही है, उनको कोई भी दुःख नही है।

सुत्तपिटक :

इतिवुत्तक[1] की सूक्तियां

१. मोहं भिक्खवे, एकधम्मं पजहथ,
अहं वो पाटिभोगो अनागामिताया ।

—१।३

२. सुखा संघस्स सामग्गी, समग्गानं चनुग्गहो ।
समग्गरतो धम्मट्ठो, योग-क्खेमा न धंसति ॥

—१।१६

३. अप्पमादं पसंसन्ति, पुञ्ञकिरियासु पण्डिता ।

—१।२३

४. भोजनम्हि च मत्तञ्ञू, इन्द्रियेसु च संवुतो ।
कायसुखं चेतोसुखं, सुखं सो अधिगच्छति ॥

—२।२

५. द्वे मे, भिक्खवे, सुक्का धम्मा लोकं पालेन्ति ।
कतमे द्वे ?
हिरी च, ओत्तप्पं च ।

—२।१४

६. सुत्ता जागरितं सेय्यो, नत्थि जागरतो भयं ।

—२।१०

---

१ भिक्षु जगदीश काश्यप सम्पादित, नवनालंदासंस्करण ।

सुत्तपिटक :

इतिवुत्तक की सूक्तियां

१. भिक्षुओ, एक मोह को छोड़ दो, मैं तुम्हारे अनागामी (निर्वाण) का जामिन होता हूँ।

२. संघ का मिलकर रहना सुखदायक है। संघ मे परस्पर मेल बढ़ाने वाला, मेल करने में लीन धार्मिक व्यक्ति कभी योग-क्षेम से वंचित नही होता।

३. बुद्धिमान् लोग पुण्य कर्म (सत्कर्म) करने मे प्रमाद न करने की प्रशंसा करते हैं।

४. जो भोजन की मात्रा को जानता है और इन्द्रियो मे संयमी है, वह बड़े आनन्द से शारीरिक तथा मानसिक सभी सुखो को प्राप्त करता है।

५. भिक्षुओ! दो परिशुद्ध बातें लोक का संरक्षण करती है?
कौन सी दो?
लज्जा और संकोच।

६. सोने से जागना श्रेष्ठ है, जागने वाले को कही कोई भय नही है।

७. सेयो अयोगुलो भुत्तो, तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यं चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो, रट्ठपिण्डमसञ्ञतो ॥

—३।२१

८. लोभो दोसो च मोहो च, पुरिसं पापचेतसं।
हिंसन्ति अत्तसंभूता तचसारं व सम्फल ॥

—३।१

९. पञ्ञाचक्खु अनुत्तरं।

—३।१२

१०. यादिसं कुरुते मित्तं, यादिसं चूपसेवति।
स वे तादिसको होति, सहवासो हि तादिसो ॥

—३।२७

११. असन्तो निरयं नेन्ति, सन्तो पापेन्ति सुग्गतिं।

—३।२७

१२. परित्तं दारुमारुय्ह, यथा सीदे महण्णवे।
एवं कुसीतमागम्म, साधुजीवी पि सीदति ॥

—३।२६

१३. निच्चं आरद्धविरियेहि, पण्डितेहि सहावसे।

—३।२६

१४. मनुस्सत्तं खो, भिक्खु, देवानं सुगतिगमनसंखातं।

—३।३४

१५. चरं वा यदि वा तिट्ठं, निसिन्नो उद वा सयं।
अज्झत्तं समयं चित्तं, सन्तिमेवाधिगच्छति ॥

—३।३७

१६. अनत्थजननो लोभो, लोभो चित्तप्पकोपनो।
भयमन्तरतो जातं, तं जनो नावबुज्झति ॥

—३।३८

१७. लुद्धो अत्थं न जानाति, लुद्धो धम्मं न पस्सति।
अन्धतमं तदा होति, यं लोभो सहते नरं ॥

—३।३९

७. असंयमी और दुराचारी होकर राष्ट्र-पिण्ड (देश का अन्न) खाने की अपेक्षा तो अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खा लेना श्रेष्ठ है।

८. अपने ही मन मे उत्पन्न होने वाले लोभ, द्वेष और मोह, पाप चित्त वाले व्यक्ति को वैसे ही नष्ट कर देते है, जैसे कि केले के वृक्ष को उसका फल।

९. प्रज्ञा (बुद्धि) की आँख ही सर्वश्रेष्ठ आँख है।

१०. जो जैसा मित्र बनाता है, और जो जैसे सम्पर्क मे रहता है, वह वैसा ही बन जाता है, क्योकि उसका सहवास ही वैसा है।

११. असत्पुरुष (दुर्जन) नरक मे ले जाते है और सत्पुरुष (सज्जन) स्वर्ग मे पहुँचा देते है।

१२. जिस प्रकार थोड़ी लकड़ियो के क्षुद्र बेड़े पर बैठ कर समुद्रयात्रा करने वाला व्यक्ति समुद्र मे डूब जाता है, उसी प्रकार आलसी के साथ अच्छा आदमी भी बरबाद हो जाता है।

१३. बुद्धिमान एवं निरंतर उद्योगशील व्यक्ति के साथ रहना चाहिए।

१४. हे भिक्षु, मनुष्य जन्म पा लेना ही देवताओ के लिए सुगति (अच्छी गति) प्राप्त करना है।

१५. चलते, खड़े होते, बैठते या सोते हुए जो अपने चित्त को शान्त करता है, वह अवश्य ही शान्ति प्राप्त कर लेता है।

१६. लोभ अनर्थ का जनक है, लोभ चित्त को विकृत करने वाला है। आश्चर्य है लोभ के रूप मे अपने अन्दर ही पैदा हुए खतरे को लोग नहीं जान पा रहे है।

१७. लोभी न परमार्थ को समझता है और न धर्म को। वह तो धन को ही सब कुछ समझता है। उसके [illegible] अन्धकार छाया रहता है।

१८. अदुट्ठस्स हि यो दुब्भे, पापकम्मं अकुब्बतो।
तमेव पापं फुसति, दुट्ठचित्तं अनादरं॥

—३।४०

१९. समुद्दं विसकुम्भेन, यो मञ्ञेय्य पदूसितुं।
न सो तेन पदूसेय्य, भेस्मा हि उदधि महा॥

—३।४०

२०. तयोमे, भिक्खवे अग्गी।
कतमे तयो ?
रागग्गी, दोसग्गी, मोहग्गी।

—३।४४

२१. सागारा अनगारा च, उभो अञ्ञोञ्ञनिस्सिता।
आराधयन्ति सद्धम्मं, योगक्खेमं अनुत्तरं॥

—४।८

२२. कुहा थद्धा लपा सिङ्गी, उन्नला असमाहिता।
न ते धम्मे विरूहन्ति, सम्मासम्बुद्धदेसिते॥

—४।६

२३. यतं चरे यतं तिट्ठे, यतं अच्छे यतं सये।

—४।१२

सुत्तपिटक :

सुत्तनिपात[1] की सूक्तियां

●

१. यो उप्पतितं विनेति कोधं,
विसठं सप्पविसंऽव ओसधेहि।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं,
उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं॥

—१।१।१

२. यो तण्हमुदऽच्छिदा असेसं,
सरितं सीघसरं विसोसयित्वा।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं,
उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं॥

—१।१।३

३. उपधी हि नरस्स सोचना,
न हि सोचति यो निरुपधी।

—१।२।१२

४. सेट्ठा समा सेवितब्बा सहाया।

—१।३।१३

---

१ भिक्षु धर्मरत्न द्वारा संपादित, महाबोधिसभा सारनाथ संस्करण।

सुत्तपिटक :

सुत्तनिपात की सूक्तियां

●

१. जो चढे क्रोध को वैसे ही शात कर देता है जैसे कि देह मे फैलते हुए सर्पविष को औषधि, वह भिक्षु इस पार तथा उस पार को अर्थात् लोक-पर लोक को छोड़ देता है, साँप जैसे अपनी पुरानी कैंचुली को।

२. जो वेग से बहने वाली तृष्णारूपी सरिता को सुखाकर नष्ट कर देता है, वह भिक्षु इस पार उस पार को अर्थात् लोक परलोक को छोड़ देता है, साँप जैसे अपनी पुरानी कैंचुली को।

३. विषय भोग की उपधि ही मनुष्य की चिंता का कारण है, जो निरुपधि हैं, विषय भोग से मुक्त है, वे कभी चिंताकुल नहीं होते।

४. श्रेष्ठ और समान मित्रो की संगति करनी चाहिए।

५. सीहोऽव सद्देसु असन्तसन्तो,
वातोऽव जालम्हि असज्जमाणो।
पदुमंऽव तोयेन अलिप्पमाणो,
एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

—१।३।३७

६. निक्कारणा दुल्लभा अज्ज मित्ता।

—१।३।४१

७. सद्धा बीजं, तपो वुट्ठि।

—१।४।२

८. गाथाभिगीतं मे अभोजनेय्य।

—१।४।६

९. धम्मकामो भवं होति, धम्मदेस्सी पराभवो।

—१।६।२

१०. निद्दासीली सभासीली, अनुट्ठाता च यो नरो।
अलसो कोधपञ्ञाणो, त पराभवतो मुखं॥

—१।६।६

११. एको भुञ्जति सादूनि, तं पराभवतो मुखं।

—१।६।१२

१२. जातिथद्धो धनथद्धो, गोत्तथद्धो च यो नरो।
संञ्ञातिं अतिमञ्ञेति, तं पराभवतो मुखं॥

—१।६।१४

१३. यस्स पाणे दया नत्थि, तं जञ्ञा वसलो इति।

—१।७।२

१४. यो अत्थं पुच्छितो संतो, अनत्थमनुसासति।
पटिच्छन्नेन मन्तेति, तं जञ्ञा वसलो इति॥

—१।७।[illegible]

५. शब्द से त्रस्त न होने वाले सिंह, जाल में न फँसने वाले वायु, एवं जल से लिप्त न होने वाले कमल के समान अनासक्त भाव से अकेला विचरे, खड्गविषाण (गेंडे के सींग) की तरह।

६. आजकल निःस्वार्थ मित्र दुर्लभ है।

७. श्रद्धा मेरा बीज है, तप मेरी वर्षा है।

८. धर्मोपदेश करने से प्राप्त भोजन मेरे (धर्मोपदेष्टा के) योग्य नही है।

९. धर्मप्रेमी उन्नति को प्राप्त होता है और धर्मद्वेषी अवनति को।

१०. जो मनुष्य निद्रालु है, सभी—भीडभाड एवं धूमधाम पसन्द करता है, अनुद्योगी है, आलसी है और क्रोधी है, वह अवश्य ही अवनति को प्राप्त होता है।

११. जो व्यक्ति अकेला ही स्वादिष्ट भोजन करता है, वह उसकी अवनति का कारण है।

१२. जो मनुष्य अपने जाति, धन और गोत्र का गर्व करता है, अपने ज्ञातिजनों का,—बन्धु बांधवों का अपमान करता है, वह उसकी अवनति का कारण है।

१३ जिस प्राणियों के प्रति दया नहीं है, उसी को वृषल (शूद्र) समझना चाहिए।

१५. यो चत्तानं समुक्कंसे, परं च मवजानति ।
निहीनो सेन मानेन, तं जञ्ञा वसलो इति ॥

—१।७।१३

१६. न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो ॥

—१।७।२७

१७. न च खुद्दं समाचरे किञ्चि,
येन विञ्ञू परे उपवदेय्युं ।

—१।८।१

१८. सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता ।

—१।८।३

१९. न परो परं निकुब्बेथ, नातिमञ्ञेथ कत्थचिनं कञ्चि ।

—१।८।६

२०. मेत्तं च सब्बलोकस्मि, मानसं भावये अपरिमाणं ।

—१।८।८

२१. सच्चं हवे सादुतरं रसानं ।

—१।१०।२

२२. धम्मो सुचिण्णो सुखमावहाति ।

—१।१०।२

२३. पञ्ञाजीविं जीवितमाहु सेट्ठं ।

—१।१०।२

२४. विरियेन दुक्खं अच्चेति, पञ्ञाय परिसुज्झति ।

—१।१०।४

२५. सद्धाय तरती ओघं ।

—१।१०।४

२६. पतिरूपकारी धुरवा, उट्ठाता विन्दते धनं ।

—१।१०।[illegible]

१५. जो अपनी बड़ाई मारता है, दूसरे का अपमान करता है, किंतु बड़ाई के योग्य सत्कर्म से रहित है, उसे वृषल (शूद्र) समझना चाहिए ।

१६. जाति से न कोई वृषल (शूद्र) होता है और न कोई ब्राह्मण । कर्म से ही वृषल होता है और कर्म से ही ब्राह्मण ।

१७. ऐसा कोई क्षुद्र (ओछा) आचरण नही करना चाहिए, जिससे विद्वान् लोग बुरा बताएँ ।

१८. विश्व के सब प्राणी सुखी हो ।

१९. किसी को धोखा नही देना चाहिए और न किसी का अपमान करना चाहिए ।

२०. विश्व के समस्त प्राणियो के साथ असीम मैत्री की भावना बढाएँ ।

२१. सब रसो मे सत्य का रस ही स्वादुतर (श्रेष्ठ) है ।

२२. सम्यक् प्रकार से आचरित धर्म सुख देता है ।

२३. प्रज्ञामय (बुद्धियुक्त) जीवन को ही श्रेष्ठ जीवन कहा है ।

२४. [illegible] पराक्रम के द्वारा दुःखो से पार होता है और प्रज्ञा से परिशुद्ध होता है ।

२५. [illegible] [illegible] से संसार-प्रवाह को पार कर जाता है ।

२७. सच्चेन कित्तिं पप्पोति, ददं मित्तानि गन्थति ।

—१।१०।७

२८. यस्सेते चतुरो धम्मा, सद्धस्स घरमेसिनो ।
सच्चं धम्मो धिती चागो, स वे पेच्च न सोचति ॥

—१।१०।८

२९. अरोसनेय्यो सो न रोसेति कंचि,
तं वापि धीरा मुनिं वेदयन्ति ॥

—१।१२।१०

३०. अनन्वयं पियं वाचं, यो मित्तेसु पकुब्बति ।
अकरोन्तं भासमानं, परिजानन्ति पण्डिता ॥

—२।१५।२

३१. स वे मित्तो यो परेहि अभेज्जो ।

—२।१५।३

३२. निद्दरो होति निप्पापो, धम्मपीतिरसं पिवं ।

—२।१५।५

३३ यथा माता पिता भाता, अञ्ञे वापि च ञातका ।
गावो नो परमा मित्ता, यासु जायन्ति ओसधा ॥

—२।१६।१३

३४. तयो रोगा पुरे आसुं, इच्छा अनसनं जरा ।
पसूनं च समारम्भा, अट्ठानवुतिमागमुं ॥

—२।१६।१८

३५. यथा नरो आपगं ओतरित्वा,
महोदिकं सलिलं सीघसोतं ।
सो वुय्हमानो अनुसोतगामी,
किं सो परे सक्खति तारयेतुं ॥

—२।८।१

३६ छिन्नानि नारानि सुभासितानि ।

—२। । ।

२७. सत्य से कीर्ति प्राप्त होती है, और सहयोग (दान) से मित्र अपनाए जाते हैं।

२८. जिस श्रद्धाशील गृहस्थ मे सत्य, धर्म, धृति और त्याग ये चार धर्म है, उसे परलोक मे पछताना नही पड़ता।

२९. जो न स्वय चिढ़ता है और न दूसरो को चिढ़ाता है, उसे ज्ञानी लोग मुनि कहते है।

३०. जो अपने मित्रो से बेकार की मीठी-मीठी बाते करता है, किन्तु अपने कहे हुए वचनो को पूरा नही करता है, ज्ञानी पुरुष उस मित्र की निदा करते हैं।

३१. वही सच्चा मित्र है, जो दूसरो के बहकावे मे आकर फूट का शिकार न बने।

३२. धर्मप्रीति का रस पान कर मनुष्य निर्भय और निष्पाप हो जाता है।

३३. माता, पिता, भाई एव दूसरे ज्ञाति—बन्धुओ की तरह गाये भी हमारी परम मित्र है, जिनसे कि औषधिया उत्पन्न होती हैं।

३४. पहले केवल तीन रोग थे—इच्छा, भूख और जरा। पशुवध प्रारम्भ होने पर अट्ठानवे रोग हो गए।

३५. जो मनुष्य तेज बहने वाली विशाल नदी मे धारा के साथ बह रहा है, वह दूसरो को किस प्रकार पार उतार सकता है? (इसी प्रकार जो स्वय [illegible] है, वह धर्म के सम्बन्ध मे दूसरो को क्या सिखा सकता है)

३७. न तस्स पञ्ञा च सुतं च वड्ढति,
योे सालसो होति नरो पमत्तो।

—२।२१।६

३८. उट्ठहथ निसीदथ, को अत्थो सुपिनेन वो ?

—२।२२।१

३९. खणातीता हि सोचन्ति।

—२।२२।३

४०. अप्पमादेन विज्जा य, अब्बहे सल्लमत्तनोति।

—२।२२।४

४१. कच्चि अभिण्हसंवासा, नावजानासि पण्डितं।

—२।२३।१

४२. यथावादी तथाकारी, अहू बुद्धस्स सावको।

—२.२४।१५

४३. कोधं कदरिय्यं जहेय्य भिक्खु।

—२।२५।४

४४. अब्रह्मचरियं परिवज्जयेय्य, अंगारकासुं जलितं व विञ्ञू।

—२।२६।२१

४५. कामा ते पठमा सेना, दुतिया अरति वुच्चति।
ततिया खुप्पिपासा ते, चतुत्थी तण्हा पवुच्चति॥

—३।२८।१२

४६. सुभासितं उत्तममाहु सन्तो।

—३।२९।१

४७. सच्चं वे अमता वाचा, एस धम्मो सनन्तनो।

—३।२९।८

४८. पुण्डरीकं यथा वग्गु, तोये न उपलिप्पति।
एवं पुञ्ञे च पापे च, उभये त्वं न लिप्पसि॥

—३।३२।३८

३७. जो मनुष्य आलसी और प्रमत्त है, न उसकी प्रज्ञा बढ़ती है और न उस का श्रुत (शास्त्र ज्ञान) ही बढ़ पाता है।

३८. जागो, बैठे हो जाओ, सोने से तुम्हे क्या लाभ है ? कुछ नही।

३९. समय चूकने पर पछताना पड़ता है।

४०. अप्रमाद और विद्या से ही अन्तर का शल्य (काटा) निकाला जा सकता है।

४१. क्या तुम अति परिचय के कारण कभी ज्ञानी पुरुष का अपमान तो नही करते ?

४२. बुद्ध के शिष्य यथावादी तथाकारी है।

४३. भिक्षु क्रोध और कृपणता को छोड़ दे।

४४. जलते कोयले के कुण्ड के समान जान कर, साधक को, अब्रह्मचर्य का त्याग कर देना चाहिए।

४५. हे मार ! कामवासना तेरी पहली सेना है, अरति दूसरी, भूख प्यास तीसरी और तृष्णा तेरी चौथी सेना है।

४६. संतों ने अच्छे वचन को ही उत्तम कहा है।

४७. सत्य ही अमृत वाणी है, यह शाश्वत धर्म है।

४९ नहि सो उपक्कमो अत्थि, येन जाता न मिय्यरे।

—३।३४।२

५० नहि रुण्णेन सोकेन, सन्ति पप्पोति चेतसो।

—३।३४।११

५१. वारिपोक्खरपत्तेव, आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिप्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

—,।३५।३२

५२. समञ्ञा हेसा लोकस्मिं, नामगोत्तं पकप्पितं।

—३।३५।५५

५३. कम्मना वत्तती लोको, कम्मना वत्तती पजा।

—३।३५।६१

५४. पुरिसस्स हि जातस्स, कुठारी जायते मुखे।
याय छिन्दति अत्तानं, बालो दुब्भासितं भणं॥

—३।३६।१

५५. यो निन्दियं पसंसति,
त वा निन्दति यो पसंसियो।
विचिनाति मुखेन सो कलिं,
कलिना तेन सुखं न विन्दति॥

—३।३६।२

५६. अभूतवादी निरय उपेति,
यो वा पि कत्वा न करोमीति चाह।

—३।३६।५

५७. नहि नस्सति कस्सचि कम्म, एतिह नं लभतेव सुवामि।

—३।३६।१०

५८. यथा अहं तथा एने, यथा एने तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥

— ३।३ ·

४९. विश्व मे ऐसा कोई उपक्रम नही है, जिससे कि प्राणी जन्म लेकर न मरें।

५०. रोने से या शोक करने से चित्त को शान्ति प्राप्त नही होती।

५१. जल मे लिप्त नही होने वाले कमल की तरह, तथा आरे की नोंक पर न टिकने वाले सरसो के दाने की तरह जो विषयो मे लिप्त नही होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

५२. संसार मे नाम गोत्र कल्पित हैं, केवल व्यवहारमात्र है।

५३ संसार कर्म से चलता है, प्रजा कर्म से चलती है।

५४. जन्म के साथ ही मनुष्य के मुँह मे कुल्हाड़ी (जीभ) पैदा होती है। अज्ञानी दुर्वचन बोलकर उससे अपने आप को ही काट डालता है।

५५. जो निन्दनीय की प्रशंसा करता है और प्रशंसनीय की निन्दा करता है, वह मुख से पाप एकत्रित करता है जिस के कारण उसे कभी सुख प्राप्त नही होता।

५६. असत्यवादी नरक मे जाता है, और जो करके 'नही किया'—ऐसा कहता है वह भी नरक मे जाता है।

५९. सणन्ता यन्ति कुसोब्भा, तुण्ही याति महोदधि ।

—३।३७।४२

६०. यदूनकं तं सणाति, यं पूरं संतमेव त ।
अड्ढकुम्भूपमो बालो, रहदो पूरो व पंडितो ॥

—३।३७।४३

६१. यं किंचि दुक्खं संभोति, सब्बं तण्हा पच्चयाति ।

—३।३८।१७

६२. यं परे सुखतो आहु, तदरिया आहु दुक्खतो ।
यं परे दुक्खतो आहु, तदरिया सुखतो विदु ॥

—३।३८।३९

६३. निवुतानं तमो होति, अन्धकारो अपस्सतं ।

—३।३८।४०

६४. ममायिते पस्सथ फंदमाने,
मच्छेव अप्पोदके खीणसोते ।

—४।४०।६

६५. यो अत्तनो सीलवतानि जन्तु,
अनानुपुट्ठो च परेस पावा ।
अनरियधम्मं कुसला तमाहु,
यो आतुमानं सयमेव पावा ॥

—४।४।३

६६. तं वापि गन्थं कुसला वदन्ति,
यं निस्सितो पस्सति हीनमञ्ञं ।

—४।५।३

६७. उदबिंदु यथापि पोक्खरे, पदुमे वारि यथा न लिप्पति ।
एव मुनि नोपलिप्पति, यदिद दिट्ठमुत मुतेसु वा ।

—४।६।९

६८. ते वादकामा परिसं विगय्ह,
बालं दहन्ति मिथु अञ्ञमञ्ञं ।

—४।८।२

५९. छोटी नदियां शोर करती बहती हैं और बड़ी नदियां शान्त चुपचाप बहती है।

६०. जो अपूर्ण है वह आवाज करता है, और जो पूर्ण है वह शान्त—मौन रहता है। मूर्ख अधभरे जलघट के समान है, और पंडित लबालब भरे जलाशय के समान।

६१. जो कुछ भी दुःख होता है, वह सब तृष्णा के कारण होता है।

६२. दूसरो ने जिसे सुख कहा है, आर्यों ने उसे दुःख कहा है। आर्यों ने जिसे दुःख कहा है, दूसरो ने उसे सुख कहा है।

६३. मोहग्रस्तो के लिए सब ओर अज्ञान का तम ही तम है, अन्धों के लिए सब ओर अन्धकार ही अन्धकार है।

६४. अल्प जल वाले सूखते जलाशय की मछलियों की तरह अज्ञानी तृष्णा के वशीभूत होकर छटपटाते हैं।

६५. जो मनुष्य बिना पूछे अपने शील व्रतों की चर्चा करता है, आत्म प्रशंसा करता है, उसे ज्ञानियो ने अनार्य धर्म (निम्न आचरण) कहा है।

६६. जो अपनी दृष्टि (विचारों) के फेर में पड़कर दूसरों को हीन समझता है, उसे कुशलो (विद्वानो) ने मन की गाँठ कहा है।

६७. जिस प्रकार कमल के पत्ते पर पानी नही टिकता, उसी प्रकार मुनि दृष्टि, श्रुति, एवं धारणा मे आसक्त नही होता।

६९ निन्दाय सो कुप्पति रन्धमेसी।

—४।४६।३

७०. सञ्ञाविरत्तस्स न संति गन्था।

—४।४७।१३

७१. यस्स लोके सकं नत्थि, असता च न सोचति।
धम्मेसु च न गच्छति, स वे सन्तो ति वुच्चति।

—४।४८।१४

७२. एकं हि सच्चं न दुतियमत्थि।

—४।५०।७

७३. परस्स चे बंभयितेन हीनो,
न कोचि धम्मेसु विसेसि अस्स।

—४।५१।११

७४. न ब्राह्मणस्स परनेय्यमत्थि।

—४।५१।१३

७५. निविस्सवादी नहि सुद्धि नायो।

—४।५१।१६

७६ झायी न पादलोलस्स, विरमे कुक्कुच्चा नप्पमज्जेय्य।

—४।५२।११

७७. निद्दं न बहुली करेय्य, जागरियं भजेय्य आतापी।

—४।५२।१२

७८. अत्तदण्डा भयं जातं।

—४।५३।१

७९. पुराणं नाभिनन्देय्य, नवे खन्ति न कुब्बये।

—४।५३।१०

८०. गेधं ब्रूमि महोघो ति।

—४।५३।११

६९. दूसरो के छिद्र (दोष) देखने वाला निन्दक व्यक्ति अपनी निंदा सुनकर कुपित होता है।

७०. विषयो से विरक्त मनुष्य के लिए कोई ग्रन्थि (बन्धन) नही है।

७१. जिसका संसार में कुछ भी अपना नही है, जो बीती हुई बात के लिए पछतावा नही करता है और जो धर्मो के फेर मे नही पड़ता है वह उपशांत कहलाता है।

७२. सत्य एक ही है, दूसरा नही।

७३. यदि दूसरो की ओर से की जाने वाली अवज्ञा से कोई धर्महीन हो जाए तो, फिर तो धर्मो मे कोई भी श्रेष्ठ नही रहेगा।

७४. ब्राह्मण (तत्त्वदर्शी) सत्य के लिए दूसरो पर निर्भर नही रहते।

७५. जो किसी वाद मे आसक्त (फँसा) है, उसकी चित्तशुद्धि नही हो सकती।

७६. ध्यानयोगी घुमक्कड न बने, व्याकुलता से विरत रहे, प्रमाद न करे।

७७. साधक निद्रा को बढ़ाए नही, प्रयत्न शील होकर जागरण का अभ्यास करे।

७८. अपने स्वयं के दोष से ही भय उत्पन्न होता है।

८१. कामपंको दुरच्चयो ।

—४।५३।११

८२. चुदितो वचीहि सति माभिनन्दे ।

—४।५४।१६

८३. जनवादधम्माय न चेतयेय्य ।

—४।५४।१६

८४. अविज्जाय निवुतो लोको ।

—५।५६।२

८५. अत्थं गतस्स न पमाणमत्थि ।

—५।६१।८

८६. कथंकथा च यो तिण्णो, विमोक्खो तस्स कीदिसो ?

—५।६४।१

८७. निब्बाणं इति नं ब्रूमि, जरमच्चुपरिक्खयं ।

—५।६५।३

८८. तण्हाय विप्पहाणेण, णिब्बाणं इति वुच्चति ।

—५।६८।४

८९. नंदीसंयोजनो लोको ।

—५।६८।५

८१. कामभोग का पंक दुस्तर है।

८२. आचार्य आदि के द्वारा गलती बताने पर बुद्धिमान पुरुष उसका अभिनंदन (स्वागत) करे।

८३. साधक, लोगों में झगड़ा कराने की बात न सोचे।

८४. यह संसार अज्ञान से ढका है।

८५. जो जीते-जी अस्त हो गया है, उसका कोई प्रमाण नही रहता।

८६. जो शंका और आकांक्षा से मुक्त हो गया है, उसकी दूसरी मुक्ति कैसी ?

८७. मैं कहता हूँ—जरा और मृत्यु का अन्त ही निर्वाण है।

८८. तृष्णा का सर्वथा नाश होना ही निर्वाण कहा गया है।

८९. नंदी (आसक्ति) ही संसार का बंधन है।

सुत्तपिटक :

थेरगाथा[1] की सूक्तियां

१. उपसन्तो उपरतो, मन्तभाणी अनुद्धतो।
धुनाति पापके धम्मे, दुमपत्तं व मालुतो॥

—१।२

२. सब्भिरेव समासेथ पण्डितेहत्थदस्सिभि।

—१।४

३. समुन्नमयमत्तानं, उसुकारो व तेजनं।

—१।२६

४. सीलमेव इध अग्गं, पञ्ञवा पन उत्तमो।
मनुस्सेसु च देवेसु, सीलपञ्ञाणतो जयं॥

—१।३०

५. साधु सुविहितान दस्सनं, कंखा छिज्जति, वुद्धि वड्ढति।

—१।३१

६. यो कामे कामयति, दुक्खं सो कामयति।

—१।६३

७. लाभालाभेन मथिता, समाधिं नाधिगच्छन्ति।

—१।१०७

१ भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित, नवनालंदा संस्करण।

सुत्तपिटक :

थेरगाथा की सूक्तियां

१. जो उपशांत है, पापो से उपरत है, विचारपूर्वक बोलता है, अभिमान-रहित है, वह उसी प्रकार पापधर्मो को उड़ा देता है जिस प्रकार हवा वृक्ष के सूखे पत्तो को।

२. तत्वद्रष्टा एवं ज्ञानी सत्पुरुषो की संगति करनी चाहिए।

३. अपने आप को उसी प्रकार ठीक करो, जिस प्रकार बाण बनाने वाला बाण को ठीक करता है।

४. संसार मे शील ही श्रेष्ठ है, प्रज्ञा ही उत्तम है। मनुष्यो और देवो मे शील एवं प्रज्ञा से ही वास्तविक विजय होती है।

५. सत्पुरुषो का दर्शन कल्याणकारी है। सत्पुरुषो के दर्शन से संशय का उच्छेद होता है और बुद्धि की वृद्धि होती है।

६. जो काम भोगो की कामना करता है, वह दुःखो की कामना करता है।

८. एकङ्गदस्सी दुम्मेधो, सतदस्सी च पण्डितो ।

—१।१०६

९. पंको ति हि नं पवेदय्युं, यायं वन्दनपूजना कुलेसु ।
सुखुमं सल्लं दुरुब्बहं, सक्कारो कापुरिसेन दुज्जहो ॥

—२।१२४

१०. पुब्बे हनति अत्तानं, पच्छा हनति सो परे ।

—२।१३६

११. न ब्राह्मणो बहिवण्णो, अन्तो वण्णोहि ब्राह्मणो ।

—२।१४०

१२. सुस्सुसा सुतवद्धनी, सुतं पञ्ञाय वद्धनं ।
पञ्ञाय अत्थं जानाति, ञातो अत्थो सुखावहो ॥

—२।१४१

१३. आयु खीयति मच्चानं, कुन्नदीनं व ओदकं ।

—२।१४५

१४. संगामे मे मतं सेय्यो, यञ्चे जीवे पराजितो ।

—२।१६४

१५. यो पुब्बे करणीयानि, पच्छा सो कातुमिच्छति ।
सुखा सो धंसते ठाना, पच्छा च मनुतप्पति ॥

—३।२२५

१६. यञ्हि कयिरा तं हि वदे, यं न कयिरा न तं वदे ।
अकरोन्तं भासमाणं, परिजानन्ति पण्डिता ॥

—३।२२६

१७. यथा ब्रह्मा तथा एको, यथा देवो तथा दुवे ।
यथा गामो तथा तयो, कोलाहलं ततुत्तरि ॥

—३।२४५

१८. रज्जन्ति पि विरज्जन्ति, तत्थ किं जिय्यते मुनि ।

—३।२४३

८. मूर्ख सत्य का एक ही पहलू देखता है, और पंडित सत्य के सौ पहलुओं को देखता है।

९. साधक की समाज मे जो वन्दना और पूजा होती है, ज्ञानियो ने उसे पंक (कीचड) कहा है। सत्काररूपी सूक्ष्म शल्य को साधारण व्यक्तियों द्वारा निकाल पाना मुश्किल है।

१०. पापात्मा पहले अपना नाश करता है, बाद मे दूसरो का।

११. बाहर के वर्ण (दिखावे) से कोई ब्राह्मण (श्रेष्ठ) नही होता, अन्तर् के वर्ण (शुद्धि) से ही ब्राह्मण होता है।

१२. जिज्ञासा से ज्ञान (श्रुत) बढ़ता है, ज्ञान से प्रज्ञा बढ़ती है, प्रज्ञा से सद् अर्थ का सम्यग् बोध होता है, जाना हुआ सद् अर्थ सुखकारी होता है।

१३. मनुष्यो की आयु वैसे ही क्षीण हो जाती है, जैसे छोटी नदियों का जल।

१४. पराजित होकर जीने की अपेक्षा, युद्ध मे प्राप्त वीर मृत्यु ही अधिक श्रेष्ठ है।

१५. जो पहले करने योग्य कामो को पीछे करना चाहता है, वह सुख से वंचित हो जाता है, और बाद मे पछताता रहता है।

१६. जो कर सके वही कहना चाहिए, जो न कर सके वह नही कहना चाहिए। जो कहता है पर करता नही है; उसकी विद्वान जन निन्दा करते है।

१७. अकेला साधक ब्रह्मा के समान है, दो देवता के समान हैं, तीन गाँव के समान है, इससे अधिक तो केवल कोलाहल—भीड़ है।

१९. न दुग्गतिं गच्छति धम्मचारी ।

—४।३०३

२०. यस्स सब्रह्मचारीसु, गारवो नूपलब्भति ।
परिहायति सद्धम्मा, मच्छो अप्पोदके यथा ॥

—६।३८७

२१. पमादानुपतितो रजो ।

—६।४८४

२२. अमोघं दिवसं कयिरा, अप्पेन बहुकेन वा ।

—६।४५१

२३. न परे वचना चोरो, न परे वचना मुनि ।

—७।४९७

२४. जीवतेवापि सप्पञ्ञो, अपि वित्तपरिक्खयो ।
पञ्ञाय च अलाभेन, वित्तवापि न जीवति ॥

— ८।४९९

२५. सब्बं सुणाति सोतेन, सब्बं पस्सति चक्खुना ।
न च दिट्ठं सुतं धीरो, सब्बं उज्झितुमरहति ॥

—८।५००

२६. चक्खुमास्स यथा अन्धो, सोतवा बधिरो यथा ।

८।५०१

२७. पञ्ञासहितो नरो इध, अपि दुक्खेसु सुखानि विन्दति ।

—१०।५५१

२८. रसेसु अनुगिद्धस्स, झाने न रमती मनो ।

—१०।५८०

२९. सीलवा हि बहू मित्ते, सञ्ञमेनाधिगच्छति ।
दुस्सीलो पन मित्तेहि, धंसते पापमाचरं ॥

—१२।६१०

३०. सीलं बलं अप्पटिमं, सीलं आवुधमुत्तमं ।
सीलमाभरणं सेट्ठं, सीलं कवचमब्भुतं ॥

—१२।६१४

१६. धर्मात्मा व्यक्ति दुर्गति में नही जाता ।

२०. जिसका गौरव साथियो को प्राप्त नही होता, वह सद्धर्म (कर्तव्य) से वैसे ही पतित हो जाता है, जैसे कि थोड़े पानी मे मछलियां ।

२१. प्रमाद से ही वासना की धूल इकट्ठी होती है ।

२२. थोड़ा या ज्यादा कुछ न कुछ सत्कर्म करके दिन को सफल बनाओ ।

२३. दूसरे के कहने से न कोई चोर होता है और न कोई साधु ।

२४. धनहीन होने पर भी बुद्धिमान यथार्थतः जीता है और धनवान होने पर भी अज्ञानी यथार्थतः नही जीता है ।

२५. मनुष्य कान से सब कुछ सुनता है, आँख से सब कुछ देखता है, किंतु धीर पुरुष देखी और सुनी सभी बातो को हर कही कहता न फिरे ।

२६. साधक चक्षुष्मान होने पर भी अन्धे की भांति रहे, श्रोत्रवान होने पर भी बधिर की भांति आचरण करे ।

२७. समाधान मनुष्य दुःख मे भी सुख का अनुभव करता है ।

२८. जो स्वादु रसो मे आसक्त है उसका चित्त ध्यान मे नही रमता ।

२९. शीलवान अपने संयम से [illegible] मित्रो को प्राप्त कर लेता है, और दुःशील पापाचार से [illegible] मित्रो से भी वंचित हो जाता है ।

१९. न दुग्गतिं गच्छति धम्मचारी ।

—४।३०३

२०. यस्स सब्रह्मचारीसु, गारवो नूपलब्भति ।
परिहायति सद्धम्मा, मच्छो अप्पोदके यथा ॥

—६।३८७

२१. पमादानुपतितो रजो ।

—६।४८४

२२. अमोघं दिवसं कयिरा, अप्पेन बहुकेन वा ।

—६।४५१

२३. न परे वचना चोरो, न परे वचना मुनि ।

—७।४६७

२४. जीवतेवापि सप्पञ्ञो, अपि वित्तपरिक्खयो ।
पञ्ञाय च अलाभेन, वित्तवापि न जीवति ॥

— ८।४९९ —

२५. सब्बं सुणाति सोतेन, सब्बं पस्सति चक्खुना ।
न च दिट्ठं सुतं धीरो, सब्बं उज्झितुमरहति ॥

—८।५००

२६. चक्खुमास्स यथा अन्धो, सोतवा बधिरो यथा ।

८।५०१

२७. पञ्ञासहितो नरो इध, अपि दुक्खेसु सुखानि विन्दति ।

—१०।५५१

२८. रसेसु अनुगिद्धस्स, झाने न रमती मनो ।

—१०।५८०

२९. सीलवा हि बहू मित्ते, सञ्ञमेनाधिगच्छति ।
दुस्सीलो पन मित्तेहि, धंसते पापमाचरं ॥

—१२।६१०

३०. सीलं बलं अप्पटिमं, सीलं आवुधमुत्तमं ।
सीलमाभरणं सेट्ठं, सीलं कवचमब्भुतं ॥

—१२।६१४

१९. धर्मात्मा व्यक्ति दुर्गति मे नहीं जाता ।

२०. जिसका गौरव साथियों को प्राप्त नही होता, वह सद्धर्म (कर्तव्य) से वैसे ही पतित हो जाता है, जैसे कि थोड़े पानी मे मछलियां ।

२१. प्रमाद से ही वासना की धूल इकट्ठी होती है ।

२२. थोड़ा या ज्यादा कुछ न कुछ सत्कर्म करके दिन को सफल बनाओ ।

२३. दूसरे के कहने से न कोई चोर होता है और न कोई साधु।

२४. धनहीन होने पर भी बुद्धिमान यथार्थतः जीता है और धनवान होने पर भी अज्ञानी यथार्थतः नही जीता है ।

२५. मनुष्य कान से सब कुछ सुनता है, आँख से सब कुछ देखता है, किंतु धीर पुरुष देखी और सुनी सभी बातो को हर कही कहता न फिरे ।

२६. साधक चक्षुष्मान होने पर भी अन्धे की भांति रहे, श्रोत्रवान होने पर भी बधिर की भाति आचरण करे ।

२७. प्रज्ञावान मनुष्य दुःख मे भी सुख का अनुभव करता है ।

२८. जो सुस्वादु रसों मे आसक्त है उसका चित्त ध्यान में नही रमता ।

२९. शीलवान अपने संयम [illegible] नये मित्रो को प्राप्त कर लेता है, और दुःशील पापाचार के [illegible] मित्रो से भी वंचित हो जाता है ।

३०. शील अनुपम बल है, शील सर्वोत्तम शस्त्र है, शील श्रेष्ठ आभूषण है और रक्षा करने वाला अद्भुत कवच है ।

३१. अलाभो धम्मिको सेय्यो, यञ्चे लाभो अधम्मिको।

—१४।६६६

३२. अयसो सेय्यो विञ्ञूनं, न यसो अप्पबुद्धिनं।

—१४।६६७

३३. गरहा व सेय्यो विञ्ञूहि, यं चे बालप्पसंसना।

—१४।६६८

३४. मरणं धम्मिकं सेय्यो, यं चे जीवे अधम्मिकं।

—१४।६७०

३५. चरन्ति लोके असिता, नत्थि तेसं पियापियं।

—१४।६७१

३६. रजमुहतं च वातेन यथा मेघोपसम्मये।
एवं सम्मत्ति संकप्पा, यदा पञ्ञाय पस्सति॥

—१५।६७५

३७. रत्तो रागाधिकरणं, विविधं विन्दते दुखं।

—१६।७३४

३८. पिसुनेन च कोधनेन च, मच्छरिता च विभूतिनन्दिना।
सखितं न करेय्य पण्डितो, पापो कापुरिसेन संगमो॥

—१७।१०१७

३९. वहुस्सुतो अप्पस्सुतं यो सुतेनातिमञ्ञति।
अन्धो पदीपधारो व तथेव पटिभाति मं॥

—१७।१०२६

४०. अप्पिच्छता सप्पुरिसेहिं वण्णिता।

—१६।११२७

४१. तमेव वाचं भासेय्य, या यत्तानं न तापये।
परे च न विहिंसिय्य, सा वे वाचा सुभापिता॥

—२१।१२३६

३१. अधर्म से होने वाले लाभ की अपेक्षा धर्म से होने वाला अलाभ श्रेयस्कर है।

३२. अल्पबुद्धि मूर्खों के द्वारा प्राप्त यश की अपेक्षा विद्वानों द्वारा किया गया अपयश भी श्रेष्ठ है।

३३. मूर्खों के द्वारा की जाने वाली प्रशंसा की अपेक्षा विद्वानों के द्वारा की जाने वाली निंदा भी श्रेष्ठ है।

३४. अधर्म से जीने की अपेक्षा धर्म से मरना ही श्रेष्ठ है।

३५. जो संसार में अनासक्त होकर विचरण करते है, उनके लिए न कोई प्रिय है न कोई अप्रिय।

३६. जिस प्रकार हवा से उठी हुई धूल मेघवृष्टि से शांत हो जाती है, उसी प्रकार प्रज्ञा से स्वरूप का दर्शन होने पर मन के विकार शात हो जाते है।

३७. आसक्त मनुष्य आसक्ति के कारण नाना प्रकार के दुःख पाता है।

३८. चुगलखोर, क्रोधी, मत्सरी (डाह रखने वाला) और कंजूस—इनकी संगति नही करनी चाहिए, क्योंकि नीच पुरुषों की संगति करना पाप है।

३९. जो बहुश्रुत (विद्वान) होकर, अपने विशिष्ट श्रुतज्ञान के कारण अल्पश्रुत की अवज्ञा करता है, वह मुझे अंधे प्रदीपधर (अधा मसालची) की तरह प्रतीत होता है।

४०. सत्पुरुषो ने अल्पेच्छता (कम इच्छा) की प्रशंसा की है।

४१. वही बात बोलनी चाहिए जिनसे न स्वयं को कष्ट हो और न दूसरो को ही। वस्तुतः सुभाषित वाणी ही श्रेष्ठ वाणी है।

सुत्तपिटक :

जातक[1] की सूक्तियां

●

१. न तं जितं साधु जितं, यं जितं अवजीयति ।
तं खो जितं साधु जितं, यं जितं नावजीयति ॥

—१।७०।७०

२. अकतञ्ञुस्स पोसस्स, निच्चं विवरदस्सिनो ।
सब्बं चे पठविं दज्जा, नेव न अभिराधये ॥

—१।७२।७२

३. मित्तो हवे सत्तपदेन होति, सहायो पन द्वादसकेन होति ।
मासड्ढमासेन च ञाति होति, ततुत्तरिं अत्तसमो पि होति ॥

—१।८३।८३

४. यस लद्धान दुम्मेधो, अनत्थं चरति अत्तनो ।

—१।१२२।१२२

५. तदेवेकस्स कल्याणं, तदेवेकस्स पापकं ।
तस्मा सब्बं न कल्याणं, सब्बं वा पि न पापकं ॥

—१।१२६।१२६

६. पदुट्ठचित्तस्स न फाति होति,
न चापि तं देवता पूजयन्ति ।

—३।२८८।११४

---

१ भिक्षु जगदीश काश्यप सपादित, नवनालंदा संस्करण ।

सुत्तपिटक :
जातक की सूक्तियां

●

१. वह विजय अच्छी विजय नहीं है, जो बाद में पराजय मे बदल जाए। वह विजय श्रेष्ठ विजय है, जो कभी पराजय मे नही बदलती।

२. जो व्यक्ति अकृतज्ञ है, निरंतर दोष देखता रहता है, उसे यदि सम्पूर्ण भूमण्डल का साम्राज्य दे दिया जाय तब भी उसे प्रसन्न नही किया जा सकता।

३. सात कदम साथ चलने से मित्र हो जाता है, बारह कदम से सहायक हो जाता है। महीना-पन्द्रह दिन साथ रहने से जाति बन्धु बन जाता है, इससे अधिक साथ रहने से तो आत्मसमान (अपने समान) ही हो जाता है।

४. दुर्बुद्धि यश पाकर अनर्थ ही करता है। अर्थात् उसे प्रशंसा पच नही पाती।

५. जो एक के लिए अच्छा है, वह दूसरे के लिए बुरा भी है, अतः संसार मे एकान्त रूप से न कोई अच्छा है और न कोई बुरा ही है।

६. दुष्ट चित्त वाले व्यक्ति का विकास नही होता, और न उसका देवता सन्मान करते है।

७. कुलपुत्तो व जानाति, कुलपुत्तं पसंसितुं ।

—३।२६५।१३४

८. यस्स गामे सखा नत्थि, यथा रञ्ञं तथेव तं ।

—४।३१५।६०

९. नहि सत्थं सुनिसितं, विसं हालाहलामिव ।
एवं निकट्ठे पातेति, वाचा दुब्भासिता यथा ॥

—४।३३१।१२२

१०. अलसो गिही कामभोगी न साधु,
असञ्ञतो पब्बजितो न साधु ।
राजा न साधु अनिसम्मकारी,
यो पण्डितो कोधनो तं न साधु ॥

—४।३३२।१२७

११ निसम्मकारिनो राज, यसो कित्ति च वड्ढति ।

—४।३३२।१२८

१२. नो चे अस्स सका बुद्धि, विनयो वा न सुसिक्खितो ।
वने अन्धमहिसो व, चरेय्य बहुको जनो ॥

—४।४०६।८१

१३. बलं हि बालस्स वधाय होति ।

—५।३५७।४२

१४. सीलेन अनुपेतस्स, सुतेनत्थो न विज्जति ।

—५।३६२।६६

१५ सब्बं सुतमधीयेथ, हीनमुक्कट्ठमज्झिमं ।

—५।३७३।१२३

१६. धम्मो रहदो अकद्दमो, पापं सेदमलं ति वुच्चति ।
सीलं च नवं विलेपनं, तस्स गन्धो न कदाचि छिज्जति ॥

—६।३८८।८७

१७. विवादेन किसा होन्ति ।

—७।८००।३२

७. कुलपुत्र (खानदानी व्यक्ति) ही कुलपुत्र की प्रशंसा करना जानता है।

८. जिसका गाँव मे कोई मित्र नही है, उसके लिए जैसा जंगल, वैसा गाँव !

९. अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र और हलाहल विष भी उतनी हानि नहीं करता, जितना कि अविवेक से बोला हुआ दुर्वचन करता है।

१०. सुख समृद्धि चाहने वाले गृहस्थ का आलसी होना अच्छा नही, प्रव्रजित का असंयमी रहना अच्छा नही, राजा का अनिशम्यकारी (बिना सुने समझे निर्णय करने वाला) होना अच्छा नही, और पंडित का क्रोधी होना अच्छा नही।

११. राजन् ! सोच समझकर कार्य करने वालों का ही यश तथा कीर्ति बढती है।

१२. जिनका अपना ज्ञान नही है, और जो सदाचारी भी नही है, ऐसे लोग भूतल पर वन में अंधे भैंसे की तरह फिरते है।

१३. मूर्ख का बल, उसी के वध के लिए हो जाता है।

१४. शीलरहित व्यक्ति का मात्र श्रुत (ज्ञान)से कोई अर्थ सिद्ध नही हो पाता।

१५. जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, सभी प्रकार का श्रुत (ज्ञान) सीखना चाहिए।

१६. धर्म कीचड़ से रहित निर्मल सरोवर है, पाप मन का स्वेद-मल (पसीना) है। शील वह अद्भुत गंध-विलेपन है, जिसकी गन्ध कभी क्षीण नही होती।

१७. विवाद से सभी जन क्षीण हो जाते हैं।

१८. यो च दत्त्वा नानुतप्पे, तं दुक्करतरं ततो।

—७।४०१।४४

१९. साधु जागरतं सुत्तो।

—७।४१४।४१

२०. धम्मो हवे हतो हन्ति।

—८।४२२।४५

२१. जिव्हा तस्स द्विधा होति, उरगस्सेव दिसम्पति।
यो जानं पुच्छितो पञ्हं, अञ्ञथा नं वियाकरे॥

—८।४२२।५०

२२. हीनेन ब्रह्मचरियेन, खत्तियो उपपज्जति।
मज्झिमेन च देवत्तं, उत्तमेन विसुज्झति॥

—८।४२४।७५

२३. अग्गी व तिणकट्ठस्मिं, कोधो यस्स पवड्ढति।
निहीयति तस्स यसो, कालपक्खे व चन्दिमा॥

—१०।४४३।६०

२४. नत्थि कामा परं दुखं।

—११।४५९।६६

२५. पञ्ञाय तित्तं पुरिसं, तण्हा न कुरुते वसं।

—१२।४६७।४३

२६. एरण्डा पुचिमन्दा वा, अथवा पालिभद्दका।
मधुं मधुत्थिको विन्दे, सो हि तस्स दुमुत्तमो॥
खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा, सुद्दा चण्डाल पुक्कुसा।
यम्हा धम्मं विजानेय्य, सो हि तस्स नरुत्तमो॥

—१३।४७३।७-८

२७. हीनजच्चो पि चे होति, उट्ठाता धितिमा नरो।
आचारसीलसम्पन्नो, निसे अग्गीव भासति॥

—१५।५०२।१९९

१८. जो दान देकर पछताता नहीं है, यह अपने में बड़ा ही दुष्कर कार्य है।

१९. साधु सोता हुआ भी जागता है।

२०. धर्म नष्ट होने पर व्यक्ति नष्ट हो जाता है।

२१. जो जानता हुआ भी पूछने पर अन्यथा (झूठ) बोलता है, उसकी जीभ सांप की तरह दो टुकड़े हो जाती है।

२२. साधारण कोटि के ब्रह्मचर्य (संयम) से कर्मप्रधान क्षत्रिय जाति मे जन्म होता है, मध्यम से देवयोनि में और उत्तम ब्रह्मचर्य से आत्मा विशुद्ध होता है।

२३. घास व काठ मे पड़ी हुई अग्नि की तरह जिसका क्रोध सहसा भड़क उठता है, उसका यश वैसे ही क्षीण होता जाता है जैसे कि कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा।

२४. काम (इच्छा) से बढ़कर कोई दुःख नहीं है।

२५. प्रज्ञा से तृप्त पुरुष को तृष्णा अपने वश में नहीं कर सकती।

२६. चाहे एरण्ड हो, नीम हो या पारिभद्र (कल्पवृक्ष) हो, मधु चाहने वाले को जहां से भी मधु मिल जाए उसके लिए वही वृक्ष उत्तम है।
इसी प्रकार क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चण्डाल, पुक्कुस आदि कोई भी हो, जिससे भी धर्म का स्वरूप जाना जा सके, जिज्ञासु के लिए वही मनुष्य उत्तम है।

२७. हीन जाति वाला मनुष्य भी यदि उद्योगी है, धृतिमान है, आचार और शील से सम्पन्न है तो वह रात्रि में अग्नि के समान प्रकाशमान होता है।

२८. उट्ठाहतो अप्पमज्जतो, अनुतिट्ठन्ति देवता।

—१७।५२१।११

२९. नालसो विन्दते सुखं।

—१७।५२१।१२

३०. द्वे व तात ! पदकानि, यत्थ सब्बं पतिट्ठितं।
उवलद्धस्स च यो लाभो, लद्धस्स चानुरक्खणा ॥

—१७।५२१।१५

३१. मा च वेगेन किच्चानि, करोसि कारयेसि वा।
वेगसा हि कतं कम्मं, मन्दो पच्छानुतप्पति ॥

—१७।५२१।२१

३२. पसन्नमेव सेवेय्य, अप्पसन्नं विवज्जये।
पसन्नं पयिरुपासेय्य, रहदं वुदकत्थिको ॥

—१८।५२८।१३१

३३. यो भजन्तं न भजति, सेवमानं न सेवति।
स वे मनुस्सपापिट्ठो, मिगो साखस्सितो यथा ॥

—१८।५२८।१३३

३४. अच्चाभिक्खणसंसग्गा, असमोसरणेन च।
एतेन मित्ता जीरन्ति, अकाले याचनाय च ॥

—१८।५२८।१३४

३५. अतिच्चिरं निवासेन, पियो भवति अप्पियो।

—१८।५२८।१३६

३६. यस्स रुक्खस्स छायाय, निसीदेय्य सयेय्य वा।
न तस्स साखं भञ्जेय, मित्तदुब्भो हि पापको ॥

—१८।५२८।१५३

३७. महारुक्खस्स फलिनो, आमं छिन्दति यो फलं।
रसञ्चस्स न जानाति, बीजञ्चस्स विनस्सति ॥
महारुक्खूपमं रट्ठं, अधम्मेन पसासति ॥
रसञ्चस्स न जानाति, रट्ठञ्चस्स विनस्सति ॥

—१८।५२८।१५२-१५३

२८ उद्योगी और अप्रमादी व्यक्ति के अनुष्ठान मे देवता भी सहयोगी होते है।

२९. आलसी को सुख नही मिलता।

३०. हे तात, दो बातो मे ही सब कुछ सार समाया हुआ है—अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त का संरक्षण !

३१ जल्दबाजी मे कोई कार्य न तो करना चाहिए और न करवाना चाहिए। जल्दबाजी मे किये गये काम पर मूर्ख बाद मे पछताता है।

३२. प्रसन्नचित्त वाले के साथ ही रहना चाहिए, अप्रसन्नचित्त वाले को छोड़ देना चाहिए। प्रसन्न व्यक्ति का साथ वैसा ही सुखद है, जैसे जलार्थी के लिए स्वच्छ सरोवर।

३३ जो अपने परिचित मित्रो के साथ उचित संपर्क एवं सद्व्यवहार नही रखता है, वह पापिष्ठ मनुष्य आकृति से मनुष्य होते हुए भी वृक्ष की शाखा पर रहने वाले बन्दर के समान है।

३४. बार-बार के अधिक संसर्ग से, संसर्ग के सर्वथा छूट जाने से और असमय की मांग से मित्रता जीर्ण हो जाती है, टूट जाती है।

३५. बहुत लम्बे समय के संवास (साथ रहने) से प्रिय मित्र भी अप्रिय हो जाता है।

३६. जिस वृक्ष की छाया में बैठे या सोये, उसकी शाखा को तोड़ना नही चाहिए। क्योकि मित्रद्रोही पापी होता है।

३७ फल वाले महान् वृक्ष के कच्चे फल को जो तोड़ता है, उसको फल का रस भी नहीं मिल पाता और भविष्य मे फलने वाला बीज भी नष्ट हो जाता है।
इसी प्रकार महान वृक्ष के समान राष्ट्र का जो राजा अधर्म से प्रशासन करता है, उसे राज्य का आनन्द भी नही मिलता है और राज्य भी नष्ट हो जाता है।

३८. महारुक्खस्स फलिनो, पक्कं छिन्दति यो फलं।
रसञ्चस्स विजानाति, बीजञ्चस्स न नस्सति॥
महारुक्खूपमं रट्ठं, धम्मेन यो पसासति।
रसञ्चस्स विजानाति, रट्ठञ्चस्स न नस्सति॥

—१८।५२८।१७४-१७५

३९. कालपक्खे यथा चन्दो, हायते व सुवे सुवे।
कालपक्खूपमो राज, असतं होति समागमो॥

—२१।५३७।४८४

४०. सुक्कपक्खे यथा चन्दो, वड्ढते व सुवे सुवे।
सुक्कपक्खूपमो राज, सतं होति समागमो॥

—२१।५३७।४८५

४१. न सो सखा यो सखारं जिनाति।

—२१।५३७।४९१

४२. न ते पुत्ता ये न भरन्ति जिण्णं।

—२१।५३७।४९१

४३. पूजको लभते पूजं, वन्दको पटिवन्दनं।

—२२।५३८।१७

४४. अज्जेव किच्चं आतप्प, को जञ्ञा मरणं सुवे?

—२२।५३८।१२१

४५. करं पुरिस किच्चानि, न च पच्छानुतप्पति।

—२२।५३९।१२६

४६. सब्बे वण्णा अधम्मट्ठा, पतन्ति निरयं अधो।
सब्बे वण्णा विमुज्झन्ति, चरित्वा धम्ममुत्तमं॥

—२२।५४१।४३९

४७. बालूपसेवी यो होति, बालो व समपज्जथ।

—२२।५४५।१२३

४८. नहि राजकुलं पत्तो, अञ्ञातो लभते यसं।

—२२।५४६।१४३

३८. फल वाले महान वृक्ष के पके हुए फल को जो तोड़ता है, उसको फल का रस भी मिलता है और भविष्य में फलने वाला बीज भी नष्ट नही होता। इसी प्रकार जो राजा महान वृक्ष के समान राष्ट्र का धर्म से प्रशासन करता है वह राज्य का रस (आनन्द) भी लेता है और उसका राज्य भी सुरक्षित रहता है।

३९. हे राजन् ! कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की तरह असत्पुरुषों की मैत्री प्रतिदिन क्षीण होती जाती है।

४०. हे राजन् ! शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह सत्पुरुषों की मैत्री निरंतर बढ़ती जाती है।

४१. वह मित्र अच्छा मित्र नही है, जो अपने मित्र को ही पराजित करता है।

४२. वह पुत्र अच्छा पुत्र नही है, जो अपने वृद्ध गुरुजनों का भरण पोषण नही करता।

४३, पूजा (सत्कार) के बदले में पूजा मिलती है, और वन्दन के बदले मे प्रतिवन्दन।

४४. आज का काम आज ही कर लेना चाहिए, कौन जाने कल मृत्यु ही आ जाए ?

४५. जो व्यक्ति समय पर अपना काम कर लेता है, वह पीछे पछताता नही।

४६. सभी वर्ण के लोग अधर्म का आचरण करके नरक में जाते हैं, और उत्तम धर्म का आचरण करके विशुद्ध होते है।

४७. मूर्खों की संगति करने वाला मूर्ख ही हो जाता है।

४८. बड़े लोगों में जहाँ अपरिचित व्यक्ति को प्रतिष्ठा नही मिलती।

विसुद्धिमग्ग की सूक्तियां*

•

१. सीले पतिट्ठा य नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटं ॥[1]

—१।१

२. अन्तो जटा बहि जटा, जटाय जटिता पजा।[2]

—१।१

३. विसुद्धी ति सब्बमलविरहितं अच्चंतपरिसुद्धं निब्बानं वेदितब्बं।

—१।५

४. सब्बदा सील सम्पन्नो, पञ्ञवा सुसमाहितो।
आरद्धविरियो पहितत्तो, ओघं तरति दुत्तरं ॥[3]

—१।६

---

* आचार्य धर्मानन्द कोशाम्बी द्वारा संपादित, भारतीय विद्याभवन (बम्बई) संस्करण।

१—संयुत्त नि० १।३।३। २—संयुत्त नि० १।३।३। ३—संयुत्त नि० २।२।५

विसुद्धिमग्ग की सूक्तियां

१. जो मनुष्य प्रज्ञावान् है, वीर्यवान् है और पण्डित है, भिक्षु है, वह शील पर प्रतिष्ठित होकर सदाचार का पालन करता हुआ, चित्त (समाधि) और प्रज्ञा की भावना करता हुआ इस जटा (तृष्णा) को काट सकता है।

२. भीतर जटा (तृष्णा) है, बाहर जटा है, चारों ओर से यह सब प्रजा जटा से जकड़ी हुई है।

३. सब प्रकार के मलों से रहित अत्यंत परिशुद्ध निर्वाण ही विशुद्धि है।

४. शीलसम्पन्न, बुद्धिमान, चित्त को समाधिस्थ रखने वाला, उत्साही और संयमी व्यक्ति कामनाओं के प्रवाह को (ओघ) तैर जाता है।

५. विरियं हि किलेसानं आतापानपरितापनट्ठेन
आतापो ति वुच्चति ।

—१।७

६. संसारे भयं इक्खतीति—भिक्खु ।

—१।७

७. सीलं सासनस्स आदि ।

—१।१०

८. सेलो यथा एकघनो, वातेन न समीरति ।
एव निंदापसंसासु न समिञ्जंति पण्डिता ॥[४]

—१।१०

९. सीलेन च दुच्चरितसंकिलेसविसोधनं पकासितं होति,
समाधिना तण्हासंकिलेसविसोधनं,
पञ्ञाय दिट्ठिसंकिलेसविसोधनं ।

—१।१३

१०. सिरट्ठो सीलट्ठो, सीतलट्ठो सीलट्ठो ।

—१।१९

११. हिरोत्तप्पे हि सति सील उप्पज्जति चेव तिट्ठति च,
असति नेव उप्पज्जति, न तिट्ठति ।

—१।२२

१२. सीलगन्धसमो गन्धो कुतो नाम भविस्सति ।
यो समं अनुवाते च पटिवाते च वायति ।

—१।२४

१३. सग्गारोहणसोपानं अञ्ञं सीलसमं कुतो ?
द्वार वा पन निब्बान—नगरस्स पवेसने ॥

—१।२४

४—धम्मपद ६।६

५. वीर्य (शक्ति) ही क्लेशो को तपाने एव झुलसाने के कारण आताप कहा जाता है ।

६. जो संसार मे भय देखता है—वह भिक्षु है ।

७. शील धर्म का आरंभ है, आदि है ।

८. जैसे ठोस चट्टानो वाला पहाड़ वायु से प्रकम्पित नही होता है, वैसे ही पंडित निन्दा और प्रशंसा से विचलित नही होते ।

९. शील से दुराचार के संक्लेश (बुराई) का विशोधन होता है ।
समाधि से तृष्णा के संक्लेश का विशोधन होता है ।
प्रज्ञा से दृष्टि के संक्लेश का विशोधन होता है ।

१०. शिरार्थ[1] (शिर के समान उत्तम होना) शील का अर्थ है । शीतलार्थ (शीतल—शांत होना) शील का अर्थ है ।

११. लज्जा और सकोच होने पर ही शील उत्पन्न होता है और ठहरता है । लज्जा और संकोच के न होने पर शील न उत्पन्न होता है, और न ठहरता है ।

१२. शील की गन्ध के समान दूसरी गंध कहाँ होगी ? जो पवन की अनुकूल और प्रतिकूल दिशाओ मे एक समान बहती है ।

१३. स्वर्गारोहण के लिए शील के समान दूसरा सोपान (सीढी) कहाँ है ? निर्वाणरूपी नगर मे प्रवेश करने के लिए भी शील के समान दूसरा द्वार कहाँ है ?

१—सिर के कट जाने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है—वैसे ही शील के टूट जाने पर मनुष्य का गुणरूप शरीर नष्ट हो जाता है । इसलिए शील शिरार्थ है ।

१४. सोभन्तेवं न राजानो मुत्तामणिविभूसिता।
यथा सोभंति यतिनो, सीलभूसनभूसिता॥

—१।२४

१५. सद्धाविरियसाधनं चारित्तं।

—१।२६

१६. विनयो संवरत्थाय, सवरो अविप्पटिसारत्थाय,
अविप्पटिसारो पामुज्जत्थाय।[१]

—१।३२

१७. नाभिजानामि इत्थी वा पुरिसो वा इतो गतो।
अपि च अट्ठिसंघाटो, गच्छतेस महापथे॥

—१।५५

१८. किकीव अण्डं चमरी व वालधिं,
पियं व पुत्तं नयनं व एककं।
तथेव सीलं अनुरक्खमानका,
सुपेसला होथ सदा सगारवा॥

—१।६८

१९. रूपेसु सद्देसु अथो रसेसु,
गन्धेसु फस्सेसु च रक्ख इन्द्रियं।
एतेहि द्वारा विवटा अरक्खिता,
हनन्ति गामं व परस्सहारिनो॥

—१।१०१

१— विनयपिटक, परिवार पालि १६८

१४. बहुमूल्य मुक्ता और मणियों से विभूषित राजा ऐसा सुशोभित नही होता है, जैसा कि शील के आभूषणो से विभूषित साधक सुशोभित होता है।

१५. श्रद्धा और वीर्य (शक्ति) का साधन (स्रोत) चारित्र है।

१६. विनय संवर (सदाचार) के लिए है, संवर पछतावा न करने के लिए है, पछतावा न करना प्रमोद के लिए है।

१७. मैं नही जानता कि स्त्री या पुरुष इधर से गया है। हाँ, इस महामार्ग मे एक हड्डियो का समूह अवश्य जा रहा है।[२]

१८. जैसे टिटहरी अपने अण्डे की, चमरी अपनी पूँछ की, माता अपने इकलौते प्रिय पुत्र की, काना अपनी अकेली आँखो की सावधानी के साथ रक्षा करता है, वैसे ही अपने शील की अविच्छिन्न रूप से रक्षा करते हुए उसके प्रति सदा गौरव की भावना रखनी चाहिए।

१९. रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्शो से इन्द्रियो की रक्षा करो। इन द्वारो के खुले और अरक्षित होने पर साधक दस्युओ द्वारा लुटे हुए गाँव की तरह नष्ट हो जाता है।

---

२. श्री लंका के अनुराधपुर में स्थविर महातिष्य भिक्षाटन के लिए घूम रहे थे। उसी रास्ते एक कुलवधू अपने पति से झगड़ा करके सजीधजी अपने मायके जा रही थी। स्थविर को देख कर वह कामासक्त तरुणी खूब जोरो से हँसी। स्थविर ने उसके दांत की हड्डियो को देखा, और उन पर विचार करते-करते ही वे अर्हत्व स्थिति को प्राप्त हो गए। पीछे से उसका पति पत्नी की खोज करता हुआ आया और स्थविर से पूछा—इधर से कोई स्त्री निकली ? महातिष्य स्थविर ने तब उपर्युक्त गाथा कही।

२०. मक्कटो व अरञ्ञम्हि वने भंतमिगो विय।
बालो विय च उत्रस्तो न भवे लोललोचनो॥

—१।१०८

२१. धनं चजे अंगवरस्स हेतु,
अंगं चजे जीवितं रक्खमानो।
अंगं धनं जीवितञ्चापि सव्व,
चजे नरो धम्ममनुस्सरन्तो॥

—१।१३३

२२. सुखं कुतो भिन्नसीलस्स ?

—१।१५८

२३. मधुरोपि पिण्डपातो हलाहलविसूपमो असीलस्स।

—१।१५८

२४ अत्तानुवादादिभयं सुद्धसीलस्स भिक्खुनो।
अंधकारं विय रविं हृदयं नावगाहति॥

—१।१५६

२५. यं लद्धं तेन संतुट्ठो यथासन्थतिको यति।
निब्बिकप्पो सुखं सेति तिणसन्थरणेसु पि॥

—२।७२

२६. कुसलचित्तेकग्गता समाधि।

—३।२

२७. सुखिनो चित्त समाधीयति।[६]

—३।४

२८. पियो गरू भावनीयो, वत्ता च वचनक्खमो।
गंभीरं च कथं कत्ता, नो चट्ठाने नियोजये॥

—३।६१

२९. यथा रागो अहितं न परिच्चजति,
एवं सद्धा हितं न परिच्चजति।

—३।७४

६—दीघ निकाय १।२।

२०. जंगल मे रहने वाले बन्दर की तरह, वन मे दौड़ने वाले चंचलमृग की तरह और मूर्ख मनुष्य की तरह, साधक को त्रस्त एव चचल नेत्रो वाला नही होना चाहिए।

२१. आवश्यक अंग को बचाने के लिए धन का त्याग करे, जिन्दगी की रक्षा के लिए अंग का भी त्याग कर दे। और धर्म का अनुसरण करते हुए (आवश्यकता पड़ने पर) धन, अंग और जीवन का भी त्याग करदे।

२२ जिसका शील (सदाचार) भग्न हो गया है उसे संसार में सुख कहाँ ?

२३. अशीलवान (असदाचारी भिक्षु) के लिए मीठा भिक्षान्न भी हलाहल विष के समान है।

२४. शुद्ध शील से संपन्न भिक्षु के हृदय मे अपनी निन्दा आदि का भय नही रहता जैसे कि सूर्य को अंधकार का भय नही रहता।

२५. जो प्राप्त हो उसी मे सतुष्ट रहने वाला यथासस्तरिक भिक्षु तृणो के बिछौने पर भी निर्विकल्प भाव से सुखपूर्वक सोता है।

२६. कुशल (पवित्र) चित्त की एकाग्रता ही समाधि है।

२७. सुखी का चित्त एकाग्र होता है।

२८. प्रिय, गौरवशाली, आदरणीय, प्रवक्ता, दूसरो की बात सहने वाला, गंभीर बातो को बतलाने वाला और अनुचित कामो मे नहीं लगाने वाला—कल्याण मित्र है।

२९. जैसे राग अहित (बुराई) करना नही छोड़ता, ऐसे ही श्रद्धा हित (भलाई) करना नही छोड़ती।

३०. निमित्तं रक्खतो लद्ध-परिहानि न विज्जति ।
आरक्खम्हि असंतम्हि, लद्धं लद्धं विनस्सति ॥

—४।३४

३१. समाहितं वा चित्तं थिरतरं होति ।

—४।३६

३२. कायदल्ही बहुलो पन तिरच्छान कथिको असप्पायो ।
सो हि तं, कद्दमोदकमिव अच्छं उदकं, मलिनमेव करोति ।

—४।३६

३३. बलवसद्धो हि मन्दपञ्ञो मुद्धप्पसन्नो होति,
अवत्थुस्मि प्रसीदति ।

—४।४७

३४. बलवपञ्ञो मन्दसद्धो केराटिकपक्खं भजति,
भेसज्जसमुट्ठितो विय रोगो अतेकिच्छो होति ।

—४।४७

३५. हित्वा हि सम्मा वायामं, विसेसं नाम मानवो ।
अधिगच्छे परित्तम्पि, ठानमेत्तं न विज्जति ॥

—४।६६

३६. अच्चारद्धं निसेधेत्वा, सममेव पवत्तये ।

—४।६६

३७. खुद्दिका पीति सरीरे लोमहंसमेव कातुं सक्कोति ।
खणिका पीति खणे खणे विज्जुप्पादसदिसा होति ॥

—४।६४

३८. यत्थ पीति, तत्थ सुखं ।
यत्थ सुखं, तत्थ न नियमतो पीति ।

—४।१००

३९. मतसरीरं उट्ठहित्वा अनुबन्धनकं नाम नत्थि ।

—६।७२

३०. प्राप्त निमित्त को अप्रमत्त भाव से सुरक्षित रखने वाले की परिहानि नही होती, किन्तु अरक्षित होने पर प्राप्त निमित्त कैसा ही क्यो न अच्छा हो, नष्ट हो जाता है ।

३१. समाहित (एकाग्र हुआ) चित्त ही पूर्ण स्थिरता को प्राप्त होता है ।

३२. निरन्तर अपने शरीर को पोसने मे ही संलग्न व्यर्थ की बातें बनाने वाला व्यक्ति सम्पर्क के अयोग्य है । जैसे कीचड़ वाला पानी स्वच्छ पानी को गंदला करता है, ऐसे ही वह अयोग्य व्यक्ति भी साधक के स्वच्छ जीवन को मलिन बनाता है ।

३३. बलवान श्रद्धावाला, किन्तु मन्द प्रज्ञावाला व्यक्ति बिना सोचेसमझे हर कही विश्वास कर लेता है, अवस्तु (अयोग्य वस्तु एवं व्यक्ति) मे भी सहसा प्रसन्न (अनुरक्त) हो जाता है ।

३४. बलवान् प्रज्ञावाला, किन्तु मन्द श्रद्धावाला व्यक्ति कपटी हो जाता है । वह औषधि मे ही उत्पन्न होने वाले रोग के समान असाध्य (लाइलाज) होता है ।

३५. यथोचित सम्यक् प्रयत्न के बिना मनुष्य थोड़ी-सी भी उन्नति (प्रगति) कर ले; यह कथमपि संभव नही है ।

३६. साधना के क्षेत्र मे एकदम वीर्य (शक्ति) के अत्यधिक प्रयोग को रोक कर साधक को देश, काल, एवं परिस्थिति के अनुकूल सम प्रवृत्ति ही करनी चाहिए ।

३७. क्षुद्रिका प्रीति शरीर मे केवल हलका-सा लोमहर्षण (रोमाच) ही कर सकती है ।

क्षणिका प्रीति क्षण क्षण पर विद्युत्पात (बिजली चमकने) के समान होती है ।

३८. जहां प्रीति है, वहां सुख है । जहां सुख है, वहां नियमतः प्रीति नहीं भी होती है ।

३९. मृत शरीर उठकर कभी पीड़ा नहीं करता ।

४०. स चे इमस्स कायस्स, अन्तो बाहिरको सिया ।
दण्डं नूनं गहेत्वान, काके सोणे निवारये ॥

—६।१३

४१. आरकत्ता हतत्ता च, किलेसारीन सो मुनि ।
हतसंसारचक्कारो, पच्चयादीन चारहो ।
न रहो करोति पापानि, अरहं तेन पवुच्चति ॥

—७।२५

४२. भग्गरागो भग्गदोसो, भग्गमोहो अनासवो ।
भग्गास्स पापका धम्मा, भगवा तेन वुच्चति ॥

७।५६

४३. सब्बं योब्बन जरापरियोसानं,
सब्बं जीवितं मरणपरियोसानं ।

—८।१५

४४. खंत्या भिय्यो न विज्जति ।[७]

—६।२

४५. खन्ती परमं तपो तितिक्खा ।[८]

—६।२

४६. वेरिमनुस्सरतो कोधो उप्पज्जति ।

—६।५

४७. कुद्धं अप्पटिकुज्झंतो सङ्गामं जेति दुज्जयं ।

—६।१५

४८. उभिन्नमत्थं चरति, अत्तनो च परस्स च ।
परं संकुपितं ञत्वा, यो सतो उपसम्मति ॥[९]

—६।१५

७—संयुत्तनिकाय १।२२२ । ८—धम्मपद १४।६ । ६—संयुत्तनिकाय १।८ ।

४०. यदि इस शरीर के अन्दर का भाग बाहर मे हो जाए तो अवश्य ही डंडा लेकर कौवो और कुत्तो को रोकना पडे।

४१. जो सब क्लेशो से आर (दूर) हो गया है, जिसने क्लेशरूपी वैरियो को हनन (नष्ट) कर डाला है, जिसने संसारचक्र के आरों को हत (नष्ट) कर दिया है, जो प्रत्यय (पूजा) आदि के अर्ह (योग्य) है, जो अ+रह (छिपे हुए) पाप नही करता है, इसलिए वह अरह (अर्हत) कहा जाता है।

४२. जिसका राग भग्न है, द्वेष भग्न है, मोह भग्न है, किं बहुना, जिसके सभी पापधर्म भग्न होगए है, इसलिए वह भगवान् कहा जाता है।

४३. सारी जवानी बुढ़ापे के आने तक है।
सारा जीवन मृत्यु के आने तक है।

४४. क्षमा से बढकर अन्य कुछ नही है।

४५. क्षमा, तितिक्षा (सहनशीलता) परम तप है।

४६. वैरी (शत्रु) का अनुस्मरण करने से क्रोध उत्पन्न होता है।

४७. क्रोधी के प्रति क्रोध नही करने वाला दुर्जय संग्राम को भी जीत लेता है।

४८. दूसरे को कुपित जानकर भी जो स्मृतिमान शान्त रहता है, वह अपना और दूसरे का—दोनो का भला करता है।

४९ कोधन्धा अहितं मग्गं, आरुल्हा यदि वेरिनो।
कस्मा तुवम्पि कुज्झन्तो, तेसं येवानुसिक्खसि॥

—९।२२

५०. यानि रक्खसि सीलानि, तेसं मूलनिकन्तनं।
कोधं नामुपलालेसि, को तया सदिसो जलो॥

—९।२२

५१ आसिसेथेव पुरिसो, न निब्बिन्देय्य पण्डितो।
पस्सामि वोहमत्तानं, यथा इच्छि तथा अहुं॥

—९।२७

५२. अत्तनो सन्तकं परस्स दातब्बं,
परस्स सन्तकं अत्तना गहेतब्बं।

—९।३९

५३. अदन्तदमनं दानं, दान सब्बत्थसाधकं।
दानेन पियवाचाय, उण्णमन्ति नमन्ति वा॥

—९।३९

५४. उरे आमुत्तमुत्ताहारो विय, सीसे पिलन्धमाला विय च
मनुस्सानं पियो होति मनापो।

—९।६३

५५. मेत्ताविहारिनो खिप्पमेव चित्तं समाधीयति।

—९।७३

५६. पठमं वेरिपुग्गलो करुणायितब्बो।

—९।८२

५७. परदुक्खे सति साधूनं हृदयकम्पनं करोती ति करुणा।
किणाति वा परदुक्खं, हिंसति विनासेती ति करुणा।

—९।९२

५८. अन्नं पानं खादनीयं, भोजनञ्च महारहं।
एकद्वारेन पविसित्वा, नवहि द्वारेहि सन्दति॥

—११।२३

४९. क्रोध से अन्धे हुए व्यक्ति यदि बुराई की राह पर चल रहे है, तो तू भी क्रोध कर के क्यो उन्हीं का अनुसरण कर रहा है ?

५०. तू जिन शीलो (सदाचारप्रधान व्रतो) का पालन कर रहा है, उन्हीं की जड़ को काटने वाले क्रोध को दुलराता है, तेरे जैसा दूसरा जड कौन है ?

५१. बुद्धिमान् पुरुष को सदैव आशावान् प्रसन्न रहना चाहिए, उदास नही। मैं अपने को ही देखता हूँ कि मैने जैसा चाहा, वैसा ही हुआ।

५२. समय पर अपनी वस्तु दूसरे को देनी चाहिए, और दूसरे की वस्तु स्वयं लेनी चाहिए।

५३ दान अदान्त (दमन नही किये गए व्यक्ति) का दमन करने वाला है, दान सर्वार्थ का साधक है, दान और प्रिय वचन से दायक ऊँचे होते है, और प्रतिग्राहक झुकते है।

५४ मैत्री भावना वाला व्यक्ति वक्ष पर बिखरे हुए मुक्ताहार के समान और सिर पर गूँथी हुई माला के समान मनुष्यो का प्रिय एवं मनोहारी होता है।

५५ मैत्री के साथ विहरने वाले का चित्त शीघ्र ही समाधिस्थ होता है।

५६. सर्वप्रथम अपने विरोधी शत्रु पर ही करुणा करनी चाहिए।

५७ दूसरे को दुःख होने पर सज्जनो के हृदय को कँपा देती है, इसलिए करुणा, करुणा कही जाती है।
दूसरे के दुःख को खरीद लेती है, अथवा नष्ट कर देती है, इसलिए भी करुणा करुणा है।

५८ अन्न, पान (पेय), स्वादनीय और भी बहुत सा सुन्दर भोजन मनुष्य के शरीर मे एक द्वार से प्रवेश करता है और नव द्वारो से निकल जाता है।

५९. अन्नं पानं खादनीयं, भोजनञ्च महारहं।
भुञ्जति अभिनन्दन्तो, निक्खामेन्तो जिगुच्छति॥

—११।२३

६०. अन्नं पानं खादनीयं, भोजनञ्च महारहं।
एकरत्ति परिवासा, सब्बं भवति पूतकं॥

—११।२३

६१. रागो रजो न च पन रेणु वुच्चति,
रागस्सेतं अधिवचनं रजो ति।
दोसो रजो न च पन रेणु वुच्चति,
दोसस्सेनं अधिवचनं रजो ति॥

—१२।६३

६२. वीरभावो विरियं। तं उस्साहनलक्खणं।

—१४।१३७

६३. सम्मा आरद्धं सब्बासंपत्तीनं मूलं होति।

—१४।१३७

६४. अत्तानं हि गरुं कत्वा हिरिया पापं जहाति कुलवधू विय।

—१४।१४२

६५. सद्धम्मतेजविहतं विलयं खणेन,
वेनेय्यसत्तहदयेसु तमो पयाति।

—१५।३३

६६. अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खं,
पियेहि विप्पयोगो दुक्खं।[10]

—१६।३१

६७. यथा पि मूले अनुपद्दवे दल्हे,
छिन्नो पि रुक्खो पुनरेव रूहति।
एवम्पि तण्हानुसये अनूहते,
निब्बत्तति दुक्खमिदं पुनप्पुनं॥[11]

—१६।६२

१०—संयुक्त निकाय ५४।२।१
११—धम्मपद २४।५

५९. अन्न, पान, खादनीय और भी बहुत से सुन्दर भोजन को मनुष्य अभिनन्द करता हुआ अर्थात् सराहता हुआ खाता है, किन्तु निकालते हुए घृणा करता है।

६०. अन्न, पान, खादनीय और भी बहुत सा सुन्दर भोजन एकरात्रि के परिवास मे (वासी होते) ही सब सड़ जाता है।

६१. राग ही रज (धूल) है, रेणु (धूल) रज नही है। 'रज' यह राग का ही नाम है।
द्वेष ही रज है, रेणु रज नही है। 'रज' यह द्वेष का ही नाम है।

६२. वीरभाव ही वीर्य है। उसका लक्षण है–उत्साहित होना।

६३. सम्यक् प्रकार (अच्छी तरह) से आरंभ किया गया कर्म ही सब सम्पत्तियो का मूल है।

६४. साधक अपने आप को गौरवान्वित करके कुलवधू के समान लज्जा से पाप को छोड देता है।

६५. सदाचारी सत्व के हृदय का अन्धकार सद्धर्म के तेज से क्षण भर मे ही विलय को प्राप्त हो जाता है।

६६. अप्रिय से सयोग होना दुःख है। प्रिय से वियोग होना दुःख है।

६७. जैसे सुदृढ मूल (जड) के बिल्कुल नष्ट हुए बिना कटा हुआ वृक्ष फिर भी उग आता है, वैसे ही तृष्णा एवं अनुशय (मल) के समूल नष्ट हुए बिना यह दुःख भी बार-बार उत्पन्न होता रहता है।

६८ सीहसमानवुत्तिनो हि तथागता, ते दुक्खं निरोधेन्ता दुक्ख निरोधञ्च देसेन्ता हेतुम्हि पटिपज्जन्ति, न फले। सुवानवुत्तिनो पन तित्थिया, ते दुक्खं निरोधेन्ता दुक्ख-निरोधञ्च देसेन्ता, अत्तकिलमथानुयोगदेसनादीहि फले पटिपज्जन्ति, न हेतुम्हि।

—१६।६

६९. विरागा विमुच्चति।[12]

—१६।६

७०. यथापि नाम जच्चंधो नरो अपरिनायको।
एकदा याति मग्गेन कुमग्गेनापि एकदा॥
संसारे संसरं बालो, तथा अपरिनायको।
करोति एकदा पुञ्ञं अपुञ्ञमपि एकदा॥

—१७।११६

७१ दुक्खी सुखं पत्थयति, सुखी भिय्योपि इच्छति।
उपेक्खा पन सन्तत्ता, सुखमिच्चेव भासिता॥

—१७।२३८

७२. उभो निस्साय गच्छन्ति, मनुस्सा नावा च अण्णवे।
एवं नामञ्च रूपञ्च, उभो अञ्ञोञ्ञनिस्सिता॥

—१८।१६

१२—मज्झिमनिकाय ३।२०।

६८. तथागत (प्रबुद्ध ज्ञानी) सिंह के समान स्वभाव वाले होते है। वे स्वयं दुःख का निरोध करते हुए तथा दूसरो को दुःखनिरोध का उपदेश देते हुए हेतु मे केन्द्रित रहते है, फल मे नही। परंतु अन्य साधारण मताग्रही जन कुत्ते के समान स्वभाव वाले होते है, वे स्वयं दुःख का निरोध करते हुए तथा दूसरो को दुःखनिरोध का उपदेश देते हुए अत्तकिलमथानुयोग (नाना प्रकार के देहदंड रूप बाह्यतप के उपदेश आदि) से फल में ही केन्द्रित रहते है, हेतु मे नही।[3]

६९. विराग से ही मुक्ति मिलती है।

७०. जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति हाथ पकड़कर ले चलने वाले साथी के अभाव मे कभी मार्ग से जाता है तो कभी कुमार्ग से भी चल पड़ता है। उसी प्रकार संसार मे परिभ्रमण करता हुआ बाल (अज्ञानी) पथप्रदर्शक सद्गुरु के अभाव मे कभी पुण्य का काम करता है तो कभी पाप का काम भी कर लेता है।

७१. दुःखी सुख की इच्छा करता है, सुखी और अधिक सुख चाहता रहता है। किंतु दुःख सुख मे उपेक्षा (तटस्थ) भाव रखना ही वस्तुतः सुख है।

७२. जिस प्रकार मनुष्य और नौका—दोनों एक दूसरे के सहारे समुद्र मे गति करते है, उसी प्रकार संसार मे नाम और रूप दोनों अन्योन्याश्रित है।

सूक्ति कण*

1. एकं नाम किं ? सब्बे सत्ता आहारट्ठितिका।

—खुद्दक पाठ, ४

2. द्वे नाम किं ? नामं च रूपं च।

—४

3. असेवना बालानं, पंडितानं च सेवना।
   पूजा च पूजनीयानं, एतं मंगलमुत्तमं॥

—५।२

4. बाहुसच्चं च सिप्पं च, विनयो च सुसिक्खितो।
   सुभासिता च या वाचा, एतं मंगलमुत्तमं॥

—५।४

5. दानं च धम्मचरिया च, ञातकानाँ च संगहो।
   अनवज्जानि कम्मानि, एतं मंगलमुत्तमं॥

—५।६

6. सब्बे व भूता सुमना भवन्तु।

—६।१

---

* सूक्तिकण में उद्धृत सभी ग्रन्थ भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित नालन्दा संस्करण के हैं।

सूक्ति कण

●

१. एक बात क्या है ? सभी प्राणी आहार पर स्थित है ।'

२. दो बात क्या हैं ? नाम और रूप ।

३. मूर्खों से दूर रहना, पंडितों का सत्संग करना, पूज्यजनों का सत्कार करना—यह उत्तम मंगल है ।

४. बहुश्रुत होना, शिल्प सीखना, विनयी=शिष्ट होना, सुशिक्षित होना और सुभाषित वाणी बोलना—यह उत्तम मंगल है ।

५. दान देना, धर्माचरण करना, बन्धु-बान्धवों का आदर सत्कार करना और निर्दोष कर्म करना—यह उत्तम मंगल है ।

६. विश्व के सभी प्राणी सुखी हों, प्रसन्न हों ।

७. चेतोपणिधिहेतु हि, सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं ।

—विमानवत्थु १।४७।८०

८. नत्थि चित्ते पसन्नम्हि, अप्पका नाम दक्खिणा ।

—१।४८।८०

९. यहिं यहिं गच्छति पुञ्ञकम्मो,
तहिं तहिं मोदति कामकामी ।

—२।३४।४००

१०. सञ्जानमानो न मुसा भणेय्य,
परूपघाताय न चेतयेय्य ।

—२।३४।४११

११. सुखो हवे सप्पुरिसेन संगमो ।

—२।३४।४१५

१२. उन्नमे उदकं वुट्ठं, यथा निन्नं पवत्तति,
एवमेव इतो दिन्नं, पेतानं उपकप्पति ।

—पेतवत्थु १।५।२०

१३. न हि अन्नेन पानेन, मतो गोणो समुट्ठहे ।

—१।८।४७

१४. अदानसीला न च सद्दहन्ति,
दानफलं होति परम्हि लोके ।

—१।२०।२४८

१५. मित्तदुब्भोहि पापको ।

—१।२१।२५६

१६. यस्स रुक्खस्स छायाय, निसीदेय्य सयेय्य वा ।
समूलं पि तं अब्बुहे, अत्थो चे तादिसो सिया ॥

—१।२१।२६२

१७ कतञ्ञुता सप्पुरिसेहि वण्णिता ।

—१।२१।२६३

७. मन की एकाग्रता एवं समाधि से ही प्राणी सद्गति प्राप्त करते हैं।

८. प्रसन्न चित्त से दिया गया अल्पदान भी, अल्प नहीं होता है।

९. पुण्यशाली आत्मा जहां कहीं भी जाता है, सर्वत्र सफलता एवं सुख प्राप्त करता है।

१०. जान-बूझ कर झूठ नहीं बोलना चाहिए और दूसरों की बुराई (विनाश) का विचार नहीं करना चाहिए।

११. सज्जन की संगति सुखकर होती है।

१२. ऊँचाई पर वर्षा हुआ जल जिस प्रकार बहकर अपने आप निचाई की ओर आ जाता है, उसी प्रकार इस जन्म में दिया हुआ दान अगले जन्म में फलदायी होता है।

१३. ढेर सारे अन्न और जल से भी, मरा हुआ बैल खड़ा नहीं हो सकता।

१४. जो अदानशील (दान देने से कतराते) हैं, वे—'परलोक में दान का फल मिलता है'—इस बात पर विश्वास नहीं करते।

१५. मित्रद्रोह करना, पाप (बुरा) है।

१६. [illegible] कहता है—कि जिस वृक्ष की छाया में बैठे या सोए, यदि कोई महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध होता हो, तो उसको भी [illegible] से [illegible] देना चाहिए।

१८. सुखं अकतपुञ्ञानं, इध नत्थि परत्थ च।
सुखं च कतपुञ्ञानं, इध चेव परत्थ च॥

—१।२७।४०६

१९. यथा गेहतो निक्खम्म, अञ्ञं गेहं पविसति।
एवमेव च सो जीवो, अञ्ञं बोन्दि पविसति॥

—१।३८।६८८

२०. सत्तिसूलूपमा कामा।

—थेरीगाथा ६।३।१४१

२१. निब्बानसुखा परं नत्थि।

—१६।१।४७८

२२. अतित्ता व मरन्ति नरा।

—१६।१।४८६

२३. अघमूलं भयं वधो।

—१६।१।४९३

२४. दीघो बालानं संसारो, पुनप्पुनं च रोदतं।

—१६।१।४९७

२५. अद्दसं काम ते मूलं, संकप्पा काम जायसि।
न तं संकप्पयिस्सामि, एव काम न होहिसि॥

—महानिद्देसपालि—१।१।१

२६. अत्तना व कतं पापं, अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तना व विसुज्झति॥[1]

—१।२।८

२७. द्वे ममत्ता—तण्हाममत्तं च दिट्ठिममत्तं च।

—१।२।१२

२८. यदत्तगरही तदकुब्बमानो,
न लिम्पती दिट्ठसुतेसु धीरो।

—१।२।१३

१—धम्मपद १२।९।

१८. पुण्य नही करने वालो के लिए न यहाँ (इस लोक मे) सुख है, न वहाँ (परलोक में)। पुण्य करने वालो के लिए यहाँ वहाँ दोनो जगह सुख है।

१९. जिस प्रकार व्यक्ति एक घर को छोड़कर दूसरे घर मे प्रवेश करता है, उसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर मे प्रवेश करता है।

२०. संसार के काम भोग शक्ति (घातक वाण) और शूल (भाला) के समान हैं।

२१. निर्वाण के आनन्द से बढ़कर कोई अन्य आनन्द नही है।

२२. अधिकतर मनुष्य अतृप्त अवस्था मे ही काल के गाल मे पहुँच जाते है।

२३. भय और वध (हिंसा) पाप का मूल है।

२४. अज्ञानियो का संसार लम्बा होता है, उन्हे बार-बार रोना पडता है।

२५. हे काम! मैंने तेरा मूल देख लिया है, तू संकल्प से पैदा होता है। मैं तेरा संकल्प ही नही करूँगा, फिर तू कैसे उत्पन्न होगा?

२६. अपने द्वारा किया गया पाप अपने को ही मलिन करता है। अपने द्वारा न किया गया पाप अपने को विशुद्ध रखता है।

२७. दो ममत्व हैं—तृष्णा का ममत्व और दृष्टि का ममत्व।

२८. जो अपनी भूलो पर पश्चात्ताप करके उन्हे फिर दुबारा नहीं करता है, वह धीर पुरुष इह तथा अन्य किसी भी दिव्यलोक मे खिन्न नहीं होता।

२९ यो मुनाति उभे लोके, मुनि तेन पवुच्चति ।

—१।२।१४

३०. मोनं वुच्चति ञाणं ।

—१।२।१४

३१. भग्गरागो ति भगवा, भग्गदोसो ति भगवा ।

—१।१०।८३

३२. अक्कोधनो असन्तासी, अविकत्थी अकुक्कुचो ।
मन्तभाणी अनुद्धतो, स वे वाचायतो मुनि ॥

—१।१०।८५

३३. इच्छानिदानानि परिग्गहानि ।

—१।११।१०७

३४. सब्बेव बाला सुनिहीनपञ्ञा ।

—१।१२।११५

३५. सकं सकं दिट्ठिमकंसु सच्च,
तस्माहि बालो ति परं दहन्ति ।

—१।१२।११७

३६. न हेव सच्चानि बहूनि नाना ।

—१।१२।१२१

३७. न ब्राह्मणस्स परनेय्यमत्थि ।

—१।१३।१४२

३८. कामं बहुं पस्सतु अप्पकं वा,
न हि तेन सुद्धिं कुसला वदन्ति ।

—१।१३।१४४

३९. अविज्जाय निवुतो लोको ।

—चुल्लनिद्देस पालि २।१।२

४०. कोधो वुच्चति धूमो ।

—२।३।१३

२९. जो लोक परलोक—दोनो लोकों के स्वरूप को जानता है, वही मुनि कहलाता है।

३०. वस्तुतः ज्ञान ही मौन है।

३१. जिसका राग द्वेष भग्न (नष्ट) हो गया है, वह भगवान है।

३२. जो क्रोधी नही है, किसी को त्रास नही देता है, अपनी बड़ाई नही हांकता है, चंचलतारहित है, विचारपूर्वक बोलता है, उद्धत नही है,— वही वाचायत (वाक्संयमी) मुनि है।

३३. परिग्रह का मूल इच्छा है।

३४. सभी बाल जीव प्रज्ञाहीन होते है।

३५. सभी मतवादी अपनी अपनी दृष्टि को सत्य मानते है, इसलिए वे अपने सिवाय दूसरो को अज्ञानी के रूप मे देखते हैं।

३६. न सत्य अनेक हैं, न नाना (एक दूसरे से पृथक्) है।

३७. ब्राह्मण (ज्ञानी) परनेय नही होते—अर्थात् वे दूसरो के द्वारा नही चलाए जाते, वे स्वयं अपना पथ निश्चित करते हैं।

३८. संसार के नाम रूपो को भले ही कोई थोड़ा जाने या अधिक, ज्ञानियों ने आत्मशुद्धि के लिए इसका कोई महत्व नही माना है।

३९. संसार अविद्या से पैदा होता है।

४०. मोह मन का मूर्छा है।

४१. उपधिनिदाना पभवंति दुक्खा।

—२।४।१६

४२. यो वे अविद्वा उपधिं करोति।

—२।४।२०

४३. नत्थञ्ञो कोचि मोचेता।

—२।५।३३

४४. यस्मि कामा न वसन्ति, तण्हा यस्स न विज्जति।
कथंकथा च यो तिण्णो, विमोक्खो तस्स नापरो॥

—२।६।५८

४५. अकिञ्चनं अनादानं, एतं दीपं अनापरं।

—२।१०।६३

४६. अमतं निब्बानं।

—२।१०।६३

४७. संसग्गजातस्स भवन्ति स्नेहा,
स्नेहन्वयं दुक्खमिदं पहोति।

—३।२

४८. एको धम्मो पहातब्बो—अस्मिमानो।

—पटिसम्भिदामग्गो १।१।१।६६

४९. द्वे धम्मा पहात्तब्बा—अविज्जा च भवतण्हा च।

—१।१।१।६६

५०. एको समाधि—चित्तस्स एकग्गता।

—१।१।३।१०६

५१. सद्धाबलं धम्मो....
पञ्ञाबलं धम्मो।

—१।१।२५-२८।२०७

५२. अतीतानुधावनं चित्तं विक्खेपानुपतितं समाधिस्स परिपन्थो।
अनागतपटिकखनं चित्तं विकम्पितं समाधिस्स परिपन्थो॥

—१।३।२।८

४१. दुःखों का मूल उपाधि है।

४२. जो मूर्ख है वही उपाधि करता है।

४३. दूसरा कोई किसी को मुक्त नही कर सकता।

४४. जिसमे न कोई काम है और न कोई तृष्णा है, और जो कथंकथा (विचिकित्सा) से पार हो गया है, उसके लिए दूसरा और कोई मोक्ष नही है, अर्थात् वह मुक्त है।

४५. रागादि की आसक्ति और तृष्णा से रहित स्थिति से बढ़कर और कोई शरणदाता द्वीप नही है।

४६. निर्वाण अमृत है।

४७. संसर्ग से स्नेह (राग) होता है, और स्नेह से दुःख होता है।

४८. एक धर्म (बात) छोड़ना चाहिए—अहंकार।

४९. दो धर्म (बात) छोड़ देने चाहिएँ—अविद्या और भवतृष्णा।

५०. एक समाधि है—चित्त की एकाग्रता।

५१. श्रद्धा का बल धर्म है।
प्रज्ञा का बल धर्म है।

५२. अतीत की ओर दौड़ने वाला विक्षिप्त चित्त, समाधि का शत्रु है।
भविष्य की आकांक्षा से प्रकंपित चित्त, समाधि का शत्रु है।

५३. सब्बे सत्ता अवेरिनो होन्तु, मा वेरिनो।
सुखिनो होन्तु, मा दुक्खिनो ॥

—२।४।२।६

५४. कोसेज्जं भयतो दिस्वा, विरियारंभं च खेमतो।
आरद्धविरिया होथ, एसा बुद्धानुसासनी ॥

—चरियापिटक ७।३।१२

५५. विवादं भयतो दिस्वा, अविवादं च खेमतो।
समग्गा सखिला होथ, ऐसा बुद्धानुसासनी ॥

—७।३।१३

५६ न तं याचे यस्स पियं जिगिंसे,
विद्देसो होति अतियाचनाय।

—विनयपिटक, पाराजिक २।६।१११

५७. अत्थेनेव मे अत्थो, किं काहसि व्यञ्जनं बहुं।

—विनयपिटक, महावग्ग १।१७।६०

५८. अकम्मं न च करणीयं।

—६।४।१०

५९. सब्बदा वे सुखं सेति, ब्राह्मणो परिनिब्बुतो।
यो न लिम्पति कामेसु, सीतीभूतो निरूपधि ॥

—विनयपिटक, चुल्लवग्ग ६।२।१२

६०. द्वे पुग्गला बाला—यो च अनागतं भारं वहति,
यो च आगतं भारं न वहति।
द्वे पुग्गला पंडिता—यो च अनागतं भारं न वहति,
यो च आगतं भारं वहति।

—विनयपिटक, परिवारवग्ग ७।२।५

६१. द्वे पुग्गला बाला—यो च अधम्मे धम्मसञ्ञी,
यो च धम्मे अधम्मसञ्ञी।

—७।२।६

६२. अनुपुब्बेन मेधावी, थोकं थोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव, निद्धमे मलमत्तनो ॥

—अभिधम्मपिटक (कथावत्थु पालि) १।४।२३८

सभी प्राणी वैर से रहित हो, कोई वैर न रखे।
सभी प्राणी सुखी हो, कोई दुःख न पाए।

आलस्य को भय के रूप मे और उद्योग को क्षेम के रूप मे देखकर मनुष्य को सदैव उद्योगशील पुरुषार्थी होना चाहिए—यह बुद्धो का अनुशासन है।

विवाद को भय के रूप मे और अविवाद को क्षेम के रूप मे देखकर मनुष्य को सदैव समग्र (अखण्डित-संघटित) एवं प्रसन्नचित्त रहना चाहिए—यह बुद्धो का अनुशासन है।

जिन से प्रेम रखना हो, उससे याचना नही करनी चाहिए। बार-बार याचना करने मे प्रेम के स्थान पर विद्वेष उभर आता है।

मुझे सिर्फ अर्थ (भाव) से ही मतलब है। बहुत अधिक शब्दो से क्या करना है?

मनुष्य को कभी अकर्म (दुष्कर्म) नही करना चाहिए।

जो काम भोगो मे लिप्त नही होता, जिसकी आत्मा प्रशान्त (विद्वेषरहित) है, और जो सब उपाधियो से मुक्त है, ऐसा विरक्त ब्राह्मण (साधक) सदा सुखपूर्वक सोता है।

दो व्यक्ति अज्ञानी होते है—एक वह जो भविष्य की चिन्ता का भार ढोता है, और दूसरा वह जो वर्तमान के प्राप्त कर्तव्य की उपेक्षा करता है।

दो व्यक्ति विद्वान होते है—एक वह जो भविष्य की चिन्ता नही करता, और दूसरा वह जो वर्तमान के प्राप्त कर्तव्य की उपेक्षा नही करता।

दो व्यक्ति मूर्ख होते है—एक वह जो अधर्म मे धर्म बुद्धि रखता है, दूसरा वह जो धर्म मे अधर्म बुद्धि रखता है।

मेधावी साधक अपनी आत्मा के मल (दोष) को उसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा क्षण-क्षण मे साफ करता रहे, जिस प्रकार कि सुनार रजत (चांदी) [illegible] साफ करता है।

सूक्ति

त्रि वे णी

● वैदिक-धारा

●

●

ऋग्वेद की सूक्तियां

●

१. [1]अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्[2]।
होतारं[3] रत्नधातमम्[4]।

—१।१।१×

२. अग्निः पूर्वेभिऋर्षिभिरीड्यो नूतनैरुत।

—१।१।२

३. अग्निना रयिमश्नवत्[5] पोषमेव दिवे दिवे।

—१।१।३

४. देवो देवेभिरागमत्।

—१।१।५

× अङ्क क्रमशः मंडल, सूक्त और मंत्र के सूचक है।

१. अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति। २. ऋतौ यजतीति विग्रहे सति ऋत्विक्। ३. देवानामाह्वातारम्। ४. दधाति धातुरत्र दानार्थवाचीति। ५. रयि-धनमश्नवत्—प्राप्नोति।

नोट—ऋग्वेदान्तर्गत समस्त टिप्पण सायणाचार्यकृत भाष्य के हैं।

ऋग्वेद* की सूक्तियां

१. मैं अग्नि (अग्रणी तेजस्वी महापुरुष) की स्तुति करता हूँ, जो पुरोहित है—आगे बढ़कर सब का हित सम्पादन करता है, यज्ञ (सत्कर्म) का देवता है, ऋत्विज है—यथावसर योग्य कर्म का अनुष्ठान करता है, होता है—सहयोगी साथियों का आह्वान करता है, प्रजा को रत्नों (श्रेष्ठ वैभव) का दान करता है।

२. अग्नितत्त्व (तेजस्तत्त्व) की पुराने और नये सभी तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने प्रशंसा की है।

३. तेज से ही मनुष्य को ऐश्वर्य मिलता है, और वह दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है, कभी क्षीण नहीं होता।

४. देव देवों के साथ ही आता है। अर्थात् एक दिव्य सद्गुण अन्य अनेक सद्गुणों को साथ में लाता है।

---

* [illegible] श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा संपादित औंध से प्रकाशित (वि० सं० १९९६) संस्करण।

— [illegible] सायणभाष्यसहित, महामहोपाध्याय [illegible] द्वारा संपादित, [illegible] प्रेस [illegible] से प्रकाशित ([illegible])।

५. पावका नः सरस्वती ।

—१।३।१०

६. चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।

—१।३।११

७. अग्निनाग्निः समिध्यते ।

—१।१२।६

८. मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः[1] प्रणङ् मर्त्यस्य ।

—१।१८।३

९. स घा वीरो न रिष्यति[2] ।

—१।१८।४

१०. अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् ।

—१।२३।१९[3]

११. परा हि मे विमन्यवः[4] पतन्ति वस्य इष्टये[5] ।
वयो न वसतीरुप ।

—१।२५।४

१२. उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत[6] ।
अवाधमानि जीवसे ।

—१।२५।२१

१३. मिथः सन्तु प्रशस्तयः ।

—१।२६।९

१४. नमो महद्भ्यो[7] नमो अर्भकेभ्यो[8],
नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः[9] ।

—१।२७।१३

---

१. उपद्रवं कर्तुमस्मत्समीपं प्राप्तस्य मनुष्यस्य धूर्तिः-हिंसकः शं-शंसनमधिक्षेपनम् । २. विनश्यति । ३. यजुर्वेद ६।६, । ४. [illegible] बुद्धयः । ५. वसुमतो जीवनस्य प्राप्तये । ६. विचृत-वियुज्य नाशय ।

५. सरस्वती (ज्ञान-शक्ति) हम सब को पवित्र करने वाली है।

६. सरस्वती (ज्ञानशक्ति) सत्य को प्रेरित एवं उद्घाटित करती है, और सद्बुद्धि वाले पुरुषों को यथावसर योग्य कर्मों की चेतना देती है।

७. अग्नि (मनुष्य की तेजः शक्ति) अग्नि (संघर्ष) से ही प्रज्ज्वलित होती है।

८. ऊधम मचाने वाले दुर्जनों की डाहभरी निन्दा हमें कभी न छू सके।

९. वीर पुरुष कभी नष्ट नहीं होता।

१०. जल के भीतर अमृत है, औषधि है।

११. जिस तरह चिड़ियाँ अपने घोंसले की ओर दौड़ती है, उसी तरह हमारी क्रोधरहित प्रशान्त बुद्धियाँ समृद्ध जीवन की प्राप्ति के लिए दौड़ रही है।

१२. हमारे ऊपर का, बीच का और नीचे का पाश खोल दो, नष्ट कर दो, ताकि हम संसार में सुख से जीवित रह सकें।

१३ (कर्मानुष्ठान के पश्चात्) हम सब साथी परस्पर एक दूसरे के प्रशंसक हों।

१४. हम बड़े (गुणों से महान्), छोटे (गुणों से न्यून), युवा, और वृद्ध— सभी गुणीजनों को नमस्कार करते हैं।

५. पावका नः सरस्वती ।

—१।३।१०

६. चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।

—१।३।११

७. अग्निनाग्निः समिध्यते ।

—१।१२।६

८. मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः[1] प्रणङ् मर्त्यस्य ।

—१।१८।३

९. स घा वीरो न रिष्यति[2] ।

—१।१८।४

१०. अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् ।

—१।२३।१९[3]

११. परा हि मे विमन्यवः[4] पतन्ति वस्य इष्टये[5] ।
वयो न वसतीरुप ।

—१।२५।४

१२. उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत[6] ।
अवाधमानि जीवसे ।

—१।२५।२१

१३. मिथः सन्तु प्रशस्तयः ।

—१।२६।९

१४. नमो महद्भ्यो[7] नमो अर्भकेभ्यो[8],
नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः[9] ।

—१।२७।१३

---

१. उपद्रवं कर्तुमस्मत्समीपं प्राप्तस्य शत्रुरूपस्य धूर्ति:-हिंसक दुः-शंसनमधिक्षेपनम् । २. विनश्यति । ३. यजुर्वेद ९।६, । ४ क्रोधरहित बुद्धयः । ५. वसुमतो जीवनस्य प्राप्तये । ६. विचृत-विमुञ्च नश्य ।

५. सरस्वती (ज्ञान-शक्ति) हम सब को पवित्र करने वाली है।

६. सरस्वती (ज्ञानशक्ति) सत्य को प्रेरित एवं उद्घाटित करती है, और सद्बुद्धि वाले पुरुषो को यथावसर योग्य कर्मो की चेतना देती है।

७. अग्नि (मनुष्य की तेजः शक्ति) अग्नि (संघर्ष) से ही प्रज्ज्वलित होती है।

८. ऊधम मचाने वाले दुर्जनो की डाहभरी निन्दा हमें कभी न छू सके।

९. वीर पुरुष कभी नष्ट नही होता।

१०. जल के भीतर अमृत है, औषधि है।

११. जिस तरह चिड़ियाँ अपने घोसले की ओर दौड़ती है, उसी तरह हमारी क्रोधरहित प्रशान्त बुद्धियाँ समृद्ध जीवन की प्राप्ति के लिए दौड़ रही है।

१२. हमारे ऊपर का, बीच का और नीचे का पाश खोल दो, नष्ट कर दो, ताकि हम संसार मे सुख से जीवित रह सके।

१३. (कर्मानुष्ठान के पश्चात्) हम सब साथी परस्पर एक दूसरे के प्रशंसक हो।

१४. हम बड़े (गुणों से महान्), छोटे (गुणों से न्यून), युवा, और वृद्ध—सभी गुणीजनो को नमस्कार करते है।

---

७. महान्तो-गुणैरधिकाः। ८. अर्भका-गुणैर्न्यूनाः। ९. आशिना-वयसा व्याप्ता वृद्धाः।

१५. मा ज्यायसः शंसमा वृक्षि[1] देवाः ।

—१।२७।१३

१६. ससन्तु[2] त्या अरातयो,[3] बोधन्तु शूर रातयः ।

—१।२९।४

१७. सर्वं परिक्रोशं जहि ।

—१।२९।७

१८. विभूतिरस्तु सूनृता[4] ।

—१।३०।५

१९. ऊर्ध्वो[5] वाजस्य सनिता[6] ।

—१।३६।१३

२०. कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय[7] जीवसे ।

—१।३६।१४

२१. असि हि वीर सेन्योऽसि[8] भूरि पराददिः ।

—१।८१।२

२२. असि दभ्रस्यचिद् वृधः ।

—१।८१।२

२३. आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः ।

—१।८९।१

२४. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा,
भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः ।

—१।८९।८

२५. देवानां भद्रा सुमतिः ।

—१।८९।२

---

१. अहं विच्छिन्न माकार्षम् । २. ससन्तु-निद्रां कुर्वन्तु । ३. अदानशीला [illegible] शत्रवः । ४. सूनृता-प्रियसत्यरूपा । ५. ऊर्ध्व-उन्नतः सन् । ६. वाजस्य-[illegible]

१५. हे देवगण ! मै अपने से बड़े महान् पुरुषो का कभी आदर करना न छोड़ूँ ।

१६. हमारे अदानशील विरोधी शत्रु सोए रहें और दानशील मित्र जागते रहें, अर्थात् सहयोग देने मे सदा तत्पर रहे ।

१७. सब प्रकार के मात्सर्य का त्यागकर ।

१८. विभूति (लक्ष्मी) प्रिय एवं सत्यरूप अर्थात् समीचीन होनी चाहिए ।

१९. ऊँचे उठकर अर्थात् समृद्ध होकर अपने आश्रितों के अन्नदाता बनो ।

२०. हमे उन्नत करो, ताकि हम संसार में सम्मान के साथ विचरण कर सकें, जीवित रह सके ।

२१ हे वीर ! तू एकाकी होने पर भी समूची सेना के बराबर है, शत्रुओ को पराजित करने के लिए उनके विपुल ऐश्वर्य पर अधिकार करने वाला है ।

२२. तू क्षुद्र को महान् बनाने वाला है, अल्प को बहुत बढ़ाने वाला है ।

२३. हमें कल्याणकारी कर्म सब ओर से प्राप्त होते रहे ।

२४. दानादि सत्कर्म करने वाले देवताओ ! हम कानों से सदा कल्याणकारी मंगल वचन सुनते रहे, हम आँखो से सदा कल्याणकारी शोभन दृश्य ही देखते रहें ।

२५. हमे दिव्य आत्माओ जैसी कल्याणकारी सद्बुद्धि प्राप्त हो ।

सनिता—दाता । ७. लोके चरणाय । ८. त्वमेकोऽपि सेनासदृशो भवसि ।
९. यजुर्वेद २५।२१ सामवेद २१।१।९।२ ।

२६. देवानां सख्यमुपसेदिमा[1]।

—१।८६।२

२७. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्,
अदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना,
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

—१।८९।१०

२८. अप्रमूरा[2] महोभि[3]: व्रता[4] रक्षन्ते विश्वाहा[5]।

—१।९०।२

२९. मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वी नंः सन्त्वोषधीः।

—१।९०।६[6]

३०. मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः,
मधु द्यौरस्तु नः पिता।

—१।९०।७[7]

३१. मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः।

—१।९०।८[8]

३२. त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम्।

—१।९७।६

३३. क्षुध्यद्भ्यो वय आसुति[9] दाः।

—१।१०४।७

३४. अर्थमिद्वा[10] उ अर्थिनः।

—१।१०५।२

---

१. उपसेदिम-प्राप्नुवाम....संहितायां दीर्घत्वम्। २. अप्रमूच्छिताः अमूढाः। ३. आत्मीयैस्तेजोभिः। ४. व्रतानि जगन्निर्वाहरूपाणि स्वकीयानि कर्माणि। ५. सर्वाणि अहानि। ६. यजुर्वेद १३।२७। ७. यजुर्वेद १३।२८।

२६. हम देवताओं की मित्रता (दोस्ती) प्राप्त करें।

२७. कभी भी दीन-हीन न होने वाली अदिति पृथिवी ही प्रकाशमान स्वर्ग है, अन्तरिक्ष है, जगत की जननी माता है; पिता है और दुःख से त्राण दिलाने वाला पुत्र भी यही है।

किं बहुना, सभी देव, सभी जातियाँ, तथा जो उत्पन्न हुआ है और होगा, वह सभी अदिति अर्थात् पृथिवीस्वरूप है।

२८. मोह से मूर्च्छित न होने वाले ज्ञानी पुरुष अपने आत्मीय तेज से सदैव स्वीकृत व्रतों मे दृढ़ रहते है, अर्थात् प्राणपण से अपने नियमो की रक्षा करते है।

२९. कर्मशील व्यक्ति के लिए समग्र हवाएँ और नदियाँ मधु वर्षण करती है। औषधियां (अन्न आदि) भी मधुमय हो जाती हैं।

३०. हमारी रात्रि और उषा मधुर हो। भूलोक अथवा पार्थिवमनुष्य माधुर्यविशिष्ट हो, और वृष्टि आदि के द्वारा सब का पिता (रक्षक) कहा जाने वाला आकाश भी मधुयुक्त हो।

३१. हमारे लिए समस्त वनस्पतियाँ मधुर हो। सूर्य मधुर हो, और सभी गौएँ भी मधुर हो।+

३२. हे अग्नि (अग्रणी नेता), तुम्हारा मुख (दृष्टि) सब ओर है, अतः तुम सब ओर से हमारी रक्षा करने वाले हो, तुम्हारे नेतृत्व मे हमारे सब पाप विकार नष्ट हो।

३३. भूख और प्यास से पीड़ित लोगों को यथेष्ट भोजन-पान (अन्न तथा दुग्ध, जल आदि) अर्पण करो।

३४. ऐश्वर्य प्राप्ति का दृढ़ संकल्प रखने वाले निश्चय ही अपेक्षित ऐश्वर्य पाते हैं।

---

८. यजुर्वेद १३।२९। ९. वयोऽन्नं, आसुति-पेयं क्षीरादिकम्। १०. इद्वं अपेक्षितम्।

+ 'गौ' पशु मात्र का उपलक्षण है, अतः सभी पशु मधुर हो, सुखप्रद हो।

३५. प्रचर्षणिभ्यः पृतनाहवेषु प्रपृथिव्या रिरिचाथे दिवश्च ।

—१।१०९।६

३६. समानो अध्वा स्वस्रोः ।

—१।११३।३

३७. कथा[1] विधात्यप्रचेताः ।

—१।१२०।१

३८. अध स्वप्नस्य निर्विदेऽभुञ्जतश्च रेवतः[2],
उभा ता बस्रि[3] नश्यतः ।

—१।१२०।१२

३९. उदीरतां सूनृता उत्पुरन्धी[4] रुदग्नयः
शुशुचानासो[5] अस्थुः ।

—१।१२३।६

४०. अपान्यदेत्यभ्यन्यदेति विषुरूपे अहनी सञ्चरेते ।
परिक्षितोस्तमो अन्या गुहाकरद्यौदुषाः शोशुचता रथेन ॥

—१।१२३।७

४१. सदृशीरद्य सदृशीरिदु[6] श्वः ।

—१।१२३।८

४२. प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति ।

—१।१२५।१

४३. नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितो,
यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति ।

—१।१२५।५

---

१. केन प्रकारेण । २. धनवतश्च पुरुषस्य । ३. क्षिप्रम् । ४. पुरन्धीर्यासु धीयन्ते याभिर्वा नाः पुरन्धयः प्रज्ञाः प्रयोगविषया. । ५. अत्यन्तं दीप्यमाना ।

३५. कर्तव्य के लिए पुकार होने पर तुम सबके अग्रगामी बनो, पृथिवी और आकाश से भी अधिक विराट् बनो ।

३६. दोनों बहनों (रात्रि और उषा) का मार्ग—(आकाश) एक है । (आध्यात्म पक्ष में पाप और पुण्य की वृत्तियों का पथ मानवमन एक है ।)

३७. अज्ञानी व्यक्ति कैसे साधना कर सकता है ?

३८. प्रातः काल का स्वप्न और अपनी सम्पत्ति का जनकल्याण के लिए उचित उपयोग न करने वाला धनिक, दोनो ही से मै खिन्न हूँ । क्योकि ये दोनो शीघ्र ही नष्ट हो जाते है ।

३९. हमारे मुख से प्रिय एवं सत्य वाणी मुखरित हो, हमारी प्रज्ञा उन्मुख-प्रवुद्ध हो, सत्कर्म के लिए हमारा अत्यन्त दीप्यमान तेजस्तत्व (संकल्प वल) पूर्ण रूपेण प्रज्वलित हो ।

४०. रात पीछे लौट रही है, दिन सामने आरहा है । एक के हटने पर दूसरा आता है । विभिन्न एवं विलक्षण रूप वाले दोनो दिन और रात व्यव-धानरहित होकर चलते है । इनमे एक (रात्रि) सब पदार्थो को छिपाता है और दूसरा (उषा) अपने अतीव दीप्तिमान रथ के द्वारा उन्हे प्रकट करता है ।

४१. उषा जैसी (निर्मल) आज है, वैसी ही कल थी, और कल होगी ।

४२. दानशील व्यक्ति प्रातःकाल होते ही एक से एक उत्तम वस्तुओं (रत्नो) का दान करता है ।

४३. जनता को परितृप्त करने वाला दानी स्वर्ग के देवताओं मे प्रमुख स्थान प्राप्त करता है ।

---

६. उ शब्दोऽपिशब्दार्थः, उच्छब्द एवार्थः ।

४४. इयं दक्षिणा पिन्वते[1] सदा ।

—१।१२५।५

४५. दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा, दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः ।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते, दक्षिणावन्त प्रतिरन्त आयुः ॥

—१।१२५।६

४६. मा पृणन्तो दुरितमेन[2] आरन्[3] ।

—१।१२५।७

४७. मा जारिषुः[4] सूरयः सुव्रतासः ।

—१।१२५।७

४८. अपृणन्त[5]मभिसयन्तु शोकाः ।

—१।१२५।७

४९. पश्यदक्षण्वान्न[6] विचेतदन्धः[7] ।

—१।१६४।१६

५०. ये [8]अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच[9] आहुर्,
ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।

—१।१६४।१९

५१. द्वा सुपर्णा[10] सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं[11] स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति[12] ।

—१।१६४।२०

---

१. पिन्वते-सेचयति तोपयतीत्यर्थः । २. दुरितं-दुष्टं यथाभवति तथा प्राप्त दुःखं, एनः तत्साधनं पापं च । ३. मा आरन्-मा प्राप्नुवन् । ४. जरया न जीर्णा भवेयुः । ५. अदातारम् । ६. ज्ञानदृष्ट्युपेतः कश्चित् महान् । ७. अन्धः

४४. यह दक्षिणा (दान) सदैव सबको तृप्त करती रहती है।

४५. दानियो के पास अनेक प्रकार का ऐश्वर्य होता है, दानी के लिए ही आकाश मे सूर्य प्रकाशमान है। दानी अपने दान से अमृतत्व पाता है, वह अति दीर्घ आयु प्राप्त करता है।

४६. दानी कभी दुःख नही पाता, उसे कभी पाप नही घेरता।

४७. अपने व्रत नियमो मे दृढ ज्ञानी साधक कभी जीर्ण (क्षीण एवं हीन) नही होते।

४८. दानहीन कृपण को ही सब शोक व्याप्त होते है।

४९. आंखो वाले (ज्ञानी) ही सत्य को देख सकते है, अन्ध (स्थूल दृष्टि अज्ञानी) नही।

५०. विद्वान लोग जिन्हें अधोमुख कहते है, उन्ही को ऊर्ध्वमुख भी कहते हैं, और जिन्हें ऊर्ध्वमुख कहते है, उन्ही को अधोमुख भी कहते है।
(भौतिक पक्ष में सूर्य और चन्द्र की किरणें ऊर्ध्वमुख और अधोमुख दोनों होती हैं। अध्यात्म पक्ष मे ज्ञानी पुरुप महान् भी होते है, और विनम्र भी।)

५१. दो समान योगवाले परस्पर मित्र सुन्दर पक्षी एक वृक्ष (संसार या शरीर) पर रहते है, उनमे से एक पके हुए स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा कुछ नही खाता, केवल देखता है। अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा दो पक्षी हैं, एक सांसारिक भोगो मे लिप्त है और दूसरा निर्लिप्त है, केवल द्रष्टा है।

नतपारूप: स्थूलदृष्टिः न विचेतत् न विवेचयति न जानाति। ९. [illegible] अधोमुखाः। ६ पराच पुराङ्मुखांचनान् ऊर्ध्वान्। १०. [illegible] इव दृष्टान्तेन जीवपरमात्मानौ स्तूयेते। ११. पक्वं [illegible]। १२. [illegible]

५२. मे माता पृथिवी महीयम् ।

—१।१६४।३३

५३. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या,
अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।

—[1]१।१६४।३५

५४. ब्रह्माऽयं वाचः परमं व्योम ।

—१।१६४।३५

५५. न वि जानामि यदिवेदमस्मि,
निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्याद्,
इद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः[2] ।

—१।१६४।३७

५६. अपाङ्[3] प्राङ्ेति[4] स्वधया[5] गृभीतो,
ऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता,
न्यन्यं चिक्यु र्न[6] निचिक्युरन्यम् ॥

—१।१६४।३८

५७. यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ?
य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ।

—१।१६४।३९

५८. वयं भगवन्तः स्याम ।

—१।१६४।४०

५९. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।

—१।१६४।४६

---

१. यजुर्वेद २३।६२ । २. चित्तस्य बहिर्मुखतां परित्यज्य अन्तर्मुखतैव दुःसंपादा, सा यदा स्यात् तदानीमेव स्वरूपं द्रष्टुं सुशकं भवति । ३. अपाङीति

५२. यह महान् (विराट्) पृथ्वी मेरी माता है।

५३. यह वेदि (कर्म करने का स्थान) ही पृथ्वी का अन्तिम छोर है, यह यज्ञ (कर्तव्य-सत्कर्म) ही संसार की नाभि (मूलकेन्द्र) है।

५४. ब्रह्मा (विद्वान् प्रवक्ता) ही वाणी का परम रक्षक है, अधिष्ठाता है।

५५. मैं नही जानता कि मै कौन हूँ, क्या हूँ ? क्योकि मै मूढ और विक्षिप्त चित्त हूँ, अर्थात् बहिर्मुख हूँ, जब मुझे सत्य ज्ञान का प्रथम उन्मेष होता है अर्थात् मैं अन्तर्मुख होता हूँ, तभी मै तत्व वचनो के स्वरूप दर्शन का मर्म समझ पाता हूँ।

५६. अमर (आत्मा) मरणधर्मा (शरीर) के साथ रहता है। वह कभी अन्नमय शरीर पाकर पुण्य से ऊपर जाता है, कभी पाप से नीचे जाता है। ये दोनो विरुद्ध गति वाले संसार में सर्वत्र एक साथ विचरते है। पामर संसारी प्राणी उनमे एक (मर्त्य-देह) को पहचानता है, दूसरे (अमर्त्य-आत्मा) को नही। [जीव अमर है, शरीर मरणशील। अज्ञानी शरीर को तो जानता है, पर जीव के विषय मे भ्रम मे पड़ा है।]

५७. जो ऋचाओ मे रहे हुए (आत्मा के) दिव्य सत्य को नही जानता, वह ऋचाओ से क्या करेगा, क्या लाभ उठाएगा ? जो इस दिव्य सत्य को जानता है, वही स्वस्वरूप में स्थित होता है।

५८. हम सब भगवान् (ऐश्वर्यशाली) हों !

५९. सत्य एक ही है, विद्वान् उसका अनेक तरह से वर्णन करते है।

[illegible]पुण्यं कर्म कृत्वा अधोगच्छति। ४. प्राडेति ऊर्ध्वं स्वर्गादि लोक प्राप्नुवंति।
५. स्वधा शब्देन अन्नमयं शरीरं लक्ष्यते, तेन गृहीतः सन्। ६. न जानन्ति।

६०. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ।

—१।१६४।५०

६१. समानमेतदुदकमुच्चैत्यवचाहभिः[1] ।

—१।१६४।५१

६२. एकस्य चिन्मे विभ्वस्त्वोजो,
या नु दधृष्वान् कृणवै मनीषा ।

—१।१६५।१०

६३. अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति ।

—१।१७०।१

६४. ऊर्ध्वान् नः कर्त जीवसे[2] ।

—१।१७२।३

६५. मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाम् ।

—१।१७९।१

६६. सम्यञ्चा मिथुनावभ्यजाव ।

—१।१७९।३

६७. पुलुकामो हि मर्त्यः ।

—१।१७९।५

६८. ऋतेन ऋतं नियतम् ।

—३।३।६

६९. सखेव सख्ये पितरेव साधुः ।

—३।१८।१

७०. पुरुद्रुहो हि क्षितयो जनानाम् ।

—३।१८।१

---

१. अहभिः कैश्चिदहोभिः ग्रीष्मकालीनैरुच्चैति ऊर्ध्वं गच्छति, तथा अहभिः वर्षाकालीनैरहोभिः तदुदकं अवचैति अवाङ्मुखं गच्छति ।

६०. देवता (ज्ञानी) यज्ञ से ही यज्ञ करते है, अर्थात् कर्तव्य से ही कर्तव्य की पूर्ति करते है।

६१. जल एक ही रूप है, यह कभी (ग्रीष्म काल में) ऊपर जाता है, तो कभी (वर्षा काल मे) नीचे आता है।

६२. मैं भले ही अकेला हूँ, परन्तु मेरा ही बल सर्वत्र व्याप्त है। मै मन से जो भी चाहूँ, वही कर सकता हूँ।

६३. जिन मनुष्यो का चित्त चंचल है, वे अच्छी तरह चिन्तन (अधीत) किए हुए को भी भूल जाते हैं।

६४. हे प्रभो! हमे ऊँचा उठाओ, ताकि हम पूर्णायु तक जीवित (सुरक्षित) रह सके।

६५. जरा-शरीर के सौन्दर्य को नष्ट कर डालती है।

६६. हम स्त्री-पुरुष दोनों परस्पर सम्यक् सहयोग करते हुए गृहस्थ-धर्म का पालन करे।

६७. साधारण मानव विभिन्न कामनाओं से घिरा रहता है।

६८. ऋत (सत्य) से ऋत का होना नियत है।

६९. जैसे हितोपदेश आदि के द्वारा मित्र मित्र के प्रति और माता पिता पुत्र के प्रति हितैषी होते हैं, वैसे ही तुम सब के हितैषी बनो।

७०. मनुष्यो के द्रोही (शत्रु) मनुष्य ही है।

---

१ कर्त-कुरुत, जीवसे-चिरजीवनाय।

७१. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा,
घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।

—३।२६।७

७२. ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्[1] ।

—३।३९।७

७३. आरे स्याम दुरितादभीके ।

—३।३९।७

७४. जायेदस्तं[2] मघवन् !

—३।५३।४

७५. नावाजिनं[3] वाजिना[4] हासयन्ति,
न गर्दभं पुरो अश्वान् नयन्ति ।

—३।५३।२३

७६. महद् देवानामसुरत्वमेकम्[5] ।

—३।५५।१

७७. न पर्वता निनमे तस्थिवांसः ।

—३।५६।१

७८. कृष्णा सती रुशता[6] धासिनैषा,
जामर्येण पयसा पीपाय ।

—४।३।९

७९. स्वरभवज्जाते अग्नौ ।

—४।३।११

८०. सूरयो विश्वा आशास्तरीषणि ।

—५।१०।६

---

१. विशेषेण जानन्-प्रादुर्भवन् । २. अस्यन्ते क्षिप्यन्ते पदार्था अत्र इत्यस्तं गृहम् । जायेत्-जायैव गृहं भवति, न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते इति स्मृते. । ३. नावाजिनं-वाचाम् इनो वाजिनः सर्वज्ञः, तद्विलक्षणं मूर्खं ...

७१. मै परमतत्वस्वरूप अग्नि हूँ, ज्योतिर्मय हूँ, मै परनिरपेक्ष रहकर जन्म से ही अपने दिव्य-रूप को स्वयं ही प्रकट करता हूँ। प्रकाश (ज्ञान) मेरा नेत्र है। मेरे मुख मे (प्रिय एवं सत्य वचन का) अमृत है।

७२. अन्धकार मे से उत्पन्न होकर भी दिव्य आत्मा ज्योति का वरण करते है।

७३. हम पापाचार से दूर रहकर पूर्ण निर्भय भाव मे विचरण करें।

७४. हे मघवन्, वस्तुतः गृहिणी (धर्मपत्नी) ही गृह है।

७५. ज्ञानी पुरुष अज्ञानी के साथ स्पर्धा करके अपना उपहास नही कराते है, अश्व के सम्मुख तुलना के लिए गर्दभ नही लाया जाता है।

७६. सब देवों (दिव्य आत्माओ) का महान् पराक्रम एक समान है।

७७. पृथ्वी पर अविचल भाव से खडे पर्वतो को कोई झुका नही सकता है।

७८. काली गौ भी पुष्टिकारक एवं प्राणदाता अमृतस्वरूप श्वेत दुग्ध के द्वारा मनुष्यों का पोषण करती है।

७९. अग्नि (उत्साह एवं दृढ संकल्प का तेज) के प्रदीप्त होते ही भूतल पर स्वर्ग (अथवा सूर्य) उतर आता है।

८०. विद्वान् सब आशाओं (दिशाओ अथवा कामनाओ) को पार करने मे समर्थ हैं।

४.वाजिना वाजीशाः । ५. अस्यति क्षिपति सर्वानित्यसुरः प्रबलः, तस्य भावोऽसुरत्वं प्राधान्य महदैश्वर्यम्। ६. रुशता—श्वेतेन धासिना—प्राणिना धारकेण जामर्येण—जायन्ते इति जाः प्रजास्ता जामर्येण अमरणनिमित्तेन पयसा।

८१. मातेव यद् भरसे पप्रथानो जनं जनम् ।

—५।१५।४

८२. क्षत्रं धारयतं बृहद् दिवि सूर्यमिवाजरम् ।

—५।२७।६

८३. विदद्वस उभयाहस्त्याभर ।

—५।३९।१

८४. यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदा भर ।

—५।३९।२

८५. पदे पदे मे जरिमा[1] निधायि[2] ।

—५।४१।१५

८६. देवोदेवः सुहवो भूतु मह्यम् ।

—५।४२।१६

८७. गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः ।

—५।४२।८

८८. पिता माता मधुवचाः सुहस्ताः ।

—५।४३।२

८९. यो जागार तमृचः[3] कामयन्ते ।

—५।४४।१४

९०. यो जागार तमु सामानि यन्ति[4] ।

—५।४४।१४

९१. विश्वे ये मानुषा युगा[5] पान्ति मर्त्यं रिषः[6] ।

—५।५२।४

९२. ऋतेन विश्वं भुवनं विराजथः ।

—५।६३।७

---

१. जरिमा—स्तुतिः । २. निधीयते—क्रियते । ३. सर्वशास्त्राणि ।

८१. तू सर्वत्र फैलकर अर्थात् विराट् होकर माता के समान जन-जन (सब लोगो) का भरणपोषण करने वाला है।

८२. तुम, आकाश मे प्रकाशमान सूर्य की तरह सदा अक्षीण रहने वाले महान् क्षत्र (विराट् ऐश्वर्य) को धारण करो।

८३. हे धनिक दोनो हाथो से दान कर।

८४. हे इन्द्र! जिसे तुम श्रेष्ठ समझते हो, वह अन्न (भोगोपभोग) हमें प्रदान करो।

८५. पद-पद पर मेरी (सत्कर्म करने वाले की) स्तुति की जाती है।

८६. सभी देव मेरे लिए स्वाह्वान (एकबार पुकारते ही आने वाले) हो।

८७. जो गोदान और वस्त्रदान करने वाले है, उन्ही श्रेष्ठ धनिको को धन प्राप्त हो।

८८. माता-पिता मधुर भाषण करने वाले, तथा हाथो से अभीष्ट दान देने वाले होते है।

८९. जो सदा जागरूक रहता है, उसी को ऋचाएँ (सभी शास्त्र) चाहती है।

९०. जो जागरूक रहता है, उसी को साम (स्तुति प्रशसा एव यश) प्राप्त होते हैं।

९१. सभी श्रेष्ठ जन सदैव दुष्टो से मनुष्यो की रक्षा करते है।

९२. ऋत (सत्य या लोकहितकारी कर्म) से समग्र विश्व को प्रकाशित करो।

---

४. प्राप्नुवन्ति। ५. युगाः—सर्वेषु कालेषु। ६. रिपः—हिंसकात् सकाशात्।

९३. मित्रस्य यायां पथा।

—५।६४।३

९४. अद्रुहा देवौ वर्धेते।

—५।६८।४

९५. वयं ते रुद्रा[1] स्याम।

—५।७०।२

९६. न संस्कृतं प्रमिमीतः।

—५।७६।२

९७. युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्राः।

—५।८१।१

९८. मदेम शतहिमाः सुवीराः।

—६।४।८

९९. वयं जयेम[2] शतिनं सहस्रिणम्।

—६।८।६

१००. पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।

—६।९।४

१०१. अश्रायि यज्ञः सूर्ये न चक्षुः।

—६।११।५

१०२. व्रतैः सीक्षन्तो अव्रतम्।

—६।१४।३

१०३. न य जरन्ति शरदो न मासा।
न द्याव इन्द्रमवकर्शयन्ति।

—६।२४।७

१०४. गावो भगो, गाव इन्द्रो मे अच्छान्।

—६।२८।५

---

१. रुद्र—दुःखाद् द्रावयिता। २. जयेमहि।

९३. मुझे मित्र के पथ (जिस व्यवहार से अधिक से अधिक मित्र प्राप्त हो) से चलना चाहिए।

९४. द्रोह न करने वाले देव (अच्छे साथी) ही संसार मे अभ्युदय प्राप्त करते है।

९५. हे दुःख से मुक्त करने वाले रुद्रो ! हम भी तुम्हारे जैसे ही जनता को दुःख से मुक्त करने वाले रुद्र हो जाएँ।

९६. अच्छे संस्कारो को नष्ट न करो।

९७. बुद्धिमान अपने मन और बुद्धि को सभी प्राप्त कर्मो मे ठीक तरह नियोजित करते है।

९८. हम पुत्र पौत्रादि अच्छे स्वजनो एव परिजनो के साथ सौ वर्ष तक प्रसन्न रहें।

९९. हम सैकड़ो-हजारो लोगो को तृप्त करने वाला अन्न प्राप्त करे।

१००. मरणशील नश्वर शरीरों मे अविनाशी अमृत—चैतन्यज्योति का दर्शन करो।

१०१. जिस प्रकार सूर्य मे प्रकाशमान तेज समाहित है उसी प्रकार मानव मे कर्म समाहित है।

१०२. व्रत-विरोधी को व्रतो से ही अभिभूत (प्रभावित) करना चाहिए।

१०३. इन्द्र को न वर्ष क्षीण (जर्जर) कर सकते है, और न महीने तथा दिन ही।

१०४. गाय ही मेरा धन है, इन्द्र मुझे गाय प्रदान करे।

१०५. इमा या गावः स जनास इन्द्र,
इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ।

—६।२८।५

१०६. यूयं गावो मेदयथा कृशं चिद्—
अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्[1] ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो,
बृहद् वो वय[2] उच्यते[3] सभासु ॥

—६।२८।६

१०७. इन्द्रः स नो युवा सखा ।

—६।४५।१

१०८. सुवीर्यस्य पतयः स्याम ।

—६।४७।१२

१०९. रूपंरूपं[4] प्रतिरूपो बभूव[5] ।

—६।४७।१८

११०. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते[6] ।

—६।४७।१८

१११. प्रणीतिरस्तु सूनृता ।

—६।४८।२०

११२. परो[7] नान्तरस्तुतुर्यात्[8] ।

—६।६३।२

११३. अपो न नावा दुरिता तरेम ।

—६।६८।८

११४. अस्मे भद्रा सौश्रवसानि[9] सन्तु ।

—६।७४।२

---

१. शोभनांगम् । २ वयोऽन्नम् । ३. दीयते । ४. रूपं रूपं प्रति शरीरादि-प्रतिरूपम् । ५. भवति इत्यर्थः । ६. गच्छति । ७. विप्रकृष्ट. ।

१०५. हे मनुष्यो ! यह गाय ही इन्द्र है। मै श्रद्धा भरे मन से इस इन्द्र की पूजा करना चाहता हूँ।

१०६. हे गायो ! तुम हमें आप्यायित करो। कृश एवं श्रीहीन हम लोगो को सुन्दर बनाओ। हे मंगल ध्वनिवाली गायो ! हमारे घरों को मंगलमय बनाओ। तुम्हारा दुग्ध आदि मधुरस जनसभाओं में सबको वितरित किया जाता है।

१०७. युवा इन्द्र हमारा सखा है।

१०८. हम कल्याणकारी अच्छे बलवीर्य के स्वामी हों।

१०९. आत्मा प्रत्येक रूप (शरीर) के अनुरूप अपना रूप बना लेता है।

११०. इन्द्र (आत्मा) माया के कारण विभिन्न रूपो को धारण करता हुआ विचरण करता है।

१११. सत्य एव प्रिय वाणी ही ऐश्वर्य देने वाली है।

११२. न दूर रहने वाला पीड़ित करे और न पास रहने वाला।

११३. जिस प्रकार नौका जल को तैर जाती है, उसी प्रकार हम दुःखों एवं पापो को तैर जाएँ।

११४. हमारा अन्न अथवा यश मंगलमय हो।

---

८. अन्तर:—सन्निकृष्टोपि न हिंस्यात्। ९. श्रवोऽन्नं यशश्च।

११५. विश्वाहा[1] वयं सुमनस्यमानाः[2] ।

—६।७५।८

११६. पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः ।

—६।७५।१४

११७. मा शूने[3] अग्ने निषदाम नृणाम् ।

—७।१।११

११८. ऊर्ध्वं नो अध्वरं कृतम्[4] ।

—७।२।७

११९ परिषद्यं[5] ह्यरणस्य रेक्णः[6] ।

—७।४।७

१२०. अचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः ।

—७।४।७

१२१. त्वं दस्यूँरोकसो[7] अग्न आज ।
उरु[8] ज्योतिर्जनयन्नार्याय[9] ॥

—७।५।६

१२२. न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ते[10] ।

—७।१८।२१

१२३. मा शिश्नदेवा[11] अपि गुर्ऋतं नः ।

—७।२१।५

१२४. शं[12] नः पुरंधीः[13] शमु सन्तु रायः ।

—७।३५।२

१२५. उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व[14] उत मध्ये अह्नाम् ।

—७।४१।४

---

१. सर्वदा । २. सुखमनसः । ३. शून्ये । ४. कृतम् । ५. पर्याप्तम् । ६ धनम् । ७. कर्महीनान् । ८. अधिकम् । ९. कर्मवते । १०. विस्मरन्ति ।

११५. हम सदा सुखी एवं शान्त मन से रहें।

११६. मनुष्य, मनुष्य की सब प्रकार से रक्षा करे।

११७. हे अग्नि देव ! हम परिवार से रहित सूने घर में न रहें, और न दूसरों के घर में रहें।

११८. हमारे यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) को ऊर्ध्वमुखी बनाइए।

११९. ऋण रहित व्यक्ति के पास पर्याप्त धन रहता है।

१२०. मूर्ख के मार्ग का अनुसरण नहीं करआ चाहिए।

१२१. हे देव ! आर्य (कर्मनिष्ठ) जन को अधिकाधिक ज्योति प्रदान करो और दस्युओं (निष्कर्मण्यों) को दूर खदेड़ दो।

१२२. श्रेष्ठ जन अपने पालन करने वाले के उपकार को नहीं भूलते हैं।

१२३. शिश्न देव (व्यभिचारी) सत्कर्म एवं सत्य को नहीं पा सकते।

१२४. हमारी बुद्धि और धन शान्ति के लिए हो।

१२५. हम अब वर्तमान में भगवान (महान्) हों, दिन के प्रारम्भ में और मध्य में भी भगवान् हों !

---

११. ऊर्ध्वाध्वरः। १२. शान्त्यै। १३. वहधोः। १४. प्रपित्वे अह्नां प्राप्ते मध्याह्ने।

१२६ द्रुहः सचन्ते[1] अनृता जनानाम् ।

—७।६१।५

१२७. सुगा नो विश्वा सुपथानि सन्तु ।

—७।६२।६

१२८. विश्वा अविष्टं वाज आ पुरंधीः ।

—७।६७।५

१२९. अस्ति ज्यायान्[2] कनीयस उपारे ।

—७।८६।६

१३०. स्वप्नश्च नेदनृतस्य[3] प्रयोता ।

—७।८६।६

१३१. शं नः क्षेमे[4] शमु योगे नो अस्तु ।

—७।८६।८

१३२. ध्रुवासो अस्य कीरयो[5] जनासः ।

—७।१००।४

१३३. आप इव काशिना संगृभीता ।
असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥

—७।१०४।८

१३४. सुविज्ञानं चिकितुषे[6] जनाय,
सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते[7] ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्[8],
तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

—७।१०४।१२

१३५. इन्द्रो यातूनाम[9]भवत् पराशरः[10] ।

—७।१०४।२१

---

१. सेवन्ते । २. स एव तं पापे प्रवर्तयति । ३. स्वप्ने कृतैरपि कर्मभि-र्बहूनि पापानि जायन्ते, किमु वक्तव्यं जाग्रतिकृतैः कर्मभिः । ४. अप्राप्तस्य

१२६. द्रोही व्यक्ति लोगो की झूठी प्रशंसा ही पाते है, सच्ची नही।

१२७. हमारे लिए सभी गन्तव्य स्थान सुगम एवं सुपथ हों।

१२८. हे देव ! संग्राम (संघर्षकाल) मे भी हमारी बुद्धि को व्यवस्थित रखिए।

१२९. छोटे अनुयायी के पापाचार मे नेता के पद पर रहने वाला बड़ा व्यक्ति कारण होता है।

१३०. स्वप्न भी पाप का कारण होता है, अर्थात् स्वप्न मे किए जाने वाले दुष्कर्म से भी पाप लगता है।

१३१. हमारे योग (लाभ) मे उपद्रव न हों, हमारे क्षेम (प्राप्त लाभ का रक्षण) में उपद्रव न हों, अर्थात् हमारे योग, क्षेम बाधारहित मंगलमय हों।

१३२. परम तत्त्व के स्तोता जन ही ध्रुव-अर्थात् निश्चल होते है।

१३३. हे इन्द्र ! मुट्ठी मे ग्रहण किए हुए जल के समान असत्यभाषी दुष्ट जन भी असत् हो जाता है, अर्थात् विशीर्ण एवं नष्ट हो जाता है।

१३४. विद्वान् के लिए यह जानना सहज है कि सत्य और असत्य वचन परस्पर प्रतिस्पर्धा करते है। उनमे जो सत्य एवं सरलतम है, सोम उसी की रक्षा करते हैं और असत्य को नष्ट कर देते हैं।

१३५. इन्द्र हिंसकों के ही हिंसक हैं, अथात् अकारण किसी को दण्डित नही करते।

प्रापणं योगः, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः। ५. स्तोतारः। ६. विदुषे। ७. मिथः स्पर्धेते। ८.ऋजुतमं अकुटिलम्। ९.हिंसकानाम्। १०. परागातयिता हिंसिता।

१३६. न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति,
न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।

—७।१०४।१३

१३७. विग्रीवासो मूरदेवा[1] ऋदन्तु,
मा ते दृशन् त्सूर्यमुच्चरन्तम्।

—७।१०४।२४

१३८. युयुतं या अरातयः।

—८।९।१

१३९. कीलन्त्यस्य सूनृता आपो न प्रवता यतीः।

—८।१३।८

१४०. शं नस्तपतु सूर्यः, शं वातो वात्वरपाः[2]।

—८।१८।९

१४१. यो नः कश्चिद् रिरिक्षति[3] रक्षस्त्वेन मर्त्यः।
स्वैः[4] ष एवै रिरिषीष्ट युर्जनः॥

—८।१८।१३

१४२. भद्रं मनः कृणुष्व।

—८।१९।२०

१४३. यदग्ने मर्त्यस्त्वं[5] स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः।

—८।१९।२५

१४४. नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे।

—८।२१।१४

१४५. अमृक्ता रातिः।

—८।२४।९

---

१. मारणक्रीडाः राक्षसाः। २. अपापः सन्। ३. जिहिंसिषति।
४. आत्मीयैरेव चेष्टितैः रिरिषीष्ट हिंसितो भूयात्। ५. ये यथा यथोरामो ते

१३६. कोई कैसा ही क्यो न बलवान हो, यदि वह असत्यवादी एवं पापी है तो उसे सोम देवता किसी महान् कार्य के लिए नियुक्त नहीं करते है ।

१३७. हमेशा मारधाड़ मे प्रसन्न रहने वाले सिरफिरे दुष्टजन शीघ्र ही नष्ट हो जाते है । उन्हें उगते हुए सूर्य के दर्शन नही होते ।

१३८. जो लोग दानी नहीं है, उन्है सदा दूर रखिए ।

१३९. प्रवाह मे वहते हुए जल के समान प्रिय एवं सत्य वाचा क्रीड़ा करती हुई वहती है ।

१४०. सूर्य हम सवके लिए सुखद होकर तपे, वायु पापताप से रहित शुद्ध होकर वहे ।

१४१. जो व्यक्ति किसी को राक्षस भाव (दुर्भाव) से नष्ट करना चाहता है, वह स्वय अपने ही पापकर्मो से नष्ट हो जाता है, अपदस्थ हो जाता है ।

१४२. अपने मन को भद्र (कल्याणकारी, उदार) बनाओ ।

१४३. हे मित्र के समान तेजस्वी ज्योतिर्मयदेव, मैं मरणधर्मा मनुष्य तेरी उपासना से तू ही (त्वद्रूप) हो जाता हूँ, मरण से मुक्त अमर्त्य (अमर) हो जाता हूँ ।

१४४. हे इन्द्र ! तुम दानादि गुणों से रहित कोरे धनी व्यक्ति को अपना मित्र नही वनाते हो ।

१४५. (सदभाव से दिया गया) दान कभी नष्ट नही होता ।

नदेव भवन्तीति श्रुतेः, तर्हि अहं अमर्त्यो मरणधर्मरहितो देव एव भवेयम् ।

१४६. घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत ।

—८।२४।२०

१४७. यो वाम् यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव ।
सपर्यन्ता[1] शुभे चक्राते अश्विना ॥

—८।२६।१३

१४८. ऋते स विन्दते युधः ।

—८।२७।१७

१४९. एषा चिदस्मादशनिः,
परो नु सास्रेधन्ती[2] वि नश्यतु ।

—८।२७।१८

१५०. यथा वशन्ति[3] देवास्तथेदसत्[4],
तदेषां न किरा मिनत्[5] ।

—८।२८।४

१५१. नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः[6] ।
विश्वे सतोमहान्त इत् ।

—८।३०।१

१५२. सुमतिं न जुगुक्षतः[7] ।

—८।३१।७

१५३. सुगा ऋतस्य पन्थाः ।

—८।३१।१३

१५४. जरितृभ्यः पुरूवसुः ।

—८।३२।११

१५५. स्त्रिया अशास्यं मनः ।

—८।३३।१७

---

१. सपर्यन्ता अभीष्टप्रदानेन तं परिचरन्ती । २. अस्रेधन्ती कांश्चिदप्यहिंसती । ३. यथा कामयन्ते । ४. तथैव असत् तद् भवति । ५. न कश्चिदपि

१४६. घृत और मधु से भी अत्यन्त स्वादु वचन बोलिए ।

१४७. जैसे नव वधू वस्त्र से ढकी रहती है, वैसे ही जो यज्ञ (सत्कर्म) से ढका रहता है, उसकी परिचर्या (देखरेख) करते हुए अश्विनी देव उसका मंगल करते है ।

१४८. महान् आत्मा युद्ध के विना भी ऐश्वर्य प्राप्त कर लेते है ।

१४९. यह अशनि (आयुध, वज्र) विना किसी की हिंसा किये शीघ्र स्वयं ही विनष्ट हो जाए !

१५०. दिव्य आत्मा जो चाहते है वही होता है । उनके संकल्प को कोई ध्वस्त नहीं कर सकता ।

१५१. हे देवताओ ! तुम्हारे में न कोई शिशु है, न कोई कुमार है । तुम सब के सब पृथ्वी पर सदा महान् (नित्य तरुण रहते) हो ।

१५२. अपनी बुद्धि को आवृत (आच्छादित) न करो ।

१५३. सत्य का मार्ग सुगम है ।

१५४. अपने स्तोताओ (साथियो) के लिए ही धनसंग्रह करना चाहिए, वैयक्तिक स्वार्थ के लिए नही ।

१५५. स्त्री का मन अशास्य है, अर्थात् उस पर शासन करना सहज नही है ।

[illegible]—[illegible] । ६. सर्वे यूय सवयसो नित्यतरुणाः भवथ । ७. नंवार[illegible]- [illegible]—न छादयत इत्यर्थः ।

१५६. अधः पश्यस्व मोपरि[1]।

—८।३३।१६

१५७. संतरां पादकौ हर !

—८।३३।१६

१५८. सुऊतयो व ऊतयः[2]।

—८।४७।१

१५९. पक्षा वयो यथोपरि व्यस्मे शर्म यच्छत।

—८।४७।२

१६०. परि णो वृणजन्नघा दुर्गाणि रथ्यो यथा।

—८।४७।५

१६१. मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।

—८।४८।१४

१६२. अपाम सोमममृता अभूम।

—८।४८।३

१६३. भद्रा इन्द्रस्य रातयः।

—८।६२।१

१६४. सत्यमिद्वा उ त वयमिन्द्रं स्तवाम नानृतम्।

—८।६२।१२

१६५. अस्ति देवा [3]अंहोरुर्वस्ति [4]रत्नमनागसः।

—८।६७।७

१६६. जज्ञानो नु शतक्रतुः।

—८।७७।१

---

१. एष स्त्रीणां धर्मः। २. रक्षणानि। ३. अंहो हन्तुः। ४. रत्न रमणीय सुकृतं श्रेयोऽस्ति।

१५६. नीचे की ओर देखिए, ऊपर की ओर नही ।

१५७. अपने पैरो को मिलाये रखो !

१५८. तुम्हारी ओर से किया जाने वाला जनता का रक्षण अपने में एक अच्छा (निष्पाप) रक्षण हो ।

१५९. जैसे पक्षी (चिड़ियाएँ) अपने बच्चों को सुख देने के लिए उन पर पंख फैला देते है, वैसे ही तुम सब को सस्नेह सुख प्रदान करो ।

१६०. जिस प्रकार रथ को वहन करने वाले अश्व दुर्गम (ऊँचे नीचे गड्ढे वाले) प्रदेश को छोड़ कर चलते हैं, उसी प्रकार जीवन में पापाचार को छोड़कर चलना चाहिए ।

१६१. हम पर न तो निद्रा हावी हो, और न व्यर्थ की बकवास करने वाला निन्दक !

१६२. हम सोमरस (शान्ति तथा समता रूप अमृतरस) का पान करे, ताकि अमर हो जाएँ ।

१६३. इन्द्र (श्रेष्ठ जन) का दान कल्याणकर है ।

१६४. हम सच्ची स्तुति ही करते है, झूठी नही ।

१६५. देवो ! पापशील हिंसक को महापाप होता है, और अहिंसक धर्मात्मा को अतीव दिव्य श्रेय (सुकृत) की प्राप्ति होती है ।

१६६. इन्द्र जन्म से ही शतक्रतु है, अर्थात् बहुत अधिक कर्म करने वाला है ।

१६७. विश्वं शृणोति पश्यति ।

—८।७८।१

१६८. आ नो भर दक्षिणेनाभिसव्येन प्रमृश[1] !

—८।८१।६

१६९. अजातशत्रुरस्तृतः ।

—८।९३।११

१७०. त्वमस्माकं तव स्मसि ।

—८।९२।३२

१७१. मनश्चिन्मनसस्पतिः ।

—९।११।८

१७२. व्रतेषु जागृहि ।

—९।६१।२४

१७३. स्वदन्ति गावः पयोभिः ।

—९।६२।५

१७४. मज्जन्त्यविचेतसः[2] ।

—९।६४।२१

१७५. सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत ।

—९।८३।८

१७६. त्वं समुद्रो असि विश्ववित् कवे !

—९।८६।२९

१७७. क्रतुं रिहन्ति[3] मधुनाभ्यञ्जतो ।

—९।८६।४३

१७८. पथः कृणुहि प्राचः ।

—९।९१।५

---

१. प्रयच्छ । २. विपरीतमतयः । ३. निहन्ति—आस्वादयन्ति ।

१६७. ज्ञानी आत्मा सब सुनता है, सब देखता है।

१६८. दाएँ और बाएँ—दोनों हाथों से दान करो।

१६९. अजातशत्रु (निर्वैर) कभी किसी से हिंसित (विनष्ट) नहीं होता।

१७०. तुम हमारे हो, हम तुम्हारे है।

१७१. मन का ज्ञाता मन का स्वामी होता है।

१७२. अपने व्रतो (कर्तव्यों) के प्रति सदा जागृत रहो।

१७३. गाये अपने दूध से भोजन को मधुर बनाती है।

१७४. विपरीत बुद्धि वाले अज्ञानीजन डूब जाते है, नष्ट हो जाते है।

१७५. पुण्य कर्म वाले व्यक्ति ही जीवन मे मधुरस (सुख) का आस्वादन करते है।

१७६. हे विद्वन् (कवि)! तुम विश्वरहस्यों के ज्ञाता हो, ज्ञान के समुद्र हो।

१७७. कर्म करने वाले—क्रतु को ही सब लोग चाहते हैं।

१७८. मार्गों को पुराने करो, अर्थात् अभ्यस्त एवं सुपरिचित होने के कारण तुम्हारे लिए कोई भी मार्ग (जीवनपथ) नया न रहे।

१७९. ग्रन्थि न वि ष्य ग्रथितं पुनान,
ऋजु च गातुं वृजिनं च सोम !

—९।९७।

१८०. सखेव सख्ये गातुवित्तमो भव !

—९।१०४।

१८१. नानानं वा उ धियो वि व्रतानि जनानाम् ।

—९।११२।

१८२. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।

—९।११२।

१८३. बलं दधान आत्मनि ।

—९।११३।

१८४. लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र मामृतं कृधि ।

—९।११३।

१८५. अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ।

—१०।९।

१८६. इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ।

—१०।१४।१

१८७. मधुमन्मे परायणं[1], मधुमत्[2] पुनरायनम्[3] ।

—१०।२४।

१८८. भद्रं नो अपि वातय[4], मनो दक्ष[5]मुत क्रतुम्[6] ।

—१०।२५।१

---

१. गृहात्तरगमनम् । २. प्रीतियुक्तं भवतु । ३. गृह प्रत्यागमनम् ।

१७९. हे देव ! जैसे गांठ को सुलझा (खोल) कर अलग किया जाता है, वैसे ही मुझे पापो से मुक्त करो ! और तुम मुझे जीवन-यात्रा का सरल मार्ग और उस पर चलने की उचित शक्ति दो।

१८०. जैसे मित्र मित्र को सच्चा मार्ग बताता है, वैसे ही तुम यथार्थ मार्ग के बताने वाले (उपदेष्टा) बनो।

१८१. मनुष्यो के विचार और आचार (कर्म) अनेक प्रकार के हैं।

१८२. मै कारु (कलाकार) हूँ, पिता वैद्य है, और कन्या जो पीसने का काम करती है।

१८३. अपने मे बल का आधान करो।

१८४. जहां के निवासी ज्योतिःपुंज के समान तेजस्वी हैं, उसी लोक मे हे सोम ! मुझे भी अमृतत्व प्रदान करो, अर्थात् स्थायी निवास दो !

१८५. सोम का कथन है कि—इन्ही जलों में विश्व हितंकर अग्नि का निवास है, और औषधियां भी इन्ही मे आश्रित हैं।

१८६. हम अपने से पूर्व उत्पन्न हुए कर्तव्यपथ के निर्माता आदिकालीन ऋषियो को नमस्कार करते है।

१८७. मेरा घर से बाहर जाना मधुमय (प्रीतियुक्त) हो, और मेरा वापिस आना भी वैसा ही मधुमय हो, अर्थात् मैं जब भी, जहां भी जाऊं, सर्वत्र प्रीति एवं आनन्द प्राप्त करूं।

१८८. हे देव ! हमारे मन को शुभसंकल्प वाला बनाओ, हमारे अन्तरात्मा को शुभ कर्म करने वाला बनाओ, और हमारी बुद्धि को शुभ विचार करने वाली बनाओ।

---

४. मनद। ५. अन्तरात्मानं शुभकारिणं कुरु। ६. प्रज्ञान....शुभाध्यवसायिनं कुरु।

१८९. जिनामि वेत् क्षेम[1] आ सन्तमाभुं[2] ।
प्र तं क्षिणां[3] पर्वते पादगृह्य ॥

—१०।२७।४

१९०. न वा उ मां वृजने[4] वारयन्ते,
न पर्वतासो यदहं मनस्ये ।

—१०।२७।५

१९१. भद्रा[5] वधूर्भवति यत् सुपेशाः[6],
स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ॥

—१०।२७।१२

१९२. लोपाशः[7] सिंहं प्रत्यञ्च[8]मत्साः[9],
क्रोष्टा[10]वराहं निरतक्त[11] कक्षात् ।

—१०।२८।४

१९३. अद्रिं लोगेन[12] [13]व्यभेदमारात्[14] ।

—१०।२८।८

१९४. बृहन्तं चिदृहते रन्धयानि,
वयद्[15] वत्सो वृषभं शूशुवानः[16] ।

—१०।२८।९

१९५. अक्षेत्रवित्[17] क्षेत्रविदं ह्यप्राट् ।
स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः ॥

—१०।३२।७

१९६. निवाधते अमतिः ।

—१०।३३।२

---

१. जगत्पालने निमित्ते । २. महान्तम् । ३. प्रक्षिपामि । ४. संग्रामे ।
५. कल्याणी । ६. शोभनरूपा । ७. लुप्यमानं तृणमश्नातीति लोपाशो मृग. ।
८. आत्मानं प्रति गच्छन्तम् । ९. आभिमुख्येन गच्छति । १०. शृगाल. ।

१८९. मैं प्रजा के कल्याण के लिए ही सर्वत्र प्रभुत्व प्राप्त किए बलवान् शत्रु को पराजित करता हूँ, पाँव पकड़कर उसे शिलापर पछाड़ता हूँ।

१९०. जीवनसंग्राम मे मुझे कोई अवरुद्ध नहीं कर सकता, यदि मैं चाहूँ, तो विशाल पर्वत भी मेरी प्रगति मे बाधक नही हो सकते।

१९१. जो स्त्री सुशील सुन्दर एवं श्रेष्ठ है, वह जनसमूह मे से इच्छानुकूल पुरुष को अपने मित्र (पति) रूप में वरण कर लेती है।

१९२. मेरी इच्छा शक्ति से ही तृणभक्षी हिरण अपने सामने आते सिंह को ललकार सकता है और शृगाल वराह को वनसे भगा सकता है।

१९३. एक ढेला फैंककर मैं दूरस्थ पर्वत को भी तोड़ सकता हूँ।

१९४. कभी-कभी महान भी क्षुद्र के वश मे आ जाता है, प्रवर्द्धमान बछड़ा भी वृषभ (सांड) का सामना करने लगता है।

१९५. मार्ग से अनभिज्ञ व्यक्ति मार्ग के जानने वाले से पूछ सकता है, और उसके बताये पथ से अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकता है।

१९६. मनुष्य को उसकी अपनी दुर्बुद्धि ही पीड़ा देती है।

---

११. निर्गमयति। १२. लोष्टेन। १३. भिनद्मि। १४. दूरस्थितमपि। १५. [illegible] गच्छति। १६. वीर्येण वर्द्धमानः। १७. क्षेत्रं पंथाः, पन्थानमजानन् [illegible]।

१९७. द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि,
न नाथितो विन्दते मर्डितारम्[1]।
अश्वस्येव जरतो[2] वस्न्यस्य[3],
नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥

—१०।३४।३

१९८. अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य,
यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्,
न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥

—१०।३४।४

१९९. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व,
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया,
तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥

—१०।३४।१३

२००. सा मा सत्योक्तः परिपातु विश्वतो,
द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति,
विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥

—१०।३७।२

२०१. शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे।

—१०।३७।११

२०२. विशं विशं मघवा पर्यशायत।

—१०।४३।६

२०३. अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं,
न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।

—१०।४८।५

---

१. धनदानेन सुखयितारम्। २. वृद्धस्य। ३. वस्न-मूल्यं तदर्हस्य।

१९७. जुआ खेलने वाले पुरुष की सास उसे कोसती है और उसकी पत्नी भी उसे त्याग देती है। मागने पर जुआरी को कोई कुछ भी नही देता। जैसे बूढ़े घोड़े का कोई मूल्य नही देना चाहता, वैसे ही जुआरी को भी कोई आदर नही देता।

१९८. हारे हुए जुआरी की पत्नी को जीते हुए जुआरी केश पकड़ कर खीचते हैं, उसके धन पर दूसरे बलवान जुआरिओ की गृध्र दृष्टि रहती है। माता पिता और भाई कहते है कि—'हम इसको नही जानते, इसे बांधकर ले जाओ।'

१९९. हे जुआरी! जुआ खेलना बन्द कर, खेती कर! उसमे कम भी लाभ हो, फिर भी उसे बहुत समझ कर प्रसन्न रह। खेती से ही तो तुझे गौएँ मिली है, पत्नी मिली है, ऐसा हमे भगवान सूर्य ने कहा है।

२००. सत्य के आधार पर ही आकाश टिका है, समग्र संसार और प्राणीगण सत्य के ही आश्रित है। सत्य से ही दिन प्रकाशित होते है, सूर्य उदय होता है और जल भी निरंतर प्रवाहित रहता है। यह सत्य की वाणी सब प्रकार से मेरी रक्षा करे।

२०१. मनुष्य और पशु सब को सुख अर्पण करो।

२०२. प्रत्येक मनुष्य मे इन्द्र (ऐश्वर्य शक्ति) का निवास है।

२०३. मैं इन्द्र (आत्मा) हूँ। मेरे ऐश्वर्य का कोई पराभव नही कर सकता। मैं मृत्यु के समक्ष कभी अवस्थित नही होता, अर्थात् मृत्यु की पकड़ मे नही आता।

२०४. अश्मन्वती रीयते[1] संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता[2] सखायः।

—१०।५३।८

२०५. मा प्र गाम[3] पथो[4] वयम्।

—१०।५७।१

२०६. जीवसे ज्योक्[5] च सूर्य दृशे।

—१०।५७।४

२०७. यत् ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम्।
तत् त आ वर्तयामसीह[6] क्षयाय[7] जीवसे[8]॥

—१०।५८।४

२०८. यत् ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्।
तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥

—१०।५८।१२

२०९. पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।

—१०।५९।४

२१०. द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु।

—१०।५९।४

२११. अयं मे हस्तो भगवानयं[9] मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥

—१०।६०।१२

२१२. इमे मे देवा, अयमस्मि सर्वः।

—१०।६१।१९

२१३. सावर्ण्यस्य दक्षिणा वि सिन्धुरिव पप्रथे।

—१०।६२।९

---

१. गच्छति। २. उल्लंघयत। ३. मा परागच्छाम। ४. मर्गी-

२०४. हे मित्रो ! अश्मन्वती (पत्थरों से भरी नदी) बह रही है, दृढ़ता से तनकर खड़े हो जाओ, ठीक प्रयत्न करो और इसे लांघ जाओ।

२०५. हम सुपथ से कुपथ की ओर न जाएं।

२०६. जीवन मे चिरकाल तक सूर्य (प्रकाश) के दर्शन करते रहो।

२०७. हे बन्धु ! तुम्हारा मन, जो चारों ओर अत्यन्त दूरस्थ प्रदेश मे भटक गया है, उसे हम लौटा लाते है। इसलिए कि तुम जगत में निवास करने के लिए चिरकाल तक जीवित रहो।

२०८. हे बन्धु ! तुम्हारा जो मन, भूत वा भविष्यत् के किसी दूर स्थान पर चला गया है, उसे हम लौटा लाते है। इसलिए कि तुम जगत मे निवास करने के लिए चिरकाल तक जीवित रहो।

२०९. हम नित्यप्रति उदय होते हुए सूर्य को देखे, अर्थात् चिरकाल तक जीवित रहें।

२१०. हमारी वृद्धावस्था दिन प्रतिदिन सुखमय हो।

२११. यह मेरा हाथ भगवान् (भाग्यशाली) है, भगवान ही क्या, अपितु भगवत्तर है, विशेष भाग्यशाली है। यह मेरा हाथ विश्व के लिए भेषज है, इसके स्पर्शमात्र से सब का कल्याण होता है।

२१२. विश्व के ये देव (दिव्य शक्तियां) मेरे है, मैं सब कुछ हूँ।

२१३. सावर्णि मनु का दान, नदी के समान दूर दूर तक विस्तृत (प्रवाहित) है।

[illegible]। ५. चिरकालम्। ६. आवर्तयामः। ७. इह लोके निवासाय।
८. चिरकालजीवनाय। ९. भाग्यवान्।

२१४. न तमश्नोति कश्चन ।

—१०।६३।६

२१५. य ईशिरे[1] भुवनस्य प्रचेतसो[2]
विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः[3] ।

—१०।६३।८

२१६. सक्तुमिव तितउना[4] पुनन्तो,
यत्र धीरा मनसा[5] वाचमक्रत[6] ।
अत्रा सखायः[7] सख्यानि जानते[8],
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

—१०।७१।२

२१७. उत त्वः[9] पश्यन् न ददर्श वाच-
मुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे[10],
जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

—१०।७१।४

२१८. अधेन्वा चरति[11] माययैष,
वाचं शुश्रुवाँ[12] अफलामपुष्पाम्[13] ।

—१०।७१।५

२१९. यस्तित्याज सचिविदं सखायं[14],
न तस्य वाच्यपि भागो[15] अस्ति ।

---

१. ईश्वरा भवन्ति । २. प्रकृष्टज्ञानाः । ३. सर्वस्य वेदितारः । ४. पूर्वेण । ५. प्रज्ञायुक्तेन । ६. कुर्वन्ति । ७. शास्त्रादि विषयज्ञानाः । ८. अभ्युदयान् लभन्ते । ९. त्वशब्द एकवाची एक. । १०. आत्मानं विवृणुते—प्रकाशयति । ११. यथा वंध्या पीना गौः किं द्रोणमात्रं क्षीरं दोग्धीति मायां उत्पादयन्ती चरति, यथा वंध्यो वृक्षोऽकाले पल्लवादियुक्तः सन् पुष्पति फलतीति भ्रान्ति-

२१४. दानशील मनु (मानव) को कोई पराजित नहीं कर सकता।

२१५. विश्व के ज्ञाता द्रष्टा श्रेष्ठ ज्ञानी देव (महान् आत्मा) स्थावर और जंगम समग्र लोक के ईश्वर है।

२१६. जैसे सत्तू को शूप से परिष्कृत (शुद्ध) करते हैं, वैसे ही मेघावीजन अपने बुद्धि वल से परिष्कृत की गई भाषा को प्रस्तुत करते है। विद्वान लोग वाणी से होने वाले अभ्युदय को प्राप्त करते है, इनकी वाणी मे मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

२१७. कुछ मूढ लोग वाणी को देखकर भी देख नही पाते, सुन कर भी सुन नही पाते। किन्तु विद्वानो के समक्ष तो वाणी अपने को स्वयं ही प्रकाशित कर देती है, जैसे कि सुन्दर वस्त्रो से आवृत पत्नी पति के समक्ष अपने को अनावृत कर देती है।

२१८. जो अध्येता पुष्प एवं फल से हीन शास्त्रवाणी सुनते हैं, अर्थात् अर्थबोध किए विना शास्त्रो को केवल शब्दपाठ के रूप मे ही पढ़ते रहते हैं, वे वंध्या गाय के समान आचरण करते हैं। अर्थात् जैसे मोटी ताजी वंध्या गाय अपरिचित लोगो को खूब दूध देने की भ्रान्ति पैदा कर देती है, वैसे ही शब्दपाठी अध्येता भी साधारण जनता मे अपने पांडित्य की भ्रान्ति पैदा करता है।

२१९. दूसरो को शास्त्रबोध न देने वाले विद्वान की वाणी फलहीन (निष्प्रयो-

---

दुग्धादर्यस्तिष्ठति, तथा पाठं प्रब्रुवाणश्चरति। १२. केवलं पाठमात्रेणैव-[illegible]तवान्। १३. अर्थ. पुष्पफलं, अर्थवर्जिताम्। १४. स्वार्थबोधनेन उपकारित्वात् [illegible] वेदं यः पुमान् तित्याज तत्याज परार्थविनियोगेन त्यजति। १५. [illegible]:— कश्चिदर्थो नास्ति।

यदी शृणोत्यलकं[1] शृणोति,
नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥

—१०।७१।६

२२०. अक्षण्वंतः कर्णवन्तः सखायो[2],
[3]मनोजवेष्वसमा बभूवुः[4] ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे,
ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ।

—१०।७१।७

२२१. असतः [5]सदजायत ।

—१०।७२।२

२२२. अश्वादियायेति[6] यद् वदन्त्योजसो[7] जातमुतमन्य एनम् ।

—१०।७३।१०

२२३ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो,
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।

—१०।८१।३

२२४. सत्येनोत्तभिता[8] भूमिः ।

—१०।८५।१

२२५ ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति ।

—१०।८५।२

२२६. नवो नवो भवति जायमानो,
ऽह्नांकेतुरुषसामेत्यग्रम् ।

—१०।८५।१९

२२७. गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो[9],
वशिनी[10]त्वं विदथमा[11] वदासि ।

—१०।८५।२६

---

१. अलीकं व्यर्थमेव । २. बाह्येष्विन्द्रियेषु समानज्ञाना इत्यर्थः । ३. मनसा गम्यन्ते इति मनोजवा. प्रज्ञाद्याः तेषु । ४. असमाः अतुल्याः । ५. सत्—नामरूपविशिष्टम् । ६. अश्वाद्—आदित्याद् इयाय उदितवानिति । ७. बलाज्जातम् । ८. उपरि स्तंभिता यथा अधो न पतेत् । यद्वा सत्येन अनृतप्रति-

जन) होती है। वह जो सुनता है (अध्ययन करता है), सब व्यर्थ सुनता क्यों कि वह सुकृत के मार्ग को नहीं जानता है।

२२०. आँख-कान आदि बाह्य इन्द्रियो का एक जैसा ज्ञान रखनेवाले भी मानसिक प्रतिभा में एक जैसे नही होते हैं, कुछ लोग मुख तक गहरे जल वाले तथा कुछ लोग कमर तक गहरे जलवाले जलाशय के समान होते हैं। और कुछ लोग स्नान करने के सर्वथा उपयुक्त गंभीर ह्रद के समान होते है।

२२१. असत् (अव्यक्त) से सत् (व्यक्त) उत्पन्न हुआ है।

२२२. कुछ लोगों का कथन है कि इन्द्र आदित्य से उत्पन्न हुए है, परन्तु मै जानता हूँ कि वे ओजस् (बल) से उत्पन्न हुए है।

२२३. विश्वकर्मा दिव्य आत्मा के आँख, मुख, बाहु और चरण सभी ओर होते हैं। अर्थात् उनकी ओर से होने वाला निर्माण सर्वाङ्गीण होता है, एकांगी नही।

२२४. सत्य से ही पृथ्वी अधर में ठहरी हुई है। अथवा सत्य से ही पृथ्वी धान्य एवं सस्य आदि से फलती है।

२२५. ऋत (सत्य अथवा कर्म) से ही आदित्य (सूर्य आदि देव) अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।

२२६. दिन का सूचक सूर्य प्रतिदिन प्रातःकाल नया-नया होकर जन्म लेता है, उदय होता है।

२२७. हे कन्ये, पतिगृह में जाओ और गृहपत्नी (गृहस्वामिनी) बनो। पति की आज्ञा मे रहते हुए पतिगृह पर यथोचित शासन करो।

[illegible] धर्मेण भूमिरुत्तभिता उद्धृता फलिता भवतीत्यर्थः, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] न फलन्ति। ९. गृहस्वामिनी भवसि। १०. [illegible] वर्तमाना। ११. [illegible]।

२२८. पतिर्बन्धेषु बध्यते।

—१०।८५।२८

२२९. परा देहि[1] शामुल्यं[2] ब्रह्मभ्यो वि भजा[3] वसु।

—१०।८५।२९

२३०. जाया विशते पतिम्।

—१०।८५।२९

२३१. सुगेभिर्दुर्गमतीताम्।

—१०।८५।३२

२३२. सुमङ्गलीरियं[4] वधूरिमां समेत[5] पश्यत।

—१०।८५।३३

२३३. इहैव स्तं मा वि यौष्टं[6] विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥

—१०।८५।४२

२३४. अदुर्मङ्गलीः[7] पतिलोकमा विश,
शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।

—१०।८५।४३

२३५. अघोरचक्षु[8]रपतिघ्न्येधि[9] शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।

—१०।८५।४४

२३६. सम्राज्ञी श्वसुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥

—१०।८५।४६

२३७. समञ्जन्तु[10] विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।

—१०।८५।४७

---

१. परात्यज। २. शमलं—शारीरमलं, शरीरावच्छिन्नस्य मलस्य। ३. प्रयच्छ। ४. सुगैर्मार्गै। ५. शोभनमगला। ६. सर्वे आशीः कर्तारः [illegible] संगच्छत। ७. मा पृथग् भूतम्। ८. या मंगलाचारान् दूषयति सा दुर्[illegible],

२८. गृहपति कर्तव्य के बन्धनों मे बँधा हुआ है।

२९. हे गृहस्वामिनी ! तुम मलिनवस्त्रो का त्याग करो, और ब्राह्मणों (विद्वानो) को दान दो।

३०. योग्य पत्नी, पति में मिल जाती है—अर्थात् पति के मन, वचन, कर्म के साथ एकाकार हो जाती हैं।

३१. सुगम मार्गो से दुर्गम प्रदेश को पार कर जाइए।

३२. यह गृहवधू सुमंगली है, शोभन कल्याणवाली है। आशीर्वाद देने वाले सब लोग आएँ और इसे देखें।

३३. वर और वधू ! तुम दोनो यहाँ प्रेम से रहो, कभी परस्पर पृथक् मत होना। तुम पूर्ण आयु तक पुत्र पौत्रों सहित अपने घर मे आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करते रहो।

३४. हे गृहस्वामिनी, तुम सामाजिक मंगलमय आचार विचारो को दूषित न करती हुई पतिगृह मे निवास करना, तथा हमारे द्विपद और चतुष्पद अर्थात् मनुष्य और पशु सब के लिए कल्याणकारिणी रहना।

३५. हे वधू ! तुम्हारे नेत्र सदा स्नेहशील निर्दोष हों। तुम पति के लिए मंगलमयी, एवं पशुओं के लिए भी कल्याणकारिणी बनो। तुम्हारा मन सदा सुन्दर रहे, और तुम्हारा सौंदर्य अथवा तेजस्विता भी सदा शुभ रहे।

३६. हे वधू ! तुम सास, श्वसुर, ननद और देवरो की सम्राज्ञी (महारानी) बनो, अर्थात् सब परिवार के ऊपर सेवा एवं प्रेम के माध्यम से प्रभुत्व प्राप्त करो।

३७. सभी देवता हम दोनो (पति पत्नी) के हृदयो को परस्पर मिला दें। अथवा लौकिक एवं लोकोत्तर आदि सभी विषयों में हम दोनो के हृदयों को प्रकाशयुक्त (विचारशील) करें।

[illegible] [illegible], तादृशी सती। ६. क्रोधाद् अभयंकरचक्षुरेधि—[illegible]।
[illegible] [illegible]विषयेषु प्रकाशयुक्तानि कुर्वन्तु इत्यर्थः।

२३८. न मत् स्त्री सुभसत्तरा....विश्वस्मादिन्द्र[2] उत्तरः[3]।

—१०।८६।

२३९. परा शृणीहि तपसा यातुधानान्।

—१०।८७।

२४०. गीर्णं भुवनं तमसापगूल्हमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ।

—१०।८८।

२४१. त्वं विश्वस्य जगतश्चक्षुरिन्द्रासि चक्षुषः[4]।

—१०।१०२।

२४२. उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुः।

—१०।१०७।

२४३. दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति, दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां, यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय॥

—१०।१०७।

२४४. दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्।

—१०।१०७।

२४५. दक्षिणान्नं वनुते।

—१०।१०७।

२४६. न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्,
न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
इदं यद् विश्वं भुवनं स्वश्चैतत्,
सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति॥

—१०।१०

२४७. भोजं देवासोऽवता भरेषु[5]।

—१०।१०

---

१. अतिशयेन सुभगा। २. मम पतिरिन्द्रः। ३. उत्कृष्ट.। ४. [illegible]
५. भराः संग्रामाः तेषु।

३८. मुझसे बढ़कर अन्य कोई स्त्री सुभग (भाग्यशालिनी) नही है.... मेरा भाग्यशाली पति सबसे श्रेष्ठ है।

३९. अपने तपस्तेज से दुर्जनो (राक्षसो) को पराभूत कर दो।

४०. (अज्ञानरूप) अन्धकार विश्व को ग्रस लेता है, उसमे सब कुछ छुप जाता है। परन्तु (ज्ञानरूप) अग्नि के प्रकट होते ही सब कुछ प्रकाशमान हो जाता है।

४१. हे इन्द्र ! तुम समग्र विश्व के नेत्र हो, नेत्र वालो के भी नेत्र हो।

४२. जो लोग दक्षिणा (दान) देते है, वे स्वर्ग मे उच्च स्थान पाते हैं।

४३. दानशील व्यक्ति प्रत्येक शुभ कार्य मे सर्वप्रथम आमंत्रित किया जाता है, वह समाज मे ग्रामणी अर्थात् प्रमुख होता है, सब लोगो में अग्रस्थान पाता है। जो लोग सबसे पहले दक्षिणा (दान) देते हैं, मैं उन्हे जन-समाज का नृपति (स्वामी एवं रक्षक) मानता हूँ।

४४. विद्वान् व्यक्ति दक्षिणा को देहरक्षक कवच के समान पापो से रक्षा करने वाली मानते है।

४५. दक्षिणा (दान) ही मानवजाति को अन्न प्रदान करती है।

४६. दाताओं की कभी मृत्यु नही होती, वे अमर है। उन्हे न कभी निकृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, न वे कभी पराजित होते है, और न कभी किसी तरह का कष्ट ही पाते है। इस पृथ्वी या स्वर्ग में जो कुछ महत्वपूर्ण है, वह सब दाता को दक्षिणा से मिल जाता है।

४७. संकटकाल मे देवता लोग दाता की रक्षा करते है।

२४८. भोजः शत्रून्त्समनीकेषु[1] जेता।

—१०।१०७।

२४९. दुर्धां दधाति परमे व्योमन्।

—१०।१०९।

२५०. सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि-
रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

—१०।११४।

२५१. स्वस्तिदा मनसा मादयस्व,
अर्वाचीनो[2] रेवते सौभगाय।

—१०।११६।

२५२. न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददु[3]-
[4]रुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्य[5]-
त्युतापृणन् मर्डितारं[6] न विन्दते॥

—१०।११७।१

२५३. य आध्राय[7] चकमानाय पित्वो[8]
ऽन्नवान्त्सन् [9]रफितायोपजग्मुषे[10]।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो,
चित् स मर्डितारं न विन्दते॥

—१०।११७।२

२५४. स इद् भोजो[11] यो गृहवे[12]ददाति,
अन्नकामाय[13] चरते[14] कृशाय।

---

१. संग्रामेषु। २. अभिमुखांचनो भव। ३. क्षुधं न ददुः न प्राच्छन्, [illegible]
वधमित् वधमेव दत्तवन्तः। ४. यः अदत्वा भुंक्ते तं आशितं भुंजानं पुरुषं [illegible]
५. पृणतः प्रयच्छतः पुरुषस्य रयिः धनं नोपदस्यति—न उपक्षीयते, [illegible]
उपक्षये दैवादिकः, पृण दाने तौदादिकः। ६. आत्मनः सुखयितारं न [illegible]

२४८. दाता ही युद्ध मे आक्रमणकारी शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है।

२४९ तप एवं सदाचार के प्रभाव से निम्नस्तर के व्यक्ति भी उच्च स्थान प्राप्त कर लेते है।

२५०. क्रांतदर्शी मेधावी विद्वान् एक दिव्य (सत्य) तत्त्व का ही नाना वचनों से अनेकविध वर्णन करते हैं।

२५१. विश्व के प्राणियों को स्वस्ति दो, आनन्द दो, और अन्तर्मन से सदा प्रसन्न रहो। तथा सर्वसाधारण जनता को ऐश्वर्य एव सौभाग्य प्रदान करने के लिए सदा अग्रसर रहो।

२५२. देवो ने सब प्राणियो को यह क्षुधा नही दी है, अपितु क्षुधा के रूप मे उन्हे मृत्यु दी है। अतः जो मृत्युरूपी क्षुधा को अन्नदान से शान्त करता है, वही वस्तुतः दाता है। जो विना दिये खाता है, वह भी एक दिन मृत्यु को प्राप्त होता ही है। दाता का धन कभी कम नही होता और अदानशील व्यक्ति को कही भी कोई सुखी करने वाला नही मिलता।

२५३. जो कठोरहृदय पुरुष धन एवं अन्न से संपन्न होते हुए भी, घर पर आए अन्न की याचना करने वाले क्षुधार्त दरिद्र व्यक्ति को भोजन नही देता है, अपितु उसके समक्ष स्वयं भोजन कर लेता है, उसे सुखी करने मे कोई भी समर्थ नही है।

२५४. घर पर आये अन्न की याचना करने वाले व्यक्ति को जो सद्भाव से अन्न देता है, वस्तुतः वही सच्चा दानी है। उसे यज्ञ का संपूर्ण फल

[1]अरमस्मै भवति यामहूता[2],
उतापरीषु[3] कृणुते सखायम् ॥

—१०।११७।३

२५५. न स सखा यो न ददाति सख्ये,
सचाभुवे[4] सचमानाय[5] पित्वः[6] ।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति,
पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥

—१०।११७।४

२५६. पृणीयादिन्नाधमानाय[7] तव्यान्[8],
द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्[9] ।
ओ हि वर्तन्ते[10] रथ्येव चक्रा,
अन्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः[11] ॥

—१०।११७।५

२५७. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः[12],
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं,
केवलाघो[13] भवति केवलादी ॥

—१०।११७।६

२५८. वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान्[14],
पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ।

—१०।११७।७

२५९. कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति,
यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।

—१०।११७।७

---

१. अरमलं पर्याप्तम् । २. यामहुतिः यज्ञः । ३. अपरीपु अन्यासु शात्रवीषु सेनासु सखायं कृणुते तद्वदाचरतीत्यर्थः । तस्य सर्वे सखाय एव, न शत्रव इत्यर्थः । ४. सर्वदा सहभवनशीलाय । ५. सेवमानाय । ६. पितून्—अन्नानि । ७. नाधमानाय—याचमानाय । ८. तव्यान्—तवीयान् धनैरतिशयेन प्रवृद्धः

प्राप्त होता है और उसके शत्रु भी मित्र होते जाते है। अर्थात् उसके सभी मित्र होते हैं, शत्रु कोई नहीं।

२५५. जो सहायता के लिए आये साथी मित्र की समय पर अन्न आदि की सहायता नही करता है, वह मित्र कहलाने के योग्य नही है। ऐसे लोभी मित्र के घर को छोड़कर जब मित्र गण चले जाते है और किसी अन्य उदारहृदय दाता की तलाश करते है तो बन्धुशून्य होने के कारण वह घर घर ही नही रहता।

२५६. संपन्न व्यक्ति को याचक के लिए अवश्य कुछ-न-कुछ देना ही चाहिए; दाता को सुकृत का लवे से लंबा दीर्घपथ देखना चाहिए। जैसे रथ का पहिया इधर उधर नीचे ऊपर घूमता है, वैसे ही धन भी विभिन्न व्यक्तियो के पास आता जाता रहता है, वह कभी एक स्थान पर स्थिर नही रहता। (अतः प्राप्त धन मे से कुछ दान करना ही चाहिए।)

२५७. दान के विचार से रहित अनुदार मन वाला व्यक्ति व्यर्थ ही अन्न (खाद्य सामग्री) पाता है। मैं सच कहता हूँ—एक प्रकार से वह अन्न उसके वध (हत्या) जैसा है, जो गुरुजनो एवं मित्रो को नही दिया जाता है। दूसरो को न देकर जो स्वयं अकेला ही भोजन करता है, वह केवल पाप का ही भागी होता है।

२५८. जैसे प्रवक्ता विद्वान अप्रवक्ता से अधिक प्रिय होता है, वैसे ही दानशील धनी व्यक्ति दानहीन धनी से अधिक जनप्रिय होता है।

२५९. कृषिकर्म करने वाला हल कृषक को अन्न का भोक्ता बनाता है। मार्ग मे चलता हुआ यात्री अपने चरित्र से ऐश्वर्य लाभ करता है।

[illegible]। ९. सुकृतमार्गम्। १०. ओ हि वा उ आवर्तन्ते रथ्येव चक्रा, [illegible] न [illegible]तिष्ठन्ति [illegible]। ११. धनानि। १२. दाने मनो यस्य न भवति। १३. केवल-[illegible] भवति, अदत्वैव केवलं तस्य निष्पते, नैहिकं नामुष्मिकमिति। १४. [illegible] मः प्रियतरो भवति।

२६०. एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे,
द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।

—१०।११७।८

२६१. समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः,
संमातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि,
ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः ॥

—१०।११७।९

२६२. हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा ।
कुवित्[1] सोमस्यापामिति[2] ॥

—१०।११९।९

२६३. दिवि मे अन्यः पक्षोऽधो[3] अन्यमचीकृषम् ।
कुवित् सोमस्यापामिति ।

—१०।११९।११

२६४. अहमस्मि [4]महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः[5] ।

—१०।११९।१२

२६५. स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा[6] सम् ।
अदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥

—१०।१२०।३

२६६. वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।

—१०।१२१।१०

---

१. वहुवारम् । २. सोमम् अपां पीतवानस्मि । ३. अतस्मात् पृथिव्याम् । ४. महामहोऽस्मि—महतामपि महानस्मि । ५. नभो मध्यस्थानं भवं नभ्यं अन्तरिक्षम् । अन्तरिक्षमभि उदीषितः उद्गतः सूर्य आत्मा... ।

२६०. जिस के पास संपत्ति का एक भाग है, वह दो भाग वाले के पथ पर चलता है, दो भाग वाला तीन भाग वाले का अनुकरण करता है. अर्थात् कामना की दौड़ निरन्तर आगे बढ़ती रहती है।

२६१. मनुष्य के दोनो हाथ एक से हैं, परन्तु उनकी कार्यशक्ति एक-सी नही होती। एकही माँ की संतान दो गायें एक जैसी होने पर भी एक जैसा दूध नही देती। एक साथ उत्पन्न हुए दो भाई भी समान बल वाले नही होते। एक वंश की सतान होने पर भी दो व्यक्ति एक जैसे दाता नही होते।

२६२. प्रतिज्ञा करता हूँ कि मै इस पृथ्वी को अपनी शक्ति से इधर उधर जहाँ चाहूँ, उठाकर रख सकता हूँ, क्योकि मै अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। (अर्थात् मैंने वह तत्वज्ञान पाया है, जिसके बल पर मै विश्व मे एक बहुत बडी क्रान्ति ला सकता हूँ।)

२६३. मेरा एक पक्ष (पार्श्व) स्वर्ग मे स्थापित है, तो दूसरा पृथ्वी पर। क्यों कि मै अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ।
(मैंने जीवनदर्शन का वह तत्वज्ञान पाया है कि मैं धरती और स्वर्ग, अर्थात् लोक परलोक, दोनों के कर्तव्य की बहुत अच्छी तरह पूर्ति कर रहा हूँ।)

२६४. मैं अन्तरिक्ष मे उदय होने वाला सूर्य हूँ, मैं महान् से भी महान् हूँ।

२६५. तुम स्वादु (गृह और धनादि प्रिय) से भी अधिक स्वादुतर (प्रियतर) सन्तान को स्वादु (प्रिय) रूप माता पिता के साथ संयोजित करो। मधु को मधु के साथ सब ओर से अच्छी तरह मिश्रित करो।

२६६. हम सब धन (ऐश्वर्य) के स्वामी हों, दास नही।

---

१. स्वादो.—प्रियाद् गृहधनादेरपि स्वादीयः—स्वादुतरं प्रियतरं अपत्यम्, स्वादुना—स्वादुभूतेन मिथुनेन मातापित्रात्मकेन संसृज—संयोजय।

२६७. अहं राष्ट्री[1] संगमनी[2] वसूनां,
चिकितुषी[3] प्रथमा यज्ञियानाम् ।

—१०।१२५।३

२६८. अमन्तवो[4] मां त उपक्षियन्ति[5] ।

—१०।१२५।४

२६९ मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति ।

—१०।१२५।४

२७०. यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि ।

—१०।१२५।५

२७१. अहं जनाय समदं[6] कृणोमि,
अहं द्यावापृथिवी आ विवेश ।

—१०।१२५।६

२७२. परो दिवा पर एना [7]पृथिव्यै-
तावती महिना सं बभूव ।

—१०।१२५।८

२७३. नेतार ऊ षु णस्तिरः ।

—१०।१२६।६

२७४. मह्यं नमन्तां[8] प्रदिशश्चतस्रः[9] ।

—१०।१२८।१

२७५. ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु,
मह्यं वातः पवतां कामे अस्मिन् ।

—१०।१२८।२

---

१. राष्ट्री ईश्वरनामैतत्, सर्वस्य जगत ईश्वरी । २. संगमयित्री—उपासकानां प्रापयित्री । ३. चिकितुषी—यत्साक्षात्कर्तव्यं परं ब्रह्म तद्ज्ञानवती । ४. अजानन्तः । ५. संसारेण हीना भवन्ति । ६. समानं माद्यन्ति अस्मिन् इति

२६७. मैं वाग्देवी समग्र विश्व की अधीश्वरी हूँ, और अपने उपासकों को ऐश्वर्य देने वाली हूँ। मैं ज्ञान से संपन्न हूँ और यज्ञीय (लोकहित कर्मों के) साधनों मे सर्वश्रेष्ठ हूँ।

२६८. जो मुझ वाग्देवी को नहीं जानते, वे संसार में क्षीण अर्थात् दीन-हीन हो जाते हैं।

२६९. जो भी व्यक्ति अन्न खाता है वह मेरे (वाग्देवी) द्वारा ही खाता है और जो भी प्रकाश पाता है वह मेरे द्वारा ही पाता है।

२७०. मैं (वाग्देवी) जिसको चाहती हूँ, उसे सर्वश्रेष्ठ बना देती हूँ।

२७१. मैं वाग्देवी मनुष्य के (उत्थान के) लिए निरंतर युद्ध (संघर्ष) करती रहती हूँ। मै पृथिवी और आकाश मे सर्वत्र व्याप्त हूँ।

२७२. मुझ वाग् देवी की इतनी बड़ी महिमा है कि मैं आकाश तथा पृथ्वी की सीमाओं को भी लाँघ चुकी हूँ।

२७३. नेता हमारी विकृतियो को दूर करें।

२७४. मेरे समक्ष चारो दिशाएँ (चारो दिशाओं के निवासी जन) स्वयं ही नत (विनम्र) हो जाएँ।

२७५. मेरे लिए आकाश अन्धकाराच्छन्न न रह कर सब ओर पूर्ण प्रकाशमान हो जाए। पवन भी अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनुकूलगति से प्रवहमान हो!

समदः संग्रामः। ७. एना पृथिव्याः द्वितीया टौस्वेन इति इदम एनादेशः, अस्या पृथिव्याः परः—परस्तात्। ८. स्वतः एव प्रह्वीभवन्तु। ९. तद्वासिनो जना इत्यर्थः।

२७६. न हि स्थूर्यृतुथा[1] यातमस्ति ।

—१०।१३१।३

२७७. बाधतां द्वेषो, अभयं कृणोतु ।

—१०।१३१।६

२७८. आ वात वाहि भेषजं,[2] वि वात वाहि[3] यद्रपः[4] ।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥

—१०।१३७।३

२७९. आपः सर्वस्य भेषजीः ।

—१०।१३७।६

२८०. जिह्वा वाचः पुरोगवी[5] ।

—१०।१३७।७

२८१. उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।

—१०।१४५।३

२८२. कथा ग्रामं न पृच्छसि, न त्वा भीरिव विन्दतीं ।

—१०।१४६।१

२८३. न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य[6] जग्ध्वाय यथाकामं[7] नि पद्यते[8] ॥

—१०।१४६।५

२८४. आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥

—१०।१४६।६

२८५. श्रद्धयाग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः ।

—१०।१५१।१

---

१. एकेन धुर्येण युक्तं अनः स्थूरीत्युच्यते, ऋतुथा—ऋतौ यद्यस्मिन काले प्राप्तव्यं तद्योग्यकाले । २. भेषजं—सुखं आवाहि—आगमय । ३. विवाहि—विगमय । ४. अस्मदीयं पापम् । ५. यत्र यत्र शब्दः तत्र सर्वत्र तस्य शब्द-

२७६. जिस शकट में एक ही चक्र हो, वह कभी अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच सकता।

२७७. द्वेष से दूर रहिए, सब को अभय बनाइए।

२७८. हे पवन ! तू हम सब को सुख शान्ति प्रदान कर, हमारे विकारों को दूर कर। तेरे में सभी भेषज (औषध) समाये हुए है, तू देवों का दूत है, जो सतत चलता रहता है।

२७९. जल सब रोगो की एक मात्र दवा है। अथवा सब प्राणियों के लिए औषध स्वरूप है।

२८०. जिह्वा वाणी (शब्द) के आगे-आगे चलती है।

२८१. मैं (गृहपत्नी) उत्तम हूँ, और भविष्य में उत्तमो से भी और अधिक उत्तम होऊंगी।

२८२. तुम क्यो नही गांव मे जाने का मार्ग पूछते ? क्या तुम्हे यहाँ (वन मे) अकेले रहने में डर नही लगता ?

२८३. अरण्यानी (वन) अपने यहाँ रहे किसी की हिंसा नहीं करती। यदि व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी न हों तो फिर कोई डर नही है। अरण्यानी मे मनुष्य सुस्वादु फल खाकर अच्छी तरह जीवन गुजार सकता है।

२८४. कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य के समान अरण्यानी का सौरभ है, वहाँ कृषि के विना भी कन्द, मूल, फल आदि पर्याप्त भोजन मिल जाता है। अरण्यानी मृगो की माता है, मैं अरण्यानी का मुक्त मन से अभिनन्दन करता हूं।

२८५. श्रद्धा से ब्रह्म तेज प्रज्ज्वलित होता है, और श्रद्धा से ही हवि (दानादि) अर्पण किया जाता है।

[illegible] पुरतो व्याप्रियते इत्यर्थः। ६. द्वितीयार्थे षष्ठी। ७. [illegible]। ८ [illegible]।

२८६ प्रियं श्रद्धे ददतः, प्रियं[1] श्रद्धे दिदासतः[2]।

—१०।१५१।२

२८७. श्रद्धां हृदय्य याकूत्या, श्रद्धया विन्दते वसु।

—१०।१५१।४

२८८. श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

—१०।१५१।५

२८९. तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।

—१०।१५४।२

२९०. उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।

१०।१५९।१

२९१. अहं केतुरहं मूर्धा ऽहमुग्रा विवाचनी।

—१०।१५९।२

२९२. मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्
उताहमस्मि संजया[3], पत्यौ मे श्लोक[4] उत्तमः।

—१०।१५९।३

२९३. ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः।

—१०।१६०।४

२९४. शतं जीव शरदो वर्धमानः
शतं हेमन्ता ञ्छतमु वसन्तान्।

—१०।१६१।४

२९५. अजैष्माद्यासनाम चा ऽभूमानागसो वयम्।

—१०।१६४।५

---

१. प्रियं अभीष्टफलं कुरु। २. दिदासतः दातुमिच्छतः। ३. सम्यग् जेत्री।

२८६. हे श्रद्धा ! दान देने वाले का प्रिय कर, दान देने की इच्छा रखने वाले का भी प्रिय कर, अर्थात् उन्हें अभीष्ट फल प्रदान कर !

२८७. सब लोग हृदय के दृढ़ संकल्प से श्रद्धा की उपासना करते है, क्यो कि श्रद्धा से ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है ।

२८८. हम प्रातः काल मे, मध्यान्ह मे, और सूर्यास्त वेला में अर्थात् सायंकाल मे श्रद्धा की उपासना करते हैं । हे श्रद्धा ! हमें इस विश्व में अथवा कर्म मे श्रद्धावान कर !

२८९. तप से मनुष्य पापो से तिरस्कृत नही होते, तप से ही मनुष्यों ने स्वर्ग प्राप्त किए हैं ।

२९०. सूर्य का उदय होना, एक प्रकार से मेरे भाग्य का ही उदय होना है ।

२९१ मै (गृहपत्नी) अपने घर की, परिवार की केतु (ध्वजा) हूँ, मस्तक हूँ । जैसे मस्तक शरीर के सब अवयवों का संचालक है, प्रमुख है, वैसे ही मैं सबकी संचालिका हूँ, प्रमुख हूँ । मैं प्रभावशाली हूँ, मुझे सब ओर से मधुर एवं प्रिय वाणी ही मिलती है ।

२९२. मेरे पुत्र शत्रुओ को जीतनेवाले वीर हैं, मेरी पुत्री भी अत्यंत शोभामयी है । मैं सबको प्रेम से जीत लेती हूँ, पति पर भी मेरे यशकी श्रेष्ठ छाप है ।

२९३. जो पुरुष श्रेष्ठ जनो से द्वेष करते है, उन्हें इन्द्र विना कुछ कहे चुपचाप नष्ट कर डालते है ।

२९४. हम दिन प्रतिदिन वर्धमान (प्रगतिशील) रहते हुए सौ शरद, सौ हेमन्त और सौ वसन्त तक जीते रहे ।

२९५. आज हम विजयी हुए है, पाने योग्य ऐश्वर्य हमने प्राप्त कर लिया है । आज हम सब दोषों से मुक्त हो चुके है ।

---

१ [illegible]—[illegible] दन्तः ।

२९६. अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना ।

—१०।१६६।४

२९७. उषा अप स्वसुस्तमः संवर्तयति[1] ।

—१०।१७२।४

२९८. आ त्वा[2]ऽहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः[3] ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ।

—१०।१७३।१

२९९. ध्रुवा द्यौर् ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम् ।

—१०।१७३।४

३००. राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ।

—१०।१७३।५

३०१. अप सेधत दुर्मतिम् ।

—१०।१७५।२

३०२. अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्
आ च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।

—१०।१७७।३

३०३. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।

—१०।१९०।१

३०४. संसमिद्युवसे[4] वृषन्नग्ने [5]विश्वान्यर्य आ ।

—१०।१९१।१

---

१. अपसंवर्तयति—आत्मीयेन तेजसा अपगमयति । २. आहार्षं—अस्मद्राष्ट्रस्य स्वामित्वेनानैषम् । ३. अतिशयेन चलनरहित एव सन् ।

२९६. मैं अपने तेज से सबको अभिभूत करने वाला हूँ। मै विश्वकर्मा (सब कर्म करने मे समर्थ) दिव्य तेज के साथ कर्मक्षेत्र में अवतरित हुआ हूँ।

२९७. उषा अपने तेज से अपनी बहन रात्रिका अंधकार दूर करती है।

२९८. हे राजन् ! तुम राष्ट्र के अधिपति बनाये गये हो, तुम इस राष्ट्र के सच्चे स्वामी बनो, तुम अविचल एवं स्थिर होकर रहो। प्रजा तुम्हारे प्रति अनुरक्त रहे, तुम्हें चाहती रहे। तुम से कभी राष्ट्र का अधः पतन न हो, अमंगल न हो।

२९९. यह आकाश स्थिर है, यह पृथिवी स्थिर है, पर्वत स्थिर है, और क्या, यह समग्र विश्व स्थिर है। इसी प्रकार यह प्रजा की पालना करने वाला राजा भी सदा स्थिर रहे।

३००. राष्ट्र को स्थिरता से धारण करो।

३०१. दुर्बुद्धि को दूर हटाओ।

३०२. मैंने देखा—गोप (भौतिक पक्ष मे सूर्य, अध्यात्मपक्ष में इन्द्रियो का अधिष्ठाता आत्मा) का पतन नही होता। वह कभी समीप तो कभी दूर, नाना मार्गो मे भ्रमण करता रहता है।

३०३. तेजोमय तप के द्वारा ही मन, वाणी एवं कर्म के ऋत अर्थात् सत्य की उत्पत्ति होती है।

३०४. हे बलवान् अग्रणी नेता, आप ही सब को ठीक तरह से संघटित करते हो।

[illegible]—[illegible]। ४. विश्वानि—सर्वाणि भूतजातानि।

२०५. सं गच्छध्वं सं वदध्वं, सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

—१०।१९१।

३०६. समानो मन्त्रः समितिः समानी,
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।

—१०।१९१।३

३०७. समानी व आकूतिः[1] समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

—१०।१९१।४

१. संकल्पोऽध्यवसायः ।

उनहत्तर

३०५. मिलकर चलो, मिलकर बोलो, मिलकर सब एक दूसरे के विचारो को जानो। जैसे कि प्राचीन काल के देव (दिव्य व्यक्ति—ज्ञानीजन) अपने प्राप्त कर्तव्य कर्म मिलकर करते थे, वैसे ही तुम भी मिलकर अपने प्राप्त कर्तव्य करते रहो।

३०६. आप सब का विचार समान (एकसा) हो, आप सब की सभा सब के लिए समान हो। आप सबका मन समान हो और इन सबका चित्त भी आप सब के साथ समान (समभावसहित) हो।

३०७. आप सब का संकल्प एक हो, आप सब के अन्तःकरण एक हो। आप सब का मन (चिन्तन) समान हो, ताकि आप सब अच्छी तरह मिलजुल कर एक साथ कार्य करें।

यजुर्वेद की सूक्तियां

१. इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।

—[1]१।

२. [2]धान्यमसि धिनुहि देवान् ।

—१।२

३. तेजोऽसि, शुक्रमसि, अमृतमसि ।

—१।३

४. सत्या नः सन्त्वाशिषः ।

—२।१

५. स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा ऽअसि वर्चो मे देहि ।

—२।

---

१. अङ्क क्रमशः अध्याय एवं कण्डिका (मन्त्र) के सूचक है। २. धिनो प्रीणनार्थस्य धान्यमिति भवति—उव्वट ।

यजुर्वेद की सूक्तियां*

१. मैं असत्य से हटकर सत्य का आश्रय लेता हूँ।

२. तुम तृप्तिकर्ता धान्य हो, अतः देवताओं (सदाचारी लोगों) को तृप्त करो।

३. तू तेजस्वी है, दीप्तिमान है, और अविनाशी एवं निर्दोष होने के कारण अमृत भी है।

४. हमारे आशीर्वचन सत्य हों।

५. हे प्रभो ! तुम स्वयंभू हो,—स्वयं सिद्ध हो, श्रेष्ठ एवं ज्योतिर्मय हो। तुम ब्रह्म तेज के देने वाले हो, अतः मुझे भी ब्रह्म तेज प्रदान करो।

---

* वाजसनेयि—माध्यंदिन—शुक्ल-यजुर्वेद संहिता, भट्टारक श्रीपाद दामोदर [illegible] द्वारा संपादित (वि० सं० १९८४) संस्करण।

—शुक्ल यजुः संहिता, आचार्य उव्वट तथा महीधर कृत भाष्य सहित, चौखम्बा, (वाराणसी) संस्करण।

*—[illegible] हिन्दी आचार्य उव्वट तथा महीधरकृत भाष्य के हैं।

६. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो[1] देवस्य[2] धीमहि।
धियो[3] यो नः प्रचोदयात्।

—३।३५

७. यद् ग्रामे[4] यदरण्ये[5] यत्सभायां[6] यदिन्द्रिये[7]।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे[8] ॥

—३।४५

८. उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।

—३।६०

९ दीक्षातपसोस्तनूरसि !

—४।२

१०. इयं ते यज्ञिया तनूः।

—४।१३

११. समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः।

—५।३३

१२. मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वम्।

—५।३४

१३. अग्ने ! नय सुपथा रायेऽस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

—५।३६

१४. सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।

—५।४३

---

१. भर्गशब्दो वीर्यवचनः....अथवा भर्गस्तेजोवचनः—उव्वट। २. दानादि-गुणयुक्तस्य—उव्वट। ३. धीशब्दो बुद्धिवचनः कर्मवचनो वाग्वचनश्च—उव्वट। ४. ग्रामोपद्रवरूपम्। ५. मृगोपद्रवरूपम्। ६. महाजनतिरस्कारादिरूपम्।

६. हम दानादि दिव्य गुणों से समृद्ध सवितादेव के महान् वीर्य एवं तेज का ध्यान करते हैं, वह हमारी बुद्धि को सत्कर्मों के निमित्त प्रेरित करे।

७. गांव मे रहते हुए हमने जो जनता के उत्पीडन का पाप किया है, वन में रहते हुए पशुपीडन का जो पाप किया है, सभा मे असत्य भाषण तथा महानुपुरुषो का तिरस्काररूप जो पाप किया है, इन्द्रियो द्वारा मिथ्याचरण रूप जो पाप हम से बन गया है, उस सब पाप को हम सदाचरण के द्वारा नष्ट करते हैं।

८. जिस प्रकार पका हुआ उर्वारुक (एक प्रकार की ककड़ी या खीरा) स्वयं वृन्त से टूट कर गिर पड़ता है, उसी प्रकार हम मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो, अविनाशी अमृततत्व से नही।

९. तू दीक्षा और तप का साक्षात् शरीर है।

१०. यह तेरा शरीर यज्ञ (सत्कर्म) के लिए है।

११. तू सत्य ज्ञान का अगाध समुद्र है। तू कृताकृत के प्रत्यवेक्षण द्वारा सभी सत्कर्मों की उपलब्धि कर सकता है।

१२. मुझे मित्र की आंखो से देखिए।

१३. सभी सन्मार्गों के जानने वाले हे अग्रणी नेता! तू हमे ऐश्वर्य के लिए श्रेष्ठ मार्ग से ले चल।

१४. हम अपने सत्कर्म के बल से समृद्धि की हजारो-हजार शाखाओ के रूप मे प्रस्फुरित हो।

१५. मनस्त आप्यायताम्, वाक्त आप्यायताम्,
प्राणस्त आप्यायताम्, चक्षुस्त आप्यायताम्,
श्रोत्रं त आप्यायताम् ।

—६।१५

१६. यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायताम् ।

—६।१५

१७. दिवं ते धूमो गच्छतु, स्वर्ज्योतिः ।

६।२१

१८. मा भेर्मा संविक्थाः[1] ऊर्जं धत्स्व ।

—६।३५

१९. देवो देवेभ्यः पवस्व[2] ।

—७।१

२०. स्वाङ्कृतोऽसि[3] ।

—७।३

२१. सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीहि ।

—७।१३

२२. सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा ।

—७।१४

२३. कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता ।

—७।४८

२४. कदाचन [4]स्तरीरसि नेन्द्र !

—८।२

२५. अहं परस्तादहमवस्ताद् ।

—८।६

---

१. ओविजी भयचलनयोः । संपूर्वः कम्पनमभिधत्ते, मा च त्वं कम्पनं कृथाः—उव्वट । २. प्रवृत्ति कुरु—उव्वट । ३. स्वयंकृतोऽसीति प्राप्ते छन्दसि यथा[illegible] ।

१५. तेरे मन, वाणी, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र सब शान्त तथा निर्दोष हों।

१६. जो भी तेरा क्रूर कर्म है, अशान्त भाव है, वह सब शान्त हो जाए।

१७. तेरा धूम (कर्म की ख्याति) स्वर्ग लोक तक पहुँच जाए और ज्योति—तेज अन्तरिक्ष तक।

१८. तुम भयभीत तथा चचल न बनो। अपने अन्तर में ऊर्जा (स्फूर्ति एवं शक्ति) धारण करो।

१९. तू स्वयं देव होकर देवो के लिए प्रवृत्ति कर।

२०. तू स्वयं कृत है, अर्थात् स्वयं उत्पन्न होने वाला स्वयभू है।

२१. हे वीर! तू विश्व मे वीरो का निर्माण करता चल।

२२. यह विश्व को वरण करने वाली श्रेष्ठ संस्कृति है।

२३. कामना ही देने वाली है, कामना ही ग्रहण करने वाली है।

२४. हे इन्द्र! तू कभी भी क्रूर (हिंसक) नही होता है अर्थात् सदा सौम्य रहता है।

२५. मैं विश्व के ऊपर भी हूं, नीचे भी हूँ। अर्थात् मैं पुण्य कर्म से ऊँचा होता हूं, तो पाप कर्म से नीचा हो जाता हूँ।

[illegible]—उव्वट। ४. स्तरीहिंसको नास्ति—महीधर।

२६. नमो मात्रे पृथिव्यै,
नमो मात्रे पृथिव्यै[1]।

—९।२२

२७. वयं राष्ट्रे जागृयाम।

—९।२३

२८. पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मोऽअहं त्वाम्।

—१०।२३

२९. युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे[2]।
स्वर्ग्याय शक्त्या।

—११।२

३०. शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः।

—११।५

३१. दिव्यो गन्धर्वः[3] केतपूः केतं[4] नः पुनातु,
वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।

—११।७

३२. अरक्षसा मनसा तज्जुषेत[5]।

—११।२४

३३. सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो ऽअग्निः।

—११।३६

३४. संशितं[6] मे ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्[7],
संशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः।

—११।८१

---

१. अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्त इति द्विर्वचनम्—उव्वट। २. सवे प्रसवे—आज्ञायां वर्तमानाः—महीधर। ३. गां वाचं धारयतीति गंधर्वः—महीधर। ४. चित्तवर्ति ज्ञानम्—महीधर। ५. तद् हविर्जुषस्व भक्षयस्व—उव्वट।

२६. मैं माता पृथिवी को नमस्कार करता हूँ, मैं माता पृथिवी को नमस्कार करता हूँ।

२७. हम राष्ट्र के लिए सदा जाग्रत (अप्रमत्त) रहें।

२८. हे पृथिवी माता, न तू मेरी हिंसा कर और न मैं तेरी हिंसा करूँ।

२९. विश्व के स्रष्टा दिव्य आत्माओं की आज्ञा मे रहने वाले हम, एकाग्र मन से पूरी शक्ति के साथ, स्वर्ग (अभ्युदय) के साधक सत्कर्म करने के लिए प्रयत्नशील रहे।

३०. अमृत (अविनाशी ईश्वर) के पुत्र सभी लोग सत्य का सन्देश श्रवण करें।

३१. ज्ञान के शोधक श्रेष्ठ विद्वान हमारे ज्ञान को पवित्र एवं स्वच्छ बनाएं, वाणी के अधिपति विद्वान् हमारी वाणी को मधुर एवं रोचक बनाएँ।

३२. क्षोभरहित प्रसन्न मन से भोजन करना चाहिए।

३३. समाज के अग्रणी नेता को पवित्र जिह्वा वाला और हजारों का पालन पोषण करने वाला होना चाहिए।

३४ मेरा ब्रह्म (ज्ञान) तीक्ष्ण है, मेरा वीर्य (इन्द्रिय शक्ति) और बल (शरीर शक्ति) भी तीक्ष्ण है अर्थात् अपना-अपना कार्य करने मे सक्षम है। मैं जिस का पुरोहित (नेता) होता हूँ उसका क्षत्र (कर्म शक्ति) भी विजयशील हो जाता है।

---

६. [illegible] तीक्ष्णीकृतम्। ७. वीर्यमिन्द्रियशक्तिः, बलं शारीरशक्तिः, तदुभयं [illegible] एतद्—महीधर।

३५. उदेषां बाहूऽअतिरमुद्वर्चोऽअथो बलम् ।
क्षिणोमि ब्रह्मणा मित्रानुन्नयामि स्वाँऽअहम् ॥

—११।८२

३६. ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ।

—११।८३

३७. [1]शुक्र-ज्योतिर्विभाहि ।

—१२।१५

३८. त्वं हरसा[2]तपञ्जातवेदः शिवो भव !

—१२।१६

३९. मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ।

—१२।३२

४०. लोकं पृण छिद्रं पृण !

—१२।५४

४१. सं वां मनांसि सं व्रता[3] समु [4]चित्तान्याकरम् ।

—१२।५८

४२. देवयानाऽअगन्म तमसस्पारमस्य, [5]ज्योतिरापाम ।

—१२।७३

४३. त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात्[6] ।

१२।१००

४४. नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु[7] ।

—१३।६

१. शुक्लकर्मसाधनम्—उव्वट । २. हरसा—ज्योतिषा—उव्वट । ३. व्रतमिति कर्मनाम । ४. चित्तशब्देन संस्कारा मनोगता उच्यन्ते—उव्वट ।

३५. ब्राह्मणों (ज्ञानयोगी) और क्षत्रियो (कर्मयोगी) में मेरी भुजाएँ ऊँची हैं। मेरा ब्रह्मतेज और ब्रह्म-बल विश्व के सभी तेज और बलों को पार कर गया है। मैं अपने ब्रह्मबल से विरोधियों को पराजित करता हूँ और अपने साथियो को उन्नति की ओर ले जाता हूँ।

३६. हमारे मनुष्यों और पशुओं--सभी को अन्न प्रदान करो।

३७. शुक्ल कर्म की ज्योति विविध रूपो मे प्रदीप्त करो।

३८. हे विज्ञ पुरुष ! अपनी ज्योति से प्रदीप्त होता हुआ तू सब का कल्याण करनेवाला शिव बन !

३९. तू अपने शरीर से किसी को भी पीड़ित न कर।

४०. तुम विश्व की रिक्तता को पूर्ण करदो, और छिद्रों को भर दो।

४१. मैं तुम्हारे मनो (विचारों) को सुसंगत अर्थात् सुसंस्कृत एवं एक करता हूँ, मैं तुम्हारे व्रतो (कर्मों) और मनोगत संस्कारों को सुसंगत करता हूँ अर्थात् एक करता हूँ।

४२. दिव्य कर्म करने वाले देवयानी आत्मा ही इस मोह-वासनारूप अन्धकार के पार होते है और परमात्म-रूप ज्योति को प्राप्त होते हैं।

४३. तू दीर्घायु होकर सहस्र अंकुरो के रूप मे उत्पन्न हो,—प्रवर्धमान हो।

४४. पृथ्वी पर के जितने भी लोक (मानव-प्राणी) हैं, मैं उन सभी को नमस्कार करता हूं।

४५. ऊर्ध्वो भव !

—१३।१३

४६. काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च॥

—१३।२०

४७. गां मा हिंसीरदितिं विराजम्।

—१३।४३

४८. वसन्तः प्राणायनः।

—१३।५४

४९. मनो वैश्वकर्मणम्।

—१३।५५

५०. इदमुत्तरात् स्वः।

—१३।५७

५१. इयमुपरि मतिः[1]।

—१३।५८

५२. विश्वकर्म ऽऋषिः[2]।

—१३।५८

५३. सत्याय सत्यं जिन्व....धर्मणा[3] धर्म जिन्व[4]।

—१५।६

५४. श्रुताय श्रुतं जिन्व।

—१५।७

५५. मा हिंसीः पुरुषं जगत्।

—१६।३

---

१. वाग् वै मतिः—उव्वट। २. वाग् वै विश्वकर्म ऋषिः। वाचाहीदं सर्वं

४५. ऊँचे उठो ! अर्थात् कर्तव्य के लिए खड़े हो जाओ ।

४६. हे दूर्वा ! तुम प्रत्येक काण्ड और प्रत्येक पर्व से अंकुरित होती हो, इसी प्रकार हम भी सैंकड़ों हजारों अंकुरों के समान सब ओर विस्तृत हों ।

४७. दुग्ध-दान आदि के द्वारा शोभायमान अदिति-(जो कभी भी मारने योग्य नही है) गौ को मत मारो ।

४८. वसन्त प्राणशक्ति का पुत्र है ।

४९. मन विश्व कर्मा का पुत्र है (अतः वह सब कुछ करने में समर्थ है) ।

५०. उत्तरदिशा में अर्थात् उत्तम विचार दृष्टि में स्वर्ग है ।

५१. यह बुद्धि अथवा वाणी ही सर्वोपरि है ।

५२. यह वाणी ही विश्वकर्मा (सब कुछ करने वाला) ऋषि है ।

५३. सत्य के लिए ही सत्य को परिपुष्ट करो....धर्म के लिए ही धर्म को परिपुष्ट करो ।

५४. श्रुत (ज्ञान) के लिए ही श्रुत को परिपुष्ट करो ।

५५. मनुष्य और जंगम (गाय, भैंस आदि) पशुओं की हिंसा न करो ।

[illegible] । ३. धर्मणा धर्ममिति विभक्तिव्यत्यय: । ४. जिन्वतिः तर्पणार्थः —[illegible] ।

५६. नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमः।

—१६।२४

५७. नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमः।

—१६।२६

५८. नमो महद्भ्योऽअर्भकेभ्यश्च वो नमः।

—१६।२६

५९. नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमः,
नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः॥

—१६।२७

६०, नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च
नमः पूर्वजाय चापरजाय च,
नमो मध्यमाय च।

—१६।३२

६१. प्रेता[1] जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवो ऽनाधृष्या[2] यथासथ॥

—१७।४६X

६२. स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽआ द्यां रोहन्ति रोदसी[3]।
यज्ञं ये विश्वतो धारं सुविद्वांसो[4] वितेनिरे॥

—१७।६८

६३. एताऽअर्षन्ति[5] हृद्यात्समुद्रात्
शतव्रजा[6] रिपुणा नावचक्षे[7]।

---

१. प्रकर्षेण गच्छत। २. केनाऽपि अतिरस्कार्या भवत—महीधर।
X ऋग्वेद १०।१०३।१३। ३. रुणद्धि जरामृत्युशोकादीन् सा रोदसी—महीधर। ४. सुविद्वांसः ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिणः—उव्वट। ५. एता वात

१६. सभी सभाओं (लोकहितकारी संगठन) और सभापतियों को हमारा नमस्कार है।

१७. राष्ट्ररक्षक सेनाओं और सेनापतियों को नमस्कार है।

१८. छोटे बड़े सभी को नमस्कार है।

१९. शिल्पविद्या के विशेषज्ञ, रथकार (याननिर्माता), कुलाल (कुम्हार) एवं कर्मार (लुहार)—सभी को नमस्कार है।

२०. बड़ों को नमस्कार है, छोटों को नमस्कार है, तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान के सभी श्रेष्ठ जनों को नमस्कार है।

२१. हे वीरपुरुषो! दृढ़ता के साथ आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो। इन्द्र (तुम्हारा आत्मचैतन्य) तुम्हारा कल्याण करे, तुम्हारी भुजाएँ अत्यंत प्रचण्ड पराक्रम शाली हों, ताकि कोई भी प्रतिद्वन्द्वी शत्रु तुम्हें तिरस्कृत न करने पाए।

२२. जो ज्ञान एवं कर्म के समन्वयकारी विद्वान् विश्व के धारण करने वाले [illegible] यज्ञ का अनुष्ठान करते है, वे स्वर्ग लोक मे गमन करते हुए [illegible] दिव्य स्थिति को प्राप्त होते है, उन्हे फिर किसी की अपेक्षा [illegible] है।

२३. [illegible] के अन्त मे आप्लुत चिन्तनशील हृदयरूपी समुद्र से सैकड़ो ही अर्थ-[illegible] से युक्त वाणियां निकलती है, जो घृत-धारा के समान अवि-

घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि[1]
हिरण्ययो वेतसो[2] मध्यऽआसाम् ।

—१७।

६४. सम्यक् स्रवन्ति सरितो न[3] धेना[4]
ऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः[5] ।

—१७।६

६५. सत्यं च मे श्रद्धा च मे
जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे ।
महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे
जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्
—१८

६६. ज्योतिर्[6] यज्ञेन कल्पतां, स्वर्यज्ञेन कल्पताम् ।

—१८।

६७. विश्वाऽआशा वाजपतिर्[7]जयेयम् ।

—१८।

६८. पयस्वतीः[8] प्रदिशः सन्तु मह्यम् ।

—१८।

६९. प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः ।

—१८।

७०. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्[9] ॥

—१८।

---

१. पश्यामि । २. हिरण्ययो हिरण्मयो दीप्यमानो वेतसोऽग्नि...
अग्निर्हि वाचामधिष्ठात्री देवता—महीधर । ३. नद्य इवानवच्छिन्नोदक...
प्रवृद्धाः । ४. धेना वाचः । ५. विविच्यमानाः—उव्वट । ६. ज्योतिः...

च्छिन्न रूप से वहती हुई, कुतार्किकरूप शत्रुओं द्वारा अवरुद्ध एवं खण्डित नही की जा सकती। मै इन वाणियों के मध्य में ज्योतिर्मान अग्नि (तेज) को सब ओर देखता हूँ।

६४. अन्तर्हृदय में चिन्तन से पवित्र हुई वाणियाँ ही नदियों के समान अविच्छिन्न धारा से भली भांति प्रवाहित होती हैं।

६५. सत्य, श्रद्धा, यह स्थावर जंगमरूप विश्व एवं ऐश्वर्य, दीप्ति, क्रीड़ा एवं हर्ष, भूत एवं भविष्य के सुख, सुभाषित एवं सुकृत—सब कुछ मुझे यज्ञ (सत्कर्म) से प्राप्त हों।

६६. यज्ञ (लोकहितकारी श्रेष्ठकर्म) के प्रभाव से हमें परमज्योतिरूप ईश्वर की प्राप्ति हो, स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति हो।

६७. मैं अन्न से समृद्ध होकर सब दिशाओं को विजय कर सकता हूँ।

६८. मेरे लिए सभी दिशा एवं प्रदिशाएँ रस देन वाली हों।

६९. यह मनस्वी गन्धर्व प्रजापति और विश्वकर्मा है—अर्थात् प्रजा का पालन करने वाला एवं विश्व के सब कार्य करने में समर्थ है।

७०. हे देव! हमारे ब्राह्मणो (ज्ञानयोगियो) को तेजस्वी करो! हमारे क्षत्रियों (कर्मयोगियो) को तेजस्वी करो। हमारे वैश्यो (एक दूसरे के सहयोगी व्यवसायी जनो) को तेजस्वी करो और हमारे शूद्रों ([illegible] लोगो) को भी तेजस्वी करो और मुझ मे भी विश्व के सब [illegible] से बढ़कर सदा अविच्छिन्न रहने वाले दिव्य तेज का आधान करो।

[illegible]—महीधर। ७. वाजपतिः समृद्धान्नः सन्—महीधर। [illegible]—महीधर। ९. अनुत्पन्नधर्माणो यथावयं दीप्त्या भवेम [illegible]—[illegible]।

७१. तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि।

—१९।

७२. वाचा सरस्वती भिषग्।

—१९।१

७३ पशुभिः पशूनाप्नोति।

—१९।

७४. इडाभिर्[1]भक्षानाप्नोति सूक्तवाकेनाशिषः।

—१९।

७५. व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा [2]श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते।

—१९।३

७६. आरे बाधस्व दुच्छुनाम्[3]।

—१९।३

७७. पुनन्तु मा देवजनाः,
पुनन्तु मनसा धियः,
पुनन्तु विश्वा भूतानि।

—१९।३

७८. रत्नमभजन्त धीराः।

—१९।४

---

१. भक्षैभंक्षान्--उव्वट। २. श्रदिति (निघ० ३, १०, २) सत्यनाम,

७१ हे देव, तुम तेजःस्वरूप हो, अतः मुझे तेज प्रदान करो । तुम वीर्य (वीरकर्म, वीरता) स्वरूप हो, अतः मुझे वीर्य प्रदान करो ।
तुम बल (शक्ति) स्वरूप हो, अतः मुझे बल प्रदान करो । तुम ओजः स्वरूप (कान्तिस्वरूप) हो, अतः मुझे ओजस् प्रदान करो ।
तुम मन्यु (मानसिक उत्साह) स्वरूप हो, अतः मुझे मन्यु प्रदान करो ।
तुम सह (शांति, सहिष्णुता) स्वरूप हो, अतः मुझे सह प्रदान करो ।

७२. वाणी ज्ञान की अधिष्ठात्री होने से सरस्वती है, और उपदेश के द्वारा समाज के विकृत आचार-विचाररूप रोगों को दूर करने के लिए वैद्य है ।

७३ पशुता के विचारो से पशुत्व प्राप्त होता है ।

७४. भोजन से भोजन मिलता है और आशीर्वाद से आशीर्वाद । अर्थात् जो दूसरो को भोजन एवं आशीर्वाद देता है, बदले मे उसको भी भोजन एवं आशीर्वाद प्राप्त होता है ।

७५. व्रत (सत्कर्म के अनुष्ठान) से दीक्षा (योग्यता) प्राप्त होती है, दीक्षा से दक्षिणा (पूजा प्रतिष्ठा ऐश्वर्य) प्राप्त होती है । दक्षिणा से श्रद्धा प्राप्त होती है और श्रद्धा से सत्य (ज्ञान, अनन्त ब्रह्म) की प्राप्ति होती है ।

७६. दुर्जनरूपी दुष्ट कुत्तो को दूर से भगा दो ।

७७ देव जन (दिव्यपुरुष) मुझे पवित्र करे, मन (चिन्तन) से सुसंगत धी (बुद्धि अथवा कर्म) मुझे पवित्र करे । विश्व के सभी प्राणी मुझे पवित्र करें अर्थात् मेरे सत्कर्म मे सहयोगी बनें ।

७८. और पुरुष ही रत्न (कर्म का सुन्दर फल) पाते हैं ।

[illegible] आन्तिरपबुद्धिः—महीधर । २. शुना [illegible]
[illegible]—उव्वट ।

७६. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ।

—१९।७७

८०. शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ।
राजा मे प्राणोऽअमृतं सम्राट्[1] चक्षुर्विराट्[2] श्रोत्रम् ।

—२०।५

८१. जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो, मनो मन्युः स्वराड् भामः ।

—२०।६

८२. बाहू मे बलमिन्द्रियं[3] हस्तौ मे कर्मवीर्यम्[4] ।
आत्मा क्षत्र[5]मुरो मम ।

—२०।७

८३. जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि
विशि राजा प्रतिष्ठितः ।

—२०।९

८४. यदि जाग्रद् यदि स्वप्नऽएनांसि चकृमा वयम् ।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः ।

—२०।१६

८५. [6]वैश्वानरज्योतिर्भूयासम् ।

—२०।२३

८६. यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ।

—२०।२५

---

१. सम्यक् राजते सम्राट्—महीधर । २. विविधं राजमानमनु—महीधर । ३. इन्द्रियं च बलं स्वकार्यक्षमम्—महीधर । ४. सत्कर्मकुशलौ सामर्थ्यवन्तौ च स्तामित्यर्थः—महीधर । ५. क्षतात् त्राणकरमस्तु—महीधर ।

७९. प्रजापति ने सत्यासत्य को देखकर उन्हें विचारपूर्वक पृथक्-पृथक् स्थापित किया ! असत्य में अश्रद्धा को और सत्य में श्रद्धा को स्थापित किया।

८०. मेरा शिर श्रीसंपन्न हो, मेरा मुख यशस्वी हो, मेरे केश और श्मश्रु कान्तिमान हो ! मेरे दीप्यमान प्राण अमृत के समान हों, मेरे नेत्र ज्योतिर्मय हों, मेरे श्रोत्र विविध रूप से सुशोभित हों।

८१. मेरी जिह्वा कल्याणमयी हो, मेरी वाणी महिमामयी हो, मेरा मन प्रदीप्त साहसी हो, और मेरा साहस स्वराट् हो, स्वयं शोभायमान हो, उसे कोई खण्डित न कर सके।

८२. मेरे दोनों बाहु और इन्द्रियां बलसहित हों, कार्यक्षम हों। मेरे दोनों हाथ भी कुशल हों, मजबूत हो। मेरी आत्मा और हृदय सदैव जनता को दुःखो से मुक्त करने मे लगे रहें।

८३. मैं अपनी जंघाओ और पैरों से अर्थात् शरीर के सब अंगों से धर्मरूप हूँ। अतः मैं अपनी प्रजा मे धर्म से प्रतिष्ठित राजा हूँ।

८४. मैंने जागृत अवस्था मे अथवा सोते हुए जो पाप किए हैं, उन सब पापों से सूर्य (ज्योतिर्मय महापुरुष) मुझे भली प्रकार मुक्त करें।

८५. मैं विश्वकल्याणकारी ईश्वरीय ज्योति होऊँ[1]।

८६. जहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय समान मन वाले होकर अवियुक्त भाव से एक साथ चलते हैं, कर्म करते हैं। और जहाँ देवगण अग्नि (आध्यात्मिक तेज) के साथ निवास करते हैं, मैं उस पवित्र एवं प्रज्ञानरूप दिव्य लोक (जीवन) को प्राप्त करूँ।

---

१ विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितो वैश्वानरः परमात्मा, तद्रूपं ज्योतिः [illegible] — महीधर।

८७. भद्रवाच्याय प्रेषितो[1]
मानुषः सूक्तवाकाय[2] सूक्ता ब्रूहि ।

—२१।६

८८. धिया भर्गं[3] मनामहे ।

—२२।१४

८९. कः स्विदेकाकी चरति, कऽउ स्विज्जायते पुनः ?
किं स्विद्धिमस्य भेषजं, किम्वावपनं[4] महत् ?

सूर्य एकाकी चरति, चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं, [5]भूमिरावपनं महत् ॥

— २३।९-१०

९०. का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः, किं स्विदासीद् बृहद्वयः ।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला, का स्विदासीत् पिशङ्गिला ?

[6]द्यौरासीत्पूर्वचित्ति[7]रश्वऽआसीद् बृहद्वयः ।
[8]अविरासीत् पिलिप्पिला, रात्रिरासीत् पिशङ्गिला[9] ॥

—२३।११-१२

९१. किं स्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किं समुद्रसमं सरः ?
किं स्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ?

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः [10]समुद्रसमं सरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ।

—२३।४७-४८

---

१. भद्रं ब्रूहीति प्रेपितोऽसीत्यर्थः—महीधर । २. सूक्तवचनाय—महीधर । ३. भर्ग—भजनीयं धनम्—उव्वट । ४. उप्यते निक्षिप्यतेऽस्मिन्निति आवपनम् —उव्वट । ५. अयं वै लोक आवपनं महद्, अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठतीति श्रुतेः —महीधर । ६. द्युग्रहणेनात्र वृष्टिर्लक्ष्यते । सा हि पूर्वं सर्वैः प्राणिभिश्चिन्त्यते । —महीधर । ७. पूर्वस्मरणविषया—महीधर । ८. अविः पृथिव्यभिधीयते—उव्वट ।

८७. मनुष्य कल्याणकारी सुभाषित वचनो के लिए ही प्रेषित एवं प्रेरित है; अतः तुम कथनयोग्य सूक्तों (सुभाषित वचनो) का ही कथन करो।

८८. हम विचार एवं विवेक के साथ ऐश्वर्य चाहते हैं।

८९. कौन अकेला विचरण करता है ? कौन क्षीण होकर पुनः प्रकाशमान हो जाता है ? हिम (शीत) की औषधि क्या है। ? बीज बोने का महान् क्षेत्र क्या है ?

सूर्य अकेला विचरण करता है, चन्द्रमा क्षीण होकर भी पुनः प्रकाशमान हो जाता है। हिम की औषधि अग्नि है, बीज बोने का महान् क्षेत्र यह पृथिवी है, अर्थात् सत्कर्म के बीज बोने का खेत यह वर्तमान लोकजीवन ही है।

९०. जनता द्वारा सर्वप्रथम चिंतन का विषय कौन है ? सब से बड़ा पक्षी कौन है ? चिकनी वस्तु कौन सी है ? रूप को निगलने वाला कौन है ?

जनता द्वारा सबसे पहले चिंतन का विषय वृष्टि है। अश्व ही गमन करने वाला सब से बड़ा पक्षी है। रक्षिका पृथिवी ही वृष्टि द्वारा चिकनी (पिलिप्पिला) होती है, रात्रि ही सब रूपों (दृश्यों) को निगलने वाली है।

९१. सूर्य के समान ज्योति कौन सी है ? समुद्र के समान सरोवर क्या है ? पृथिवी से महान् क्या है ? किस का परिमाण (सीमा) नही है।

सूर्य के समान ज्योति ब्रह्म है। समुद्र के समान सरोवर अन्तरिक्ष है। इन्द्र (चैतन्य तत्व) पृथिवी (भौतिक तत्व) से अधिक महान् है, वाणी का परिमाण नही है।

---

१. [illegible] रूपनाम, रात्रिर्हि सर्वाणि रूपाणि गिलति अदृश्यानि करोति—[illegible]। १०. द्यौः अन्तरिक्षं यतो वृष्टिर्भवति—महीधर।

महीधर 'गौ' से 'गाय' अर्थ लेते हैं—"गोः धेनोः मात्रा न विद्यते।" [illegible] पृथिवी अर्थ भी लेते हैं—पृथिवी वा गोः।

९२. यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः,[1]
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

—२५।१३X

९३. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय[2] च स्वाय चारणाय[3] च ।

—२६।२

९४. बृहस्पतेऽअति यदर्यो अर्हाद्[4] द्युमद्[5]विभाति[6] क्रतुमज्[7]जनेषु ।
यद्दीदयच्छवस[8]ऽऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ।

—२६।३

९५. उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रोऽअजायत ।

—२६।१५

९६. त्वं हि रत्नधाऽअसि ।

—२६।२१

९७. देवो[9] देवेसु देवः ।

—२७।१२

९८. अश्मा[10] भवतु नस्तनूः ।

—२९।४९

९९. ब्रह्मणे ब्राह्मणं....तपसे शूद्रम् ।

—३०।५

X ऋग्वेद १०।१२१।२, अथर्ववेद ४।२।२ । १. यस्य छाया आश्रयः परि-ज्ञानपूर्वकमुपासनं अमृतं अमृतत्वप्राप्तिहेतुभूतं, यस्य च अपरिज्ञानं मृत्युः मृत्यु-प्राप्तिहेतमूतम्—उव्वट । यस्य अज्ञानमिति शेषः, मृत्युः संसारहेतुः—महीधर
२. अर्यो वैश्यः—उव्वट । ३. अरणाय च अरणः अपगतोदकः पर इत्यर्थः
४. ईश्वरयोग्यं धनं देहि—महीधर । ५. द्यौः कान्तिरस्याऽस्ति द्युमत्—

९२. जिस की शान्त छाया (आश्रय-उपासना) में रहना ही अमरत्व प्राप्त करना है, और छाया से दूर रहना ही मृत्यु प्राप्त करना है, उस अनिर्वचनीय परम चैतन्य देव की हम उपासना करें।

९३. मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य,—अपने और पराये सभी जनों के लिए कल्याण करने वाली वाणी बोलता हूँ।

९४. अविनाशी सत्य से जन्म लेने वाले बृहस्पति! तुम हम लोगों को वह चित्र (नाना प्रकार का) वैभव अर्पण करो, जो श्रेष्ठ गुणीजनों का सत्कार करने वाला और कांतिमान् हो, जो यज्ञ (सत्कर्म) के योग्य और जनता मे प्रतिष्ठा पाने वाला हो।। और जो अपने प्रभाव से अन्य ऐश्वर्य को लाने मे समर्थ हो।

९५. पर्वतों की उपत्यकाओ मे और गगा आदि नदियो के संगम पर ही अपनी श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा ब्राह्मणत्व (ज्ञान शक्ति) की प्राप्ति होती है।

९६. मानव! तू रत्नधा (अनेक सद्गुणरूप रत्नो को धारण करने वाला) है।

९७. देवो मे दानादि गुणो से युक्त ही देव (दीप्तिमान) होता है।

९८. हमारे शरीर पत्थर के समान सुदृढ हों।

९९. ब्रह्म (ज्ञान) के लिए ब्राह्मण को और तप के लिए शूद्र को नियुक्त करना चाहिए।

महीधर। ६. यद् धनं जनेषु लोकेषु विभाति विविधं शोभते—महीधर। [illegible] निवसते तादृशं धनं देहि—महीधर। ८. यद् धनं शवसा-बलेन दीदयत् [illegible] धनान्तरं तद्धनं देहीत्यर्थः। ९. देवो दानादिगुणयुक्तः— [illegible] पाषाणतुल्यदृढा—महीधर।

१००. धर्माय सभाचरम् ।

—३०।६

१०१. स्वप्नाय अन्धमधर्माय बधिरम् ।

—३०।१०

१०२. मर्यादायै प्रश्नविवाकम् ।

—३०।१०

१०३. वैरहत्याय पिशुनम् ।

—३०।१३

१०४. स्वर्गाय लोकाय भागदुघम् ।[1]

—३०।१३

१०५. भूत्यै जागरणम्[2], अभूत्यै स्वपनम्[3] ।

—३०।१७

१०६. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्[4] ।

—३१।१

१०७. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं[5] तमसः परस्तात्[6] ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

—३१।१८

१०८. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च[7] ते पत्न्यौ[8] ।

—३१।२२

---

१. भागं दुग्धे—भागदुघस्तं विभागप्रदम्—महीधर । २. जागरणम्—महीधर । ३. शयानम्—महीधर । ४. दश च तानि अंगुलानि दशागुलानी-न्द्रियाणि—उव्वट । ५. स्वप्रकाशम्—उव्वट । ६. तमोरहितम् इत्यर्थः । तम.

१००. सभासद् धर्म के लिए चुना जाता है ।

१०१. अन्धा (विवेकहीन) केवल स्वप्न देखने के लिए है, और बहरा (हित शिक्षा न सुनने वाला) केवल अधर्म के लिए है

१०२. प्रश्नों का विवेचन करने वाला विचारक मर्यादा के लिए नियुक्त होना चाहिए ।

१०३. पिशुन वैर तथा हत्या के लिए है ।

१०४. प्राप्त संपत्ति का उचित भाग साथियों को देने वाला स्वर्ग का अधिकारी होता है ।

१०५. सदा जाग्रत रहने वाले को भूति (ऐश्वर्य) प्राप्त होती है और सदा सोते रहने वाले को अभूति (दरिद्रता) प्राप्त होती है ।

१०६. विराट् पुरुष के हजारों शिर है, हजारों नेत्र है, हजारों चरण है, अर्थात् वह प्राणिमात्र के साथ तदाकार होकर रहता है । वह विश्वात्मा समग्र विश्व को अर्थात् प्राणिमात्र को स्पर्श करता हुआ दस अंगुल (पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ) को अतिक्रमण किए हुए है ।

१०७. मैं उस सर्वतोमहान्, अन्धकार से रहित, स्वप्रकाशस्वरूप पुरुष (शुद्ध चैतन्य आत्मा) को जानता हूँ । उसको जान लेने पर ही मृत्यु को जीता जाता है । मृत्यु से पार होने के लिए इस (आत्मदर्शन) के सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

१०८. हे आदित्यस्वरूप पुरुष ! श्री और लक्ष्मी तेरी पत्नी है ।

[illegible]—[illegible] । ७. यया सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः, [illegible] । यया लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः सौन्दर्य- [illegible] ८. पार्श्वे—उव्वट ।

१०९. न तस्य प्रतिमा[1]ऽअस्ति।

—३२।३

११०. वेन[2]स्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

—३२।८

१११. तदपश्यत्[3] तदभवत् तदासीत्।

—३२।१२

११२. इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।

—३२।१६

११३. प्रियासः सन्तु सूरयः।

—३३।१४

११४. शेवधिपाऽअरिः।

—३३।८२

११५. ज्योतिषा बाधते तमः।

—३३।९२

११६. अपादियं[4] पूर्वागात्[5] पद्वतीभ्यः[6]।

—३३।९३

११७. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं,
तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं,
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

—३४।१

---

१. प्रतिमानभूतम्—उव्वट। २. वेनः पण्डितः—उव्वट। ३. तत् तथाभूतमात्मानं अपश्यत्—पश्यति, तदभवत्—तथाभूतं ब्रह्म भवति, तदासीत्—तदेवास्ति—उव्वट। ४. इयमुषा—महीधर। ५. अगात्—आगच्छति—

१०९. परमचैतन्य परमेश्वर की कोई उपमा नहीं है।

११०. सृष्टि के रहस्य को जानने वाला ज्ञानी हृदय की गुप्त गुहा में स्थित उस सत्य अर्थात् नित्य ब्रह्म को देखता है, जिसमे यह विश्व एक क्षुद्र नीड़ (घोसला) जैसा है।

१११. जो आत्मा ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, वह अज्ञान से छूटते ही ब्रह्म रूप हो जाता है। वस्तुतः वह ब्रह्म ही है।

११२ ये ब्राह्मण और क्षत्रिय अर्थात् ज्ञान और कर्म की उपासना करने वाले दोनों मेरी श्री (ऐश्वर्य) का उपभोग करें।

११३. ज्ञानी जन हम सब के प्रीति पात्र हों।

११४. धन से चिपटा रहने वाला अदानशील व्यक्ति समाज का शत्रु है।

११५. ज्योति से ही अन्धकार नष्ट होता है।

११६ यह बिना पैर की उषा पैरो वालों से पहले आ जाती है। अथवा विश्व मे यह बिना पदो की गद्य वाणी पद्य वाणी से पहले प्रकट हुई है।

११७. जो विज्ञानात्मा का ग्रहण करने वाला होने से देव है, जो जाग्रत अवस्था मे इन्द्रियो की अपेक्षा दूर जाता है, उसी प्रकार स्वप्न में भी जो अतीत, अनागत आदि मे दूर तक जाने वाला है, और जो श्रोत्र आदि ज्योतिर्मयी इन्द्रियों मे एक अद्वितीय ज्योति है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों से युक्त हो।

[illegible]

११८. यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च,
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

—३४।३

११९. यस्मिँश्चित्त[1] सर्वमोतं[2] प्रजानां,
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

—३४।५

१२०. सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभि[3]र्वाजिन इव।[4]
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं[5] जविष्ठं,
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

—३४।६

१२१. भग एव भगवान्।

—३४।३८

१२२ तद्विप्रासो विपन्यवो[6] जागृवांसः[7]समिन्धते[8]।

—३४।४४

१२३. सप्त ऋषयः[10] प्रतिहिताः शरीरे। सप्त रक्षन्ति [11]सदमप्रमादम्।

—३४।५५

१२४. द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः, पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः
सर्व शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः, सा मा शान्तिरेधि।

—३६।१७

---

१. संज्ञानम्—उव्वट। २. ओतं प्रोतं निक्षिप्तं, तन्तुसन्ततिः पट इव सर्वं ज्ञानं मनसि निहितम्—महीधर। ३. रश्मिभिर्नियच्छति—महीधर। ४. [illegible] माद्वयम् प्रथमायां नयनम् द्वितीयायां नियमनम्, तथा मनः प्रवर्तयति नियच्छति च नरानित्यर्थः—महीधर। ५. अजिरं जरारहितम् बाल्ययौवनस्थविरेषु मनसस्तदवस्थत्वात्—महीधर। ६. विगतः पन्युः संसारव्यवहारो [illegible]

११८. जो विशेष रूप से ज्ञान का जनक है, चेतना का केन्द्र है, धैर्य रूप है, प्रजा के अन्दर की एक ज्योति है, आत्मरूप होने से अमृत है, किंबहुना, जिस के बिना कोई भी कार्य किया जाना संभव ही नही है, वह मेरा मन पवित्र संकल्पो से युक्त हो।

११९. जिस मन मे प्रजाओ का सब ज्ञान ओत-प्रोत है, निहित है, वह मेरा मन पवित्र संकल्पो से युक्त हो।

१२०. कुशल सारथी जैसे वेगवान् घोड़ो को चाबुक मार कर दौड़ाता है, और समय पर लगाम खीचकर उन्हे नियंत्रित भी करता है, वैसे ही जो मन मनुष्यादि सब प्राणियो को कर्म मे प्रवृत्त भी करता है और नियंत्रित भी, और जो मन जरा से रहित है, अत्यंत वेग वाला है, हृदय में स्थित है, मेरा वह मन कल्याणकारी विचारो से युक्त हो।

१२१. भग (ज्ञान वैराग्य आदि आत्मगुण) ही भगवान् है।

१२२. निष्काम, जागरण शील—अप्रमत्त, मेधावी साधक ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रदीप्त करते है।

१२३. शरीर मे स्थित सप्तर्षि (पाँच इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि) सदा अप्रमत्त भाव से हमारी रक्षा करते हैं।

१२४. स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथिवी शान्तिरूप हो। जल, औषधि, वनस्पति, विश्वेदेव (समस्त देवगण), पर ब्रह्म और सब संसार शान्तिरूप हो। जो स्वयं साक्षात् स्वरूपतः शान्ति है, वह भी मेरे लिए शान्ति करने वाली हो।

१२५. [1]दृते दृंह मा,
मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्,
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
[2]मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।
—३६।१८

१२६. पश्येम शरदः शतं, जीवेम[3] शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्।
—३६।२४

१२७. अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि।
—३७।११

१२८. हृदे[5] त्वा मनसे[6] त्वा।
—३७।१९

१२९. अरिष्टाऽऽहं[7] सह पत्या भूयासम्।
—३७।२०

१३०. मनसः काममाकूतिं[8] वाचः सत्यमशीय[9]।
पशूनां[8] रूपमन्नस्य रसो यशः
श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा॥
—३९।४

---

१. विदीर्णे शुभकर्मणि दृढ़ीकुरु माम्—उव्वट। २. शांतं हि मित्रस्य चक्षुः। न वै मित्रः कंचन हिनस्ति। न मित्रं कश्चन हिनस्ति—उव्वट। ३. जीवेम—अपराधीनजीवनो भवेम—महीधर। ४. ऋग्वेद ७।६६।१६। ५. हृदय स्वास्थ्याय। ६. मनः शुद्ध्यर्थम्—महीधर। ७. अनुपहिंसिता। ८. काममभिलापम्, आकुञ्चनमाकूतिः प्रयत्नः—महीधर। ८. अशीय प्राप्नुयाम्—महीधर। ९. रूपं पशुसम्बन्धिनी शोभा—महीधर।

१२५. हे देव ! मुझे शुभ कर्म में दृढता प्रदान करो। सभी प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं भी सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब एक दूसरे को परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।

१२६. हम सौ वर्ष तक अच्छी तरह देखें, सौ वर्ष तक अच्छी तरह स्वतंत्र होकर जीते रहें, सौ वर्ष तक अच्छी तरह सुनें, सौ वर्ष तक अच्छी तरह बोलें और सौ वर्ष तक सर्वथा अदीन होकर रहें।

१२७. हे महावीर ! तुम चंद्र की ज्योत्स्नारूप हो, अग्नि के तेजस्रूप हो और सूर्य के प्रतापरूप हो।

१२८. हे देव ! हृदय की स्वस्थता के लिए, मन की स्वच्छता के लिए हम तुम्हारी उपासना करते हैं।

१२९. मैं अपने पति के साथ सस्नेह अविच्छिन्न भाव से रहूँ।

१३०. मेरे मन के संकल्प और प्रयत्न पूर्ण हों, मेरी वाणी सत्य व्यवहार करने में सक्षम हो, पशुओं से मेरे गृह की शोभा हो, अन्न से श्रेष्ठ स्वाद मिले, ऐश्वर्य और सुयश सब मेरे आश्रित हों।

सामवेद की सूक्तियां

१. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता ।

—पूर्वार्चिक १।६।२*

२. यज्ञ इन्द्रमवर्धयत् ।

—२।१।३

३. अव ब्रह्मद्विषो जहि ।

—२।६।१

४. अतीहि मन्युषाविणम् ।

—२।१२।१

५. न क्येवं यथा त्वम् ।

—२।६।१०

---

*अङ्क क्रमशः अध्याय, खण्ड और मन्त्र के सूचक है ।

सामवेद की सूक्तियां*

१. हमे ब्रह्मत्वभाव प्राप्त हो, हमे प्रिय एवं सत्यवाणी प्राप्त हो।

२. कर्म से ही इन्द्र का गौरव बढ़ा है।

३. सदाचारी विद्वानो से द्वेष करने वालो को त्याग दो।

४. जो साधक अहंकारपूर्वक अभिषव (अनुष्ठान) करता है, उसे त्याग दो।

५. हे भगवन्! जैसा तू है, ऐसा अन्य कोई नही है।

---

* सामवेद संहिता, महामना श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा संपादित औंध से (वि० सं० १९९६) प्रकाशित।

६. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।

—३।४।२

७. इन्द्रो मुनीनां सखा।

—३।४।३

८. अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्द्धि चक्षुः।[1]

—३।६।७

९. देवस्य पश्य काव्यं[2] महित्वाद्या ममार स ह्यः समान[3]।

—३।१०।३

१०. यदुदीरत आजयो[4] धृष्णवे धीयते धनम्[5]।

—४।७।६

११. स्वर्गा अर्वन्तो जयत।

—४।६।६

१२. अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य,
पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति[6] स इदेवमावद्[7],
अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

—६।१।१

१३. मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि[8] वोचम्[9]।

—६।३।१

१४. यशो मा प्रतिमुच्यताम्,
यशसाऽस्याः[10] संसदोऽहं प्रवदिता[11] स्याम्।

—६।३।१

---

१. चक्षुः—तेजश्च। २. सामर्थ्यम्। ३. समान—सम्यग् जीवन् पुनर्जन्मान्तरे प्रादुर्भवतीत्यर्थः। ४. संग्रामाः। ५. जयतो धनं भवतीत्यर्थं। ६. अतिथ्यादिभ्यो ददाति। ७. अवति सर्वान् प्राणिनो रक्षति। ८. परिवर्ज्यं

६. हे इन्द्र ! हम जिससे भयभीत हों, तुम उससे हमें अभय करो !

७. इन्द्र मुनियों (तत्त्वज्ञानियों) का सखा है।

८. अन्धकार को दूर करो, तेज (प्रकाश) का प्रसार करो।

९. आत्मदेवता (अथवा महाकाल) के महान् सामर्थ्य को देखिए कि जो आज जराजीर्ण होकर मरता है, वह कल ही फिर नये रूप में जीवित हो जाता है, नया जन्म धारण कर लेता है।

१०. संघर्षों के उपस्थित होने पर जो जीतता है, वही ऐश्वर्य पाता है।

११. स्वर्ग पर विजय प्राप्त करो।

१२. मैं अन्न देवता अन्य देवताओं तथा सत्यस्वरूप अमृत ब्रह्म से भी पूर्व जन्मा हूँ। जो मुझ अन्न को अतिथि आदि को देता है, वही सब प्राणियों की रक्षा करता है। जो लोभी दूसरों को नहीं खिलाता है, मैं अन्न देवता उस कृपण को स्वयं खा जाता हूँ, नष्ट कर देता हूँ।

१३. मैं द्वाज्य अर्थात् निन्द्य वचन नहीं बोलता।

१४. मैं कभी यश से हीन न होऊँ। इस मेरी सभा (समाज) का यश कभी नष्ट न हो। मैं सदा सर्वत्र स्पष्ट बोलने वाला बनूँ।

[illegible] ९. [illegible] । १०. [illegible] मम संसदः [illegible] न [illegible] ।
[illegible] ।

१५. अप त्ये तायवो[1] यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः[2]।
सूराय[3] विश्वचक्षुषे।

—१।५।७

१६. ऋतस्य जिह्वा पवते[4] मधु प्रियम्।

—उत्तरार्चिक १।५।१६।२१

१७. न हि त्वा शूर देवा न मर्तासो[5] दित्सन्तम्।
भीमं[6] न गां[7] वारयन्ते।

—२।२।६।३

१८. मा कीं ब्रह्मद्विषं वनः।

—२।२।७।२

१९. तरणिरित्[8] सिषासति[9] वाजं पुरन्ध्या[10] युजा[11]।

—४।४।१३।१

२०. न दुष्टुतिर् द्रविणोदेषु[12] शस्यते,
न स्रेधन्तं[13] रयिर्नशत्[14]।

—४।४।१३।२

२१. पवस्व विश्वचर्षणे![15] आ मही रोदसी[16] पृण,
उषाः[17] सूर्यो न रश्मिभिः।

—५।१।३।५

२२. विप्रो यज्ञस्य साधनः।

—१३।५।१५।२

२३. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः।
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः।

—२०।६।८।१

---

१. तायुरिति स्तेननाम (नै० ३,२४,७)। २. अक्तुभिः रात्रिभिः सह अपयन्ति अपगच्छन्ति....अक्तुरितिरात्रिनाम। ३. सूर्यस्य आगमनं दृष्ट्वेति शेषः। ४. पवते क्षरति। ५. मर्त्तासः मनुष्याः। ६. भयजनकं दृप्तं। ७. वृषभम्। ८. कर्मणि त्वरित एव। ९. सम्भजते। १०. महत्या धिया

१५. विश्व के चक्षुःस्वरूप सर्वप्रकाशक सूर्य का आगमन देखकर तारागण रात्रि के साथ वैसे ही छुप जाते है, जैसे सूर्योदय होने पर चोर !

१६. सत्य (—भाषी) की जिह्वा से अतिमोहक मधुरस झरता है।

१७. हे वीर ! तुम्हे देवता या मनुष्य कोई भी दान देने से रोकने वाला नहीं है, जैसे कि दृप्त वृषभ को घास खाने से कोई भी नही रोक सकता।

१८. सदाचारी विद्वानो से द्वेष करने वालों का संग न करो।

१९. शीघ्रकर्मा बुद्धिमान् पुरुष अपनी तीक्ष्ण बुद्धि (अथवा कर्मशक्ति) की सहायता से ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

२०. धनदाताओ की निन्दा करना ठीक नही है। दानदाता की प्रशंसा न करने वाले को धन नही मिलता है।

२१. हे विश्वद्रष्टा ! अपने रस के प्रवाह से आकाश और पृथ्वी दोनों को भर दो, जैसे कि सूर्य अपनी प्रकाशमान रश्मियों (किरणो) से दिन को भर देता है।

२२. [illegible] विद्वान् ही कर्म का साधक होता है।

२३. अग्नि ज्योति है और ज्योति अग्नि है। इन्द्र ज्योति है, और ज्योति इन्द्र है। सूर्य ज्योति है, और ज्योति सूर्य है। अर्थात् अग्नि और [illegible] में अभेद है।

अथर्ववेद की सूक्तियां

●

१. सं श्रुतेन गमेमहि[1] मा श्रुतेन वि राधिषि[2]।

—१।१।४*

२. यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।

—१।१०।३

३. सं सं स्रवन्तु सिन्धवः, सं वाताः सं पतत्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे, जुषन्तां सं स्राव्येण हविषा जुहोमि ॥

—१।१५।१

४. ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ।

—१।१९।४

---

*अङ्क क्रमशः काण्ड, सूक्त और मंत्र के सूचक है ।

१. संगच्छेमहि । २: विराद्धो वियुक्तो मा भूवम् ।

अथर्ववेद की सूक्तियां

●

१. हम सब श्रुत (ज्ञान) से युक्त हो, श्रुत (ज्ञान) के साथ कभी हमारा वियोग न हो।

२. जिह्वा से असत्य वचन बोलना बहुत बड़ा पाप है।

३. नदियां मिल कर बहती है, वायु मिलकर बहते हैं, पक्षी भी मिलकर उड़ते हैं, इसी प्रकार श्रेष्ठ जन भी कर्मक्षेत्र मे मिल जुल कर काम करते हैं। मैं संगठन की दृष्टि से ही यह स्नेहद्रवित अनुष्ठान कर रहा हूँ।

४. मेरा अन्दर का कवच ब्रह्म (-ज्ञान) है।

---

५. मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्,
मा नोविदद् वृजिना द्वेष्या या।

—१।२०।१

६. यदग्निरापो अदहत्।

—१।२५।१

७. जिह्वाया अग्रे मधु मे, जिह्वामूले मधूलकम्[1]।
ममेदह क्रतावसो[2], मम चित्तमुपायसि॥

—१।३४।२

८. मधुमन्मे निक्रमणं[3], मधुमन्मे परायणम्[4]।
वाचा वदामि मधुमद्, भूयासं मधु संदृशः[5]॥

—१।३४।३

९. मधोरस्मि मधुतरो [6]मदुघान् मधुमत्तरः।

—१।३४।४

१०. सं दिव्येन दीदिहि[7] रोचनेन
विश्वा आ भाहि[8] प्रदिशश्चतस्रः।

—२।६।१

११. स्वे गये[9] जागृह्यप्रयुच्छन्[10]।

—२।६।३

१२. मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व।

—२।६।४

१३. अतिनिहो अतिसृधोऽत्यचित्तीरतिद्विषः।

—२।६।५

---

१. मधुररसवहुलम्। २. क्रतौ कर्मणि शारीरे व्यापारे असः भव। ३. निकटगमनम् संनिहितार्थेपु प्रवर्तनं मधुमत् मधुयुक्तं, स्वस्य परेषां म प्रीतिकरं भवतु। ४. परागमनं दूरगमनम्। ५. संद्रष्टुः सर्वस्य पुरुषस्य।

५. पराजय, अपकीर्ति, कुटिल आचरण और द्वेष हमारे पास कभी न आएँ।

६. क्रोधरूप अग्नि जीवनरस को जला देती है।

७. मेरी जिह्वा के अग्रभाग मे मधुरता रहे, मूल मे भी मधुरता रहे। हे मधुरता! तू मेरे कर्म और चित्त मे भी सदा बनी रह।

८. मेरा निकट और दूर—दोनो ही तरह का गमन मधुमय हो, अपने को और दूसरो को प्रसन्नता देने वाला हो। अपनी वाणी से जो कुछ बोलूँ, वह मधुरता से भरा हो। इस प्रकार सभी प्रवृत्तियाँ मधुमय होने के फलस्वरूप मैं सभी देखने वाले लोगो का मधु (प्रिय) होऊँ।

९. मैं मधु (शहद) से भी अधिक मधुर हूँ, मैं विश्व के मधुर से मधुर पदार्थो से भी अधिक मधुर हूँ।

१०. अपने दिव्य तेज से अच्छी तरह स्वयं प्रकाशमान बनो और अपने इधर-उधर समग्र चारो दिशाओ को भी प्रकाशमान करो।

११. किसी भी प्रकार का प्रमाद (भूल) न करते हुए अपने घर मे सदा जागते रहो, सावधान रहो।

१२. हे इन्द्राणी! मित्र के साथ सदा मित्र के समान उदारता का व्यवहार कर।

१३. कलह, हिंसा, पाप बुद्धि और द्वेष वृत्ति से अपने आपको सदा दूर रखो।

१४. शप्तारमेतु शपथः ।

—२।७।१

१५. यश्चकार स निष्करत् ।

—२।६।५

१६. शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु ।

—२।१०।२

१७. आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ।

—२।११।१

१८. त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ।

—२।१२।१

१९. यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः[1] ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥

—२।१५।१

२०. सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता[2] ॥

—२।३०।२

२१. यदन्तरं तद् बाह्यं, यद् बाह्यं तदन्तरम् ।

—२।३०।४

२२. विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।

—२।३४।४

२३. भगस्य नावमारोह पूर्णामनुपदस्वतीम्[3] ।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥

—२।३६।५

---

१. विनश्यतः । २. कर्मनामैतत् । ३. क्षयरहिताम् ।

१४. शाप (आक्रोश-गाली), शाप देने वाले के पास ही वापस लौट जाता है।

१५. जो सदा कार्य करता रहता है, वही अभ्यासी उस कार्य की निष्कृति (पूर्णता-सम्पन्नता) करने की योग्यता प्राप्त करता है।

१६. तेरे लिए जल (शान्ति एवं क्षमा) के साथ अग्नि (तेजस्विता) कल्याणकारी हो।

१७. अपने बराबर वालों से आगे बढ़, और परम कल्याण प्राप्त कर।

१८. मेरे सन्तप्त होने पर मेरे अन्य साथी भी सतप्त हों, अर्थात् हम सब परस्पर सहानुभूति रखने वाले हों।

१९. जिस प्रकार आकाश और पृथ्वी कभी नहीं डरते, इसीलिए कभी नष्ट भी नहीं होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी कभी किसी से मत डर!

[illegible]. परस्पर प्रेम करनेवाले स्त्री पुरुषो! तुम दोनो मिलकर चलो, मिलकर आगे बढ़ो, मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करो। तुम दोनो के चित्त परस्पर मिले रहे, और तुम्हारे सभी कर्म परस्पर मिलजुलकर होते रहें।

[illegible]. जो तुम्हारे अन्दर मे हो वही बाहर मे हो, और जो बाहर मे हो वही तुम्हारे अन्दर मे हो अर्थात् तुम सदा निश्छल एवं निष्कपट होकर रहो।

[illegible]. [illegible] के विभिन्न रूप— आकृति, जाति एवं आचार [illegible] प्राणी [illegible] से अनेक रूप होते हुए भी मूल मे एक रूप है।

२४. दूषयिष्यामि[1] काबवम्[2] ।

—३।१९।२

२५. एकशतं विष्कन्धानि[3] विष्ठिता[4] पृथिवीमनु ।

—३।१९।५

२६. [5]पयस्वन्मामकं वचः ।

—३।२४।१

२७ शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर !
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ।

—३।२४।५

२८. कामः समुद्रमाविवेश[6] ।

—३।२९।३

२९. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत[7] वत्सं जातमिवाघ्न्या[8] ॥

३।३०।१

३०. अनुव्रतः[9] पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः[10] ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्[11] ॥

—३।३०।२

३१. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्[12], मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः[13] सव्रता[14] भूत्वा, वाचं वदत भद्रया ॥

—३।३०।३

३२. येन देवा न वियन्ति[15] नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

—३।३०।४

---

१. नाशयिष्यामि । २. विघ्नविशेषम् । ३. विघ्नाः । ४. विविध अवस्थितानि । ५. पयस्वत्—सारयुक्तं सर्वैरुपादेयं भवतु । ६. समुद्रवद- वधिकं रूपम् आ विवेश प्राप्तवान् । ७. आभिमुख्येन कामयध्वम् । ८. [illegible] गोनामैतत्, अहन्तव्या गावः । ९. अनुकूलकर्मा भवतु । १०. समानमनस्का

२४ मैं अपने जीवनपथ की बड़ी से बड़ी विघ्नबाधाओं को परास्त कर दूंगा।

२५. पृथ्वी पर चारों ओर सैकड़ों विघ्न खड़े हैं।

२६. मेरा वचन दूध जैसा मधुर, सारयुक्त एवं सबके लिए उपादेय हो।

२७. हे मनुष्य! तू सौ हाथों से कमा और हजार हाथों से उसे समाज में फैलादे अर्थात् दान करदे। इस प्रकार तू अपने किये हुए तथा किये जाने वाले कार्य की अभिवृद्धि कर।

२८. काम समुद्र में प्रविष्ट होता है—अर्थात् कामनाएं समुद्र के समान निःसीम हैं, उनका कहीं अन्त नहीं है।

२९. आप सब परस्पर एक दूसरे के प्रति हृदय में शुभ सङ्कल्प रखें, द्वेष न करें। आप सब एक दूसरे को ऐसे प्रेम से चाहें जैसे कि गौ अपने नवजात (नये जन्मे हुए) बछड़े पर प्रेम करती है।

३०. पुत्र अपने पिता के अनुकूल आचरण करे। माता पुत्र-पुत्रियों के साथ अच्छे मन वाली हो। पत्नी पति के साथ मधुर और सुखदायिनी वाणी बोले।

३१. भाई-भाई आपस में द्वेष न करें, बहिन-बहिन आपस में द्वेष न करें। सब लोग समान गति और समान धर्मवाले होकर मिलजुलकर कार्य करें, और परस्पर कल्याणकारी मिष्ट भाषण करें।

३२. [illegible] भिन्न मतियाले नहीं होते हैं और परस्पर द्वेष भी नहीं करते हैं, [illegible] कार्यों को करते हैं।

३३. अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत ।

—३।३०।५

३४. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे[1] सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

—३।३०।६

३५. सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ।

—३।३०।७

३६. व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।

—३।३१।२

३७. ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार ।

—४।१।३

३८. बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् ।

—४।१।५

३९. कविर्देवो न दभायत्[2] स्वधावान्[3] ।

—४।१।७

४०. मूर्णा मृगस्य दन्ताः ।

—४।३।६

४१. यत् संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः ।

—४।३।७

४२. अनड्वान् दाधार[4] पृथिवीम् ।

—४।११।१

---

१. एकस्मिन् बन्धने स्नेहपाशे । २. न हिनस्ति, सर्वम् अनुगृह्णात्यर्थं

३३. एक दूसरे के साथ प्रेमपूर्वक मधुर संभाषण करते हुए आगे बढ़े चलो।

३४. आप सब की प्रपा (जलपान करने का स्थान) एक हो, आप सब एक-साथ बैठकर भोजन करें। मै आप सबको एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए नियुक्त करता हूँ। आप सब अग्नि (अपने अग्र लक्ष्य) की उपासना के लिए सब ओर से ऐसे ही एकजुट हों, जैसे कि चक्र के आरे चक्र की नाभि मे चारो ओर से जुड़े होते हैं।

३५. सुबह और शाम अर्थात् सदाकाल आप सब प्रसन्नचित्त रहे।

३६. स्वच्छता का ध्यान रखनेवाला मनुष्य रोग आदि की पीड़ाओं से दूर रहता है। और मनोबल से समर्थ साधक पापों से दूर रहता है।

३७. [illegible] से ही ब्रह्म का प्रकाश होता है अर्थात् ज्ञान से ही ज्ञान का विस्तार होता है।

३८. ज्ञान का स्वामी दिव्य आत्मा ही विश्व का सम्राट् है।

३९. [illegible] श्रेष्ठ ज्ञानी ऐश्वर्य से समृद्ध होकर भी किसी को पीड़ा नहीं [illegible] परस्पर अनुग्रह ही करते हैं।

४०. [illegible] व्याघ्र आदि के दांत मूढ हो जाएं, भक्षण करने में असमर्थ हो जाएं। अर्थात् अत्याचारी लोगो की संहारक शक्ति कुण्ठित हो जाए।

४१. [illegible] स्वयं संयमित है, नियंत्रित है, उसको व्यर्थ ही और अधिक नियंत्रित नहीं करना चाहिए। परंतु जो अभी अनियंत्रित है, उसी को नियंत्रित करना चाहिए।

४२. [illegible] बोलना, भार होना आदि के रूप में भूमि (जनता) को [illegible] करता है, पोषण करता है।

[illegible] भारवहनादिना....धारयति पोषयति।

३३. अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत ।

—३।३०।१

३४. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे[1] सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

—३।३०।६

३५. सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ।

—३।३०।७

३६. व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।

—३।३१।२

३७. ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार ।

—४।१।३

३८. बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् ।

—४।१।५

३९. कविर्देवो न दभायत्[2] स्वधावान्[3] ।

—४।१।७

४०. मूर्णा मृगस्य दन्ताः ।

—४।३।६

४१. यत् संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः ।

—४।३।७

४२. अनड्वान् दाधार[4] पृथिवीम् ।

—४।११।१

---

१. एकस्मिन् बन्धने स्नेहपाशे । २. न हिनस्ति, सर्वम् अनुगृह्णाति ।

४३. हे दिव्य आत्माओ ! तुम अवनतो को दुबारा उन्नत करो। अर्थात् गिरे हुओ को फिर ऊँचा उठाओ।

४४. पवित्र आचारवाले आत्मा ही उच्च स्थानों को प्राप्त होते हैं।

४५. सर्वप्रथम तू अपने आपको वश मे कर—अर्थात् संयमित कर, तभी तू दूसरो को वश मे कर सकेगा।

४६. उत्साह (अथवा तेज) ही इन्द्र है, उत्साह ही देव है।

४७. जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप यमो में रहता है, वह देवत्व को प्राप्त होता है।

४८. मैं विश्व को जीतने वाले ब्रह्मौदन (ज्ञानरूपी अन्न) को पकाता हूँ अर्थात् उसे परिपक्व करता हूँ।

४९. ज्ञानी प्रत्येक युद्ध मे अर्थात् हर संघर्ष मे प्रसन्न रहते हैं।

५०. मनुष्य, मेरे मन को दुष्टता एवं शोक के विचार न दबाएँ।

५१. जिस घर में छोटे और बड़े सब मिलकर रहते हैं, वह घर अपने धनागार सदा सुरक्षित रहता है।

५२. दीक्षा से कार्य करने वाला तपस्वी अर्थात् परिश्रमी एवं स्फूर्तिमान व्यक्ति विश्व को हिला देता है।

५३. हे देव, मेरा मन संघर्षों में सदा प्रकाशमान रहे।

४३. उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।

—४।१३।१

४४. रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः।

—४।१४।१

४५. वशी वशं नयासा एकज त्वम्।

—४।३१।३

४६. मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवः।

—४।३२।२

४७. आस्ते यम उपयाति देवान्।

—४।३४।३

४८. ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि।

—४।३५।७

४९. रणे रणे अनुमदन्ति विप्राः।

—५।२।४

५०. मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः।

—५।२।४

५१. नि तद् दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।

—५।२।६

५२. तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान्।

—५।२।८

५३. ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु।

—५।३।१

५४. ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु।

—५।३।३

५५. अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च।

—५।३।८

४३. हे दिव्य आत्माओ ! तुम अवनतों को दुबारा उन्नत करो । अर्थात् गिरे हुओ को फिर ऊँचा उठाओ ।

४४. पवित्र आचारवाले आत्मा ही उच्च स्थानों को प्राप्त होते है ।

४५. सर्वप्रथम तू अपने आपको वश मे कर—अर्थात् संयमित कर, तभी तू दूसरों को वश मे कर सकेगा ।

४६. उत्साह (अथवा तेज) ही इन्द्र है, उत्साह ही देव है ।

४७. जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप यमों मे रहता है, वह देवत्व को प्राप्त होता है ।

४८. मै विश्व को जीतने वाले ब्रह्मौदन (ज्ञानरूपी अन्न) को पकाता हूँ अर्थात् उसे परिपक्व करता हूँ ।

४९. ज्ञानी प्रत्येक युद्ध मे अर्थात् हर संघर्ष मे प्रसन्न रहते हैं ।

५०. मनुष्य, तेरे मन को दुष्टता एवं शोक के विचार न दबाएँ ।

५१. जिस घर मे छोटे और बड़े सब मिलकर रहते है, वह घर अपने [illegible] सदा सुरक्षित रहता है ।

५२. [illegible] से कार्य करने वाला तपस्वी अर्थात् परिश्रमी एवं स्फूर्तिमान् व्यक्ति विश्व को हिला देता है ।

५३. हे देव, मेरा [illegible] संघर्षों मे सदा [illegible] रहे ।

५६. न कामेन पुनर्मघो भवामि ।

—५।११।६

५७. न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।

—५।१८।

५८. तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥

—५।१९

५९. आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ।

—५।३०

६०. यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ।

—६।१।

६१. मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम् ।

—६।३२।३

६२. अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नाः ।

—६।४४।१

६३. परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि, न त्वा कामये ।

—६।४५।१

६४. अयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।

—६।६३।२

६५. सं वः पृच्यन्तां तन्वः संमनांसि समुव्रता ।

—६।७४।१

६६. सं प्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ।

—६।७६।१

६७. आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणीः ।

—६।१०६।१

५६. केवल इच्छा करने भर से ही मैं पुनः ऐश्वर्यशाली नही हो सकता हूँ ।

५७. ब्राह्मण (सदाचारी विद्वान्) अग्निस्वरूप है, ज्योतिर्मय है । जैसे अपने प्रिय शरीर को पीड़ा नही दी जाती है, वैसे विद्वान् को भी पीड़ा नहीं देनी चाहिए ।

५८. जिस राष्ट्र मे ब्राह्मण (विद्वान्) सताये जाते हैं वह राष्ट्र विपत्ति-ग्रस्त होकर वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे टूटी हुई नौका जल में डूबकर नष्ट हो जाती है ।

५९. उन्नति और प्रगति प्रत्येक जीवात्मा का अयन है—लक्ष्य है ।

६०. जिस प्रकार मरते हुए व्यक्ति का मन मरा हुआ-सा हो जाता है, उसी प्रकार ईर्ष्या करने वाले का मन भी मरा हुआ-सा रहता है ।

६१. परस्पर एक दूसरे से झगड़ने वाले मृत्यु को प्राप्त होते है ।

६२. दुष्ट मरे-मरे होते हैं ।

६३. हे पापी विचार ! दूर हट ! मुझे तू कैसी बुरी-बुरी बातें कहता है ? जा, दूर चला जा, मैं तुझे नही चाहता ।

६४. मोह—जैसे मजबूत बन्धनो के पाश को भी तोड़ डालो ।

६५. तुम्हारे शरीर मिले रहें, तुम्हारे मन मिले रहें, तुम्हारे कर्म भी परस्पर मिलजुलकर होते रहें ।

५६. न कामेन पुनर्मघो भवामि ।

—५।११।२

५७. न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।

—५।१८।६

५८. तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥

—५।१६।८

५९. आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ।

—५।३०।७

६०. यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ।

—६।१८।२

६१. मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम् ।

—६।३२।३

६२. अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नाः ।

—६।४४।१

६३. परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि, न त्वा कामये ।

—६।४५।१

६४. अयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।

—६।६३।२

६५. सं वः पृच्यन्तां तन्वः संमनांसि समुव्रता ।

—६।७४।१

६६. सं प्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ।

—६।७६।१

६७. आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणीः ।

—६।१०६।१

५६. केवल इच्छा करने भर से ही मैं पुनः ऐश्वर्यशाली नहीं हो सकता हूँ।

५७. ब्राह्मण (सदाचारी विद्वान्) अग्निस्वरूप है, ज्योतिर्मय है। जैसे अपने प्रिय शरीर को पीड़ा नहीं दी जाती है, वैसे विद्वान् को भी पीड़ा नहीं देनी चाहिए।

५८. जिस राष्ट्र मे ब्राह्मण (विद्वान्) सताये जाते हैं वह राष्ट्र विपत्ति-ग्रस्त होकर वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे टूटी हुई नौका जल में डूबकर नष्ट हो जाती है।

५९. उन्नति और प्रगति प्रत्येक जीवात्मा का अयन है—लक्ष्य है।

६०. जिस प्रकार मरते हुए व्यक्ति का मन मरा हुआ-सा हो जाता है, उसी प्रकार ईर्ष्या करने वाले का मन भी मरा हुआ-सा रहता है।

६१. परस्पर एक दूसरे से झगड़ने वाले मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

६२. वृक्ष खड़े-खड़े सोते हैं।

६३. हे पापी विचार! दूर हट! मुझे तू कैसी बुरी-बुरी बातें कहता है? जा, दूर चला जा, मैं तुझे नहीं चाहता।

६४. [illegible]—जैसे मजबूत बन्धनों के पाश को भी तोड़ डालो।

६५. तुम्हारे शरीर मिले रहें, तुम्हारे मन मिले रहें, तुम्हारे कर्म भी परस्पर मिल-जुलकर होते रहें।

६६. हृदय की वेदी पर से हजारों ज्वालाओं से प्रदीप्त अग्नि (उत्साह एवं ओज) का उदय हो।

६८. द्रुपदादिव[1] मुमुचानः, स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं, विश्वे शुम्भन्तु[2] मैनसः॥

—६।११५।३

६९. अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्।

—६।११७।३

७०. देवाः पितरः पितरो देवाः।

—६।१२३।३

७१. यो अस्मि सो अस्मि।

—६।१२३।३

७२. चारु वदानि पितरः संगतेषु।

—७।१२।१

७३. विद्म ते सभे नाम नरिष्टा[3] नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः[4]॥

—७।१२।२

७४. यद् वो मनः परागतं[5] यद् बद्धमिह[6] वेह वा।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां[7] मनः॥

—७।१२।४

७५. दमे दमे सप्त रत्ना दधानौ।

—७।२६।१

७६. यो देवकामो न धनं रुणद्धि,
समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः।

—७।५०।६

७७. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।

—७।५०।८

---

१. काष्ठमयाद्, पादबन्धनादिव। २. शुद्धं कुर्वन्तु। ३. अहिंसिता परैरनभिभाव्या। ४. अनुकूलवाक्याः। ५. अस्मदनभिमुखम्। ६. अस्मद्

१८. जिस प्रकार मनुष्य काठ के पादबन्धन से मुक्त होता है, स्नान के द्वारा मल से मुक्त होता है, और जैसे कि छनने से घी पवित्र होता है, उसी प्रकार सभी दिव्य पुरुष मुझे भी पाप से शुद्ध करें, मुक्त करें।

१९. हम इस लोक में भी ऋणरहित हों और परलोक में भी ऋण-रहित हों।

२०. जो पालन करते हैं वे देव हैं, और जो देव हैं वे पालन करते हैं।

२१. मैं जो हूँ वही हूँ अर्थात् मैं जैसा अन्दर में हूँ, वैसा ही बाहर में हूँ। मुझ में बनावट जैसा कुछ नहीं है।

२२. हे गुरुजनो! मुझे आशीर्वाद दो कि मैं सभाओं में सुन्दर एवं हितकर बोलूँ।

२३. हे सभा! हम तेरा नाम जानते हैं, निश्चय ही तेरा नाम नरिष्टा है, तू किसी से भी हिंसित अर्थात् अभिभूत नहीं होती। जो भी तेरे सदस्य हों, वे हमारे लिए अनुकूल वचन बोलने वाले हों।

२४. हे सभासदो! आपका मन मुझसे विमुख होकर कहीं अन्यत्र चला गया है, अथवा कहीं किसी अन्य विषय में बद्ध होगया है। मैं (अध्यक्ष) आपके उस मन को अपनी ओर लौटाना चाहता हूँ, आपका मन मुझ में ही रमता रहे अर्थात् मेरे अनुकूल ही विचार करे।

२५. जीवात्मा के प्रत्येक घर (शरीर) में पांच ज्ञानेन्द्रियां मन तथा बुद्धि—ये सात रत्न हैं।

२६. जो मनुष्य श्रेष्ठ कार्य के लिए अपना धन समर्पण करता है, दान के द्वारों से अपने पास रोक नहीं रखता है, उसी को अनेक धाराओं से विविध धन प्राप्त होता है।

२७. कर्म अर्थात् पुरुषार्थ मेरे दायें हाथ में है और विजय (सफलता) मेरे बायें हाथ में।

८९. उद्यानं[1] ते पुरुष नावयानम्[2]।

—८।१।६

९०. मा ते मनस्तत्र गान्[3] मा तिरोभूत्[4]।

—८।१।७

९१. मा जीवेभ्यः प्रमदः।

—८।१।७

९२. मानु गाः पितृन्।

—८।१।७

९३. मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्[5]।

—८।१।८

९४. आ रोह तमसो ज्योतिः[6]।

—८।१।८

९५. तम[7] एतत् पुरुष मा प्रपत्था,
भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्।

—८।१।१०

९६. बोधश्च[8] त्वा प्रतीबोध[9]श्च रक्षताम्।
अस्वप्नश्चत्वाऽनवद्राणश्च[10] रक्षताम्॥

—८।१।१३

९७. व्यवात्[11] ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत्।

—८।१।२१

९८. रजस्तमो मोप गा मा प्रमेष्ठाः[12]।

—८।२।१

---

१. उद्गमनमेव। २. अवाग्गमनम्। ३. मा गात् गतं मा भूत्। ४. अन्तर्हितं विलीनमपि मा भूत्। ५. दूरदेशम्। ६. ज्योतिः प्रकाशः, प्रकाश ज्ञानम् आरोह अधिष्ठित! ७. तमः अन्धकारम् अज्ञानम्। ८. बोधः सर्वदा

८९. हे पुरुष ! तेरी उन्नति की ओर गति हो, अवनति की ओर नहीं ।

९०. हे पुरुष ! तेरा मन कुमार्ग मे न जाये और यदि कभी चला भी जाये तो वहां लीन न हो, अधिक काल तक स्थिर न रहे ।

९१. अन्य प्राणियो के प्रति प्रमाद न कर, अर्थात् उनके प्रति जो तेरा कर्तव्य है, उस ओर लापरवाह मत बन ।

९२. तू अपने मृत पितरों के मार्ग का अनुसरण मत कर अर्थात् पुरानी मृत-परम्पराओ को छोड़कर नवीन उपयोगी परम्पराओ का निर्माण कर ।

९३. गुजरे हुओ का शोक न कर, क्योंकि ये शोक मनुष्य को बहुत दूर पतन की ओर ले जाते हैं ।

९४. अन्धकार (अज्ञान) से प्रकाश (ज्ञान) की ओर आरोहण कर ।

९५. हे पुरुष ! तू इस अज्ञान के अन्धकार में न जा । वहां तेरे लिए भय ही भय है, और यहां ज्ञान के प्रकाश मे अभय है ।

९६. हे मनुष्य, बोध (ज्ञान) और प्रतीबोध (विज्ञान) तेरी रक्षा करे । अस्वप्न (स्फूर्ति, जागरण) और अनवद्राण—(कर्तव्य से न भागना, कर्तव्य परायणता, अप्रमत्तता) तेरी रक्षा करे ।

९७. तेरे पास से अन्धकार चला गया है, बहुत दूर चला गया है । अब तेरा प्रकाश सब ओर फैल रहा है ।

९८. रजोगुण (भोगासक्ति) तथा तमोगुण (अज्ञान एवं जड़ता) से निकल कर आ । तू इस प्रकार भोगासक्त होकर विनाश को मत प्राप्त हो ।

९९. न मरिष्यसि न मरिष्यसि, मा बिभेः ।

—८।२।२४

१००. न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ।

—८।२।२४

१०१. दुष्कृते मा सुगं[1] भूद् ।

—८।४।७

१०२. [2]असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ।

—८।४।८

१०३. उलूकयातुं शुशुलूकयातुं,
जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं,
दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ।

—८।४।२२

१०४. व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ।

—८।७।२०

१०५. कामो जज्ञे प्रथमः ।

—९।२।१९

१०६. युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणायाः ।

—९।९।९

१०७. कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत,
यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ।

—९।९।१५

१०८. ऋतं पिपर्ति अनृतं निपाति ।

—९।१०।२२

---

१. सुगमनं जीवद्गमनं सुखं वा मा भूत् । २. शून्यो भवतु ।

९९. हे आत्मन् ! तू कभी मरेगा नही, मरेगा नही, अतः मृत्यु से मत डर ।

१००. जो अधम-तमोगुण को नहीं अपनाते, वे कभी नष्ट नही होते ।

१०१. दुराचारी लोग इधर-उधर सुख से नही घूम सकते ।

१०२. हे इन्द्र ! असत्य भाषण करने वाला असत्य (लुप्त) ही हो जाता है ।

१०३. उल्लू के समान अज्ञानी मूढ़, भेड़िये के समान क्रोधी, कुत्ते के समान झगड़ालू, चक्रवाक के समान कामी, गीध के समान लोभी और गरुड़ के समान घमंडी लोगों का संग छोड़ो ! ये राक्षसवृत्ति के लोग वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे पत्थरों की मार से पक्षी !

१०४. चावल और जौ स्वर्ग के पुत्र हैं, अमर होने के औषध है ।

१०५. मनुष्य के मन मे सबसे पहले संकल्प ही प्रकट होता है ।

१०६. [illegible] को (घर मे) दान दक्षिणा (वितरण) की धुरा मे नियुक्त किया गया है ।

१०७. जो आत्मदर्शी पुरुष है, वही यह देश-काल का ज्ञान अथवा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता है । और जो इस ज्ञान को यथावत् जान लेता है, वह स्थिर का भी स्थिर हो जाता है । अर्थात् उसकी [illegible] दूर हो जाती है ।

१०९. न द्विषन्नश्नीयात्,
न द्विषतोऽन्नमश्नीयात् ।
—६।६।७।२४

११०. सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ।
—६।६।८।२५

१११. कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति
यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।
—६।६।८।३५

११२. अशितावत्यतिथावश्नीयात् ।
—६।६।८।३८

११३. ब्रह्म संवत्सरं ममे ।
—१०।२।२१

११४. न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥
—१०।२।३०

११५. अष्टचक्रा नवद्वारा, देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः, स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
—१०।२।३१

११६. ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
—१०।७।१७

१०९. जिससे स्वयं द्वेष करता हो, अथवा जो स्वयं से द्वेष करता हो, उसके यहां भोजन नहीं करना चाहिए।

११०. अतिथि जिसका अन्न खाता है, उसके सब पाप जल जाते हैं।

१११ वह व्यक्ति घर के कीर्ति और यश को खा जाता है, जो अतिथि से पहले भोजन खाता है।

११२. अतिथि के भोजन कर लेने के पश्चात् ही गृहस्थ को स्वयं भोजन करना चाहिए, पहले नहीं।

११३. ब्रह्म (ज्ञान) ही काल को मापता है।

११४ जिस ब्रह्मपुरी में शयन के कारण (पुरि शेते पुरुष) पुरुष कहलाता है, जो व्यक्ति उस ब्रह्मपुरी को, अर्थात् मानवशरीर को, उसके महत्त्व को जानता है, उसको समय से पहले प्राण (जीवन शक्ति) और चक्षु (दर्शन शक्ति) नहीं छोड़ते हैं।

११५. आठ चक्र और नौ द्वारों वाला यह मानवशरीर देवों की अयोध्या नगरी है। इसमें स्वर्ग का दिव्यकोष है, और प्रकाश से परिपूर्ण स्वर्ग है।

[दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक मूत्रद्वार और एक गुदद्वार

११७. पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः।

—१०।८।१४

११८. सत्येनोर्ध्वस्तपति, ब्रह्मणाऽर्वाङ् वि पश्यति।

—१०।८।१९

११९. सनातनमेनमाहुरुताऽद्य स्यात् पुनर्णवः।

—१०।८।२३

१२०. बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।

—१०।८।२५

१२१. पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।

—१०।८।२९

१२२. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

—१०।८।३२

१२३. सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्।

—१०।८।३८

१२४. तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः
आत्मानं धीरमजरं युवानम्।

—१०।८।४४

१२५. यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते।

—१०।९।१

१२६. न ते दूरं, न परिष्ठाऽ[1]स्ति ते।

—११।२।२५

१२७. ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार,[2] ननु तिर्यङ् निपद्यते।

—११।४।२५

---

१. परिष्ठा—परिहृत्य स्थापिता। २. तद्रक्षणार्थं निद्रारहितो बभूव।

११७. सर्वसाधारण लोग आँख से देखते हैं, मन (मनन-चिन्तन) से नहीं देखते।

११८. सत्य से मनुष्य सब के ऊपर तपता है, ज्ञान से मनुष्य नीचे देखता है, अर्थात् नम्र होकर चलता है।

११९. इस आत्मा को सनातन कहा है। यह मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म लेकर फिर नवीन हो जाता है।

१२०. यह आत्मा वाल से भी अधिक सूक्ष्म है, इसीलिए यह विश्व में एक अर्थात् प्रमुख होते हुए भी नहीं-सा दिखता है।

१२१. पूर्ण से ही पूर्ण उदञ्चित होता है, पूर्ण ही पूर्ण से सिञ्चित होता है। अर्थात् पूर्ण—योग्य व्यक्ति के द्वारा ही कर्म की पूर्णता सम्पादित होती है।

१२२. आत्मदेव के दिव्य कर्तृत्व—कृतित्व को देखो, जो न कभी मरता है और न कभी जीर्ण होता है।

१२३. जो सूत्र के भी सूत्र को जानता है, अर्थात् वाह्य प्रपंच के मूल सूत्रस्वरूप आत्म तत्व को पहचानता है, वही महद् ब्रह्म को जान सकता है।

१२४. जो धीर, अजर अमर, सदाकाल तरुण रहने वाले आत्मा को जानता है वह कभी मृत्यु से नहीं डरता।

१२५. जो सैकड़ों लोगों को अन्न-भोजन देने वाली (शतौदना) गौ का पालन पोषण करता है, वह अपने संकल्पों को पूर्ण करता है।

१२८. आचार्य उपनयमानो[1] ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः[2] ।

—११।५।३

१२९. श्रमेण[3] लोकांस्तपसा पिपर्ति ।

—११।५।४

१३०. देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ।

—११।५।५

१३१. ब्रह्मचर्येण[4] तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण[5] ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

—११।५।१७

१३२. ब्रह्मचर्येण[6] तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत[7] ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्[8] ॥

—११।५।१९

१३३. नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ।

—११।७।४

१३४. ऋतं[9] सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो[10] धर्मश्च कर्म च ।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं[11] बले ॥

—११।७।१७

---

१. स्वसमीपम् उपगमयन् । २. अन्तः विद्याशरीरस्य मध्ये गर्भं कृणुते करोति । ३. इन्द्रियनिग्रहोद्भूतखेदेन । ४. ब्रह्म वेद तदध्ययनार्थम् आचर्यम्—आचरणीयम् समिदाधानभैक्ष्यचर्योर्ध्वरेतस्कत्वादिकं ब्रह्मचारिभिरनुष्ठीयमानं कर्म ब्रह्मचर्यम् ।....यस्य राज्ञो जनपदे ब्रह्मचर्येण युक्ताः पुरुषास्तपश्चरन्ति, तदीयं राष्ट्रमभिवर्धत इत्यर्थः । ५. नियमेन....ब्रह्मचर्यनियमस्यैव आचार्य

[illegible] आचार्य ब्रह्मचारी बालक को उपनयन अर्थात् अपने समीप लाकर अपने विद्याशरीर के मध्य गर्भरूप में स्थापित करता है।

[illegible] ब्रह्मचारी अपने श्रम एवं तप से लोगों की अथवा विश्व की रक्षा करता है।

[illegible] ब्रह्म के सब देव अमृत के साथ उत्पन्न होते है। (देव का अर्थ दिव्य आत्मा है, और अमृत का अर्थ अमर आदर्श है, अर्थात् कभी क्षीण न होने वाले दिव्य आचार विचार।)

[illegible] ब्रह्मचर्य (कर्तव्य) और तप (कर्तव्य पूर्ति के लिए किया जाने वाला श्रम) के द्वारा ही राजा अपने राष्ट्र का अच्छी तरह पालन करता है। आचार्य भी अपने ब्रह्मचर्य (नियमो) के द्वारा ही जिज्ञासु ब्रह्मचारी को अपना शिष्य बनाना चाहता है।

[illegible] ब्रह्मचर्यरूप तप के प्रभाव से ही देवो ने मृत्यु को अपहृत किया है, वे अमर हुए है। इन्द्र ने भी ब्रह्मचर्य की साधना से ही देवताओ के लिए स्वर्ग का सम्पादन किया है।

[illegible] [illegible] अपनी मध्यस्थ नाभि को सब ओर से आवेष्टित किये रहता है, वैसे ही सब देवता उच्छिष्ट (यज्ञ से अवशिष्ट अन्न अथवा [illegible]) के आश्रित है, अर्थात् उसे घेरे रहते है।

[illegible] [illegible] यथार्थ संकल्प), सत्य (वाणी से यथार्थ भाषण), [illegible], [illegible] (शान्ति, वैराग्य), धर्म, कर्म (दानादि), भूत, भविष्य, [illegible], [illegible] (सर्वजन का सम्पत्ति) और [illegible] [illegible] —ये सब [illegible] [illegible]।

१३५. इन्द्रादिन्द्रः[1]।

—११।८।६

१३६. देवाः पुरुषमाविशन्।

—११।८।१३

१३७. अद एकेन[2] गच्छति, अद एकेन[3] गच्छति, इहैकेन[3] नि षेवते।

—११।८।३३

१३८. उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।

—११।१०।१

१३९. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

—१२।१।१२

१४०. भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयाऽन्नेन मर्त्याः।

—१२।१।२२

१४१. मा नो द्विक्षत कश्चन।

—१२।१।२३

१४२. यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।

—१२।१।३५

१४३. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

—१२।१।४५

१४४. क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथः।

—१२।३।५१

१४५. हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति।

—१२।४।१३

---

१. इन्द्रात् इन्द्रत्वप्रापकात् कर्मणः इन्द्रो जज्ञे। इन्द्रशब्दः स्वकारणभूते कर्मणि उपचर्यते। २. अदः विप्रकृष्टं स्वर्गाख्यं स्थानं एकेन पुण्य कर्मणा गच्छति प्राप्नोति। ३. अदः विप्रकृष्टं नरकाख्यं स्थानं एकेन पापकर्मणा।

१३५. इन्द्र (इन्द्रत्व प्राप्ति कराने वाले कर्म) से ही इन्द्र उत्पन्न होता है।

१३६. सभी देव (दिव्य शक्तियाँ) पुरुष में निवास करते है।

१३७. एक से—पुण्य कर्म से स्वर्ग मे जाता है, एक से—पाप कर्म से नरक में जाता है। और एक से—पुण्य पाप के मिश्रित कर्म से भूलोक में सुख-दुःख भोगता है।

१३८. हे उदार वीर पुरुषो! तन कर खडे होओ और अपनी ध्वजाओं (आदर्शों) के साथ जीवनसंघर्षों के लिए संनद्ध हो जाओ।

१३९. भूमि मेरी माता है और मैं उस का पुत्र हूँ।

१४०. भूमि पर के मरणधर्मा मानव अपने पुरुषार्थ से प्राप्त अन्न से ही जीवित रहते हैं।

१४१. संसार में मुझ से कोई भी द्वेष न करे।

१४२. हे भूमि! मैं तेरे जिस भाग को खोदूँ, वह शीघ्र ही भर जाए। अर्थात् मानवजीवन के अभावग्रस्त रिक्तस्थान तत्काल पूरित होते रहें।

१४३. अनेक प्रकार के धर्म वाले और अनेक प्रकार की भाषावाले मनुष्यों को एक घर की तरह समान भाव से पृथिवी अपने में धारण करती है।

१४४. हे [illegible]! तुम [illegible] से—तेजस्वी कर्मयोग से अपने को [illegible] करो!

१४६. सत्येनावृता, श्रिया प्रावृता, यशसा परीवृता।

—१२।५।२

१४७. अमोहमस्मि सा त्वम्।

—१४।२।७१

१४८. निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्।

—१६।२।१

१४९. असंतापं मे हृदयम्।

—१६।३।६

१५०. नाभिरहं रयीणां, नाभिः समानानां भूयासम्।

—१६।४।१

१५१. योऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु।

—१६।७।५

१५२. जितमस्माकम्।

—१६।८।१

१५३. ऋतमस्माकं, तेजोऽस्माकं, ब्रह्मास्माकं,
स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकम्

—१६।८।१

१५४. प्रियः प्रजानां भूयासम्।

—१७।१।३

१५५. प्रियः समानानां भूयासम्।

—१७।१।५

१५६. उदिह्युदिहि सूर्य[1] वर्चसा माभ्युदिहि।
यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं[2] कृधि॥

—१७।१।७

---

१. सरति गच्छति संततम् इति वा, सुवति प्रेरयति स्वोदयेन सर्वं प्राणिजातं स्वस्वव्यापारे इति वा सूर्यः। २. तादृशी बुद्धिः स्वात्मसमनुगिरेषु

१४६. ब्राह्मण (विद्वान) की गौ (वाणी) सत्य से आवृत रहती है, ऐश्वर्य से पूर्ण रहती है और यश से सम्पन्न रहती है।

१४७. मैं (पति) विष्णु हूँ और तू (पत्नी) लक्ष्मी है।

१४८. सुन्दर, रमणीय (रोचक), शक्तिशाली और मधुर वाणी बोलो।

१४९. मेरा हृदय सदैव सन्तापरहित रहे।

१५०. मैं धन एवं ऐश्वर्य का नाभि (केन्द्र) होऊँ, मैं अपने बराबर के साथी जनों का भी नाभि होऊँ अर्थात् जैसे कि रथचक्र की नाभि से चक्र के सब आरे जुड़े रहते हैं, वैसे ही सब प्रकार के ऐश्वर्य और बराबर के साथी मुझ से सम्बन्धित रहे, मैं सब का केन्द्र बनकर रहूँ।

१५१. जो हम से द्वेष करता है, वह अपनी आत्मा से ही द्वेष करता है।

१५२. संसार में अपना जीता हुआ—अर्जित किया हुआ ही हमारा है।

१५३. सत्य हमारा है, तेज हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है और यज्ञ (सुकृत कर्म) भी हमारा है।

१५४. मैं जनता का प्रिय होऊँ।

१५५. मैं अपने बराबर के साथियों का प्रिय होऊँ।

१४६. सत्येनावृता, श्रिया प्रावृता, यशसा परीवृता ।

—१२।५।२

१४७. अमोहमस्मि सा त्वम् ।

—१४।२।७१

१४८. निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् ।

—१६।२।१

१४९. असंतापं मे हृदयम् ।

—१६।३।६

१५०. नाभिरहं रयीणां, नाभिः समानानां भूयासम् ।

—१६।४।१

१५१. योऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु ।

—१६।७।५

१५२. जितमस्माकम् ।

—१६।८।१

१५३. ऋतमस्माकं, तेजोऽस्माकं, ब्रह्मास्माकं,
स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकम्

—१६।८।१

१५४. प्रियः प्रजानां भूयासम् ।

—१७।१।३

१५५. प्रियः समानानां भूयासम् ।

—१७।१।५

१५६. उदिह्युदिहि सूर्य[1] वर्चसा माभ्युदिहि ।
यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं[2] कृधि ॥

—१७।१।७

---

१. सरति गच्छति संततम् इति वा, सुवति प्रेरयति स्वोदयेन सर्वं प्राणिजातं स्वस्वव्यापारे इति वा सूर्यः । २. तादृशी बुद्धिः स्वात्मशत्रुमित्रेषु

१४६. ब्राह्मण (विद्वान) की गौ (वाणी) सत्य से आवृत रहती है, ऐश्वर्य से पूर्ण रहती है और यश से सम्पन्न रहती है।

१४७. मैं (पति) विष्णु हूँ और तू (पत्नी) लक्ष्मी है।

१४८. सुन्दर, रमणीय (रोचक), शक्तिशाली और मधुर वाणी बोलो।

१४९. मेरा हृदय सदैव सन्तापरहित रहे।

१५०. मैं धन एवं ऐश्वर्य का नाभि (केन्द्र) होऊँ, मैं अपने बराबर के साथी जनों का भी नाभि होऊँ अर्थात् जैसे कि रथचक्र की नाभि से चक्र के सब आरे जुडे रहते हैं, वैसे ही सब प्रकार के ऐश्वर्य और बराबर के साथी मुझ से सम्बन्धित रहें, मैं सब का केन्द्र बनकर रहूँ।

१५१. जो हम से द्वेष करता है, वह अपनी आत्मा से ही द्वेष करता है।

१५२. संसार में अपना जीता हुआ—अर्जित किया हुआ ही हमारा है।

१५३. सत्य हमारा है, तेज हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है और यज्ञ (सुकृत कर्म) भी हमारा है।

१५४. मैं जनता का प्रिय होऊँ।

१५५. मैं अपने बराबर के साथियों का प्रिय होऊँ।

१५७. असति सत् प्रतिष्ठितम् ।

—१७।१।१६

१५८. परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।

—१८।३।६२

१५९. [1]तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीः[2] ।

—१८।४।७

१६०. यतो भयमभयं तन्नो अस्तु ।

—१९।३।४

१६१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्योऽभवत् ।
मध्यं तदस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

—१९।६।६

१६२. इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागाम्[3] ।

—१९।१४।१

१६३. अभयं मित्राद् अभयममित्राद्
अभयं ज्ञाताद् अभयं परोक्षात्[4] ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मित्रं[5] भवन्तु ॥

—१९।१५।६

१६४. कालेन[7] सर्वा नन्दन्त्यागतेन[8] प्रजा इमाः ।

—१९।५३।७

---

१. तीर्थैः—तरन्ति दुष्कृतानि एभिरिति करणे थथन् प्रत्यय, तरणसाधनैर्यज्ञादिभिः । २. प्रवतः प्रकृष्टा महीः महतीः आपदस्तरन्ति अतिक्रामन्ति । ३. अवस्यति परिसमाप्तं भवति प्रयाणं अत्र स्थाने

१५७. असत् मे अर्थात् नामरूपादि विशेषताओं से रहित अव्यक्त मे सत् अर्थात् नाम रूपादि विशेषताओं से सहित व्यक्त प्रतिष्ठित है। अर्थात् कारण मे कार्य अन्तर्निहित है।

१५८. मृत्यु हम से दूर भाग जाए, अमरता हमारे निकट आए।

१५९. तीर्थों के द्वारा, अर्थात् सत्कर्मों के द्वारा ही मानव अतिभयंकर आपत्तियों से पार हो जाते है।

१६०. जिससे हमे भय प्राप्त होने की आशंका हो, उससे भी हमे अभय प्राप्त हो।

१६१. ब्राह्मण जनहितरूप यज्ञ कर्म का अथवा समाज का मुख है, तो क्षत्रिय उस की बाहु है। वैश्य इस का मध्य अंग है, तो शूद्र उसका पैर है।

१६२. जहाँ चलना पूर्ण होता है, मै उस परम निःश्रेयस् स्वरूप गन्तव्य स्थान पर पहुच गया हूँ।

१६३. हमे शत्रु एवं मित्र किसी से भी भय न हो। न परिचितो से भय हो, न अपरचितो से। न हमे रात्रि में भय हो, और न दिन मे! किंबहुना, सब दिशाएँ मेरी मित्र हों, मित्र के समान सदैव हितकारिणी हों।

१६४. वसन्त आदि के रूप मे आये हुए काल से ही वे सब प्रजाएँ अपने-अपने कार्य की सिद्धि होने से सन्तुष्ट होती है।

१६५. कालो ह सर्वस्येश्वरः ।

—१९।५३।८

१६६. कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः ।

—१९।५४।१

१६७. काले लोकाः[1] प्रतिष्ठिताः ।

—१९।५४।४

१६८. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥

—१९।६२।१

१६९. बुध्येम शरदः शतम् ।
रोहेम[2] शरदः शतम् ॥

—१९।६७।३-४

१७०. संजीवा स्थ सं जीव्यासं[3], सर्वमायुर्जीव्यासम् ।

—१९।६९।३

१७१. इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम् ।

—२०।१२७।११

१७२. शयो हत इव ।

—२०।१३१।१६

१७३. व्याप पूरुषः ।

—२०।१३१।१७

---

१. लोकशब्दो जनवाची, भुवनवाची च । २. उत्तरोत्तरं प्ररुढाः—प्रवृद्धा भवेम । ३. संजीव्याः समीचीनजीवनवन्तः, जीवनकाले एकः क्षणोपि वैयर्थ्येन न नीयते, किं तु परोपकारित्वेनेति आयुपः सम्यक्त्वम् ।

१६५. काल ही समग्र विश्व का ईश्वर है ।

१६६. काल से ही समय पर सूर्य उदित होता है, और काल से ही अस्त हो जाता है ।

१६७. काल मे ही समग्र लोक (प्राणी अथवा विश्व) प्रतिष्ठित है ।

१६८. हे देव ! मुझ को देवो मे प्रिय बनाइए और राजाओं मे प्रिय बनाइए । मुझे जो भी देखे, मैं उन सब का प्रिय रहूँ, शूद्रों और आर्यो मे भी मैं प्रिय रहूँ ।

१६९. हम सौ वर्ष तक सभी कार्यो का यथोचित रूप से ज्ञान करते रहे, समस्याओ का समाधान पाते रहें, हम सौ वर्ष तक उत्तरोत्तर अभिवृद्धि को प्राप्त होते रहे ।

१७०. पूर्ण आयु तक आप और हम सब परोपकार करते हुए सुन्दर जीवन यापन करें ।

१७१. इन्द्र ने अपने स्तोताओ को, अनुयायी कार्यकर्त्ताओ को उद्‌बोधन किया कि तुम खड़े हो जाओ और जनसमाज मे सत्कर्म करते हुए विचरण करो ।

१७२. सोने वाला मरे हुए के समान है ।

१७३. सुरक्षित यह है, जो जनजीवन में व्याप्त हो जाता है ।

ब्राह्मण साहित्य की सूक्तियां

६

१. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतः ।

शतपथ ब्राह्मण—१।१।१।१*

२. सत्यमेव देवाः ।

—१।१।१।४

३. संग्रामो वै क्रूरम् । संग्रामे हि क्रूरं क्रियते ।

—१।२।५।१९

४. सर्वं वा इदमेति, प्रेति च ।

—१।४।१।३

५. मत्स्य एव मत्स्यं गिलति ।

—१।८।१।३

६. ब्रह्मैव वसन्तः । क्षत्रं ग्रीष्मो । विडेव वर्षाः ।

—२।१।३।५

---

*अङ्क क्रमशः काण्ड, अध्याय, ब्राह्मण तथा कण्डिका के सूचक हैं ।

ब्राह्मण साहित्य की सूक्तियां

१. वह पुरुष अपवित्र है—जो झूठ बोलता है, झूठ बोलने से मन भीतर मे गन्दा रहता है।

२. देव (महान् आत्माएं) मूर्तिमान सत्य है।

३. युद्ध क्रूर होता है। युद्ध मे क्रूर काम किए जाते है।

४. जो आता है, वह सब जाता भी है।

५. बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है।

६. ब्राह्मण वसन्त है, क्षत्रिय ग्रीष्म है और वैश्य वर्षा (ऋतु) है।

७. न श्वः श्वमुपासीत। को हि मनुष्यस्य श्वो वेद।

—श० ब्रा० २।१।३।६

८. सत्यमेव ब्रह्म।

—२।१।४।१०

९. अद्धा हि तद् यद् भूतम्, अनद्धा हि तद् यद् भविष्यत्।

—२।३।१।२५

१०. अद्धा हि तद् यदद्य। अनद्धा हि तद् यच्छ्वः।

—२।३।१।२८

११. नैव देवा अतिक्रामन्ति।

—२।४।१।६

१२ यो दीक्षते स देवतानामेको भवति।

—३।१।१।८

१३. स्वया हि त्वचा समृद्धो भवति।

—३।१।२।१६

१४. न वै देवाः स्वपन्ति।

—३।२।१।२२

१५. नान्योऽन्यं हिंस्याताम्।

—३।४।१।२४

१६ तपो वाऽग्निस्तपो दीक्षा।

—३।४।३।३

१७. तपसा वै लोकं जयन्ति।

—३।४।४।२७

१८. इमाँल्लोकाञ्छान्तो न हिनस्ति।

—३।६।४।१३

१९. द्वितीयवान् हि वीर्यवान्।

—३।७।३।८

७. 'कल कल' की उपासना मत करो, अर्थात् कल के भरोसे मत बैठे रहो। मनुष्य का कल कौन जानता है ?

८. सत्य ही ब्रह्म है।

९. जो हो चुका है, वह निश्चित है। जो होगा, वह अनिश्चित है।

१०. 'आज' निश्चित है। जो 'कल' है, वह अनिश्चित है।

११. दिव्य आत्मा मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते हैं।

१२. जो किसी व्रत में दीक्षित होता है, वह देवताओं की गणना में आ जाता है।

१३. हर व्यक्ति अपनी ही त्वचा (परिकर एवं ऐश्वर्य) से समृद्ध होता है।

१४. देव सोते नहीं हैं—अर्थात् दिव्य आत्मा कभी प्रमत्त नहीं होते।

१५. परस्पर एक दूसरे को हिंसित अर्थात् पीड़ित नहीं करना चाहिए।

१६. तप एक अग्नि है, तप एक दीक्षा है।

१७. तप के द्वारा ही सच्ची विश्वविजय प्राप्त होती है।

१८. शान्त पुरुष किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देते हैं।

१९. जिसके सहयोगी है, साथी है, वस्तुतः वही शक्तिशाली है।

२०. विद्वांसो हि देवाः ।

—श० ब्रा० ३।७।३।१०

२१. पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः ।

—५।१।१।१

२२. सत्यं वै श्रीर्ज्योतिः ।

—५।१।५।२८

२३. यावज्जायां न विन्दते....असर्वो हि तावद् भवति ।

—५।२।१।१०

२४. न हि माता पुत्रं हिनस्ति, न पुत्रो मातरम् ।

—५।२।१।१८

२५. ये स्थवीयांसोऽपरिभिन्नास्ते मैत्रा,
न वै मित्रः कंचन हिनस्ति, न मित्रं कश्चन हिनस्ति ।

—५।३।२।७

२६. न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम् ।

—६।३।१।१४

२७. पुण्यकृतः स्वर्गलोकं यन्ति ।

—६।५।४।८

२८. क्रतुमयोऽयं पुरुषः ।

—१०।६।३।१

२९. स्वर्गो वै लोकोऽभयम् ।

—१२।८।१।५

३०. समानी बन्धुता ।

—१२।८।२।१६

३१. पाप्मा वै तमः ।

—१४।३।१।२८

३२. *असतो मा सद् गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्यो र्मा अमृतं गमय ।

—१४।४।१।३०

---

*देखें ३२ से ३५ तक तुलना के लिए बृहदारण्यक उपनिषद्, अ० १ ब्रा० ३-४ ।

२०. विद्वान ही वस्तुतः देव है ।

२१. अतिअभिमान पतन का द्वार (मुख) है ।

२२. सत्य ही श्री (शोभा व लक्ष्मी) है, सत्य ही ज्योति (प्रकाश) है ।

२३. गृहस्थ पुरुष जब तक पत्नी से युक्त नहीं हो पाता, तब तक अपूर्ण रहता है ।

२४. माता पुत्र को कष्ट न दे, और पुत्र माता को कष्ट न दे ।

२५. जो महान् और अभिन्न होते है वे ही मित्र होते है और जो मित्र होता है वह किसी की हिंसा नहीं करता है । तथा मित्र की भी कोई हिंसा नही करता है ।

२६. अयुक्त (अस्थिर) मन से कुछ भी करना संभव नही है ।

२७. पुण्य कर्म (अच्छे कर्म) करने वाले स्वर्ग लोक को जाते हैं ।

२८. यह पुण्य क्रतुमय—अर्थात् कर्मरूप है ।

२९. अभय ही स्वर्ग लोक है ।

३०. समानता ही बन्धुता है ।

३१. यज्ञ ही नमस्कार है ।

३२. हे प्रभु ! मुझे असत् से सत् की ओर ले चल !
मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल !
मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चल !

३३. मृत्युर्वा असत्, सदमृतम् ।

—श० ब्रा० १४।४।१।३१

३४. मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम् ।

—१४।४।१।३२

३५. द्वितीयाद् वै भयं भवति ।

—१४।४।२।३

३६. ब्रह्म संधत्तम्....क्षत्त्रं संधत्तम् ।

—*तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।१

३७. मनः संधत्तम्....वाचः संधत्तम् ।

—१।१।१

३८. चक्षुर्वै सत्यम् ।

—१।१।४

३९. नास्य ब्राह्मणोऽनाश्वान् गृहे वसेत् ।

—१।१।४

४०. भद्रो भूत्वा सुवर्गं लोकमेति ।

—१।१।४

४१. तूष्णीमेव होतव्यम् ।

—१।१।६

४२. विश्वा आशा दीद्यानो विभाहि ।

—१।१।७

४३. न मांसमश्नीयात्, न स्त्रियमुपेयात् ।
यन्मांसमश्नीयात्, यत् स्त्रियमुपेयात्,
निर्वीर्यः स्यात्, नैनमग्निरुपेयात् ।

—१।१।९

---

* कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण । आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना द्वारा प्रकाशित (ई० स० १८९८) संस्करण ।

३३. असत्य मृत्यु है, और सत्य अमृत है।

३४. अन्धकार मृत्यु है और प्रकाश अमृत है।

३५. दूसरे से ही भय होता है।

३६. अपने मे ब्राह्मण (ज्ञानज्योति) का सन्धान (सम्पादन, अभिवर्धन) करो, अपने मे क्षत्रियत्व (कर्मज्योति) का सन्धान करो।

३७. अपने मे मन (मनन शक्ति) का सन्धान करो, अपने में वाचा (वक्तृत्व शक्ति) का सन्धान करो।

३८. आंख ही सत्य है, अर्थात् सुनी सुनाई बातों की अपेक्षा स्वयं का साक्षात्कृत अनुभव ही सत्य होता है।

३९. गृहस्थ के घर मे कोई भी विद्वान् अतिथि बिना भोजन किए (भूखा) न रहने पाए।

४०. भद्र साधक ही स्वर्ग लोक का अधिकारी होता है।

४१. मौन भाव से चुपचाप होम करना चाहिए, साधना करनी चाहिए।

४२. तू हव्य प्रकाशमान होकर समग्र दिशाओं को अच्छी तरह प्रकाशमान कर।

४३. ब्रह्म भाव की उपासना करने वाले को न मांस खाना चाहिए, न स्त्री-संसर्ग ही करना चाहिए।
जो मांस खाता है, स्त्रीसंसर्ग करता है, वह निर्वीर्य हो जाता है, उसको ब्रह्म तेज प्राप्त नहीं होता।

४४. घृतैर्बोधयताऽतिथिम् ।

—तै० ब्रा० १।२।१

४५. अनृतात् सत्यमुपैमि, मानुषाद् दैव्यमुपैमि ।

—१।२।१

४६. उभयोर्लोकयोर् ऋद्ध्वा अतिमृत्युतराम्यहम् ।

—१।२।१

४७. संसृष्टं[1] मनो अस्तु वः ।

—१।२।१

४८. सं[2] या वः प्रियास्तनुवः, सं प्रिया हृदयानि वः ।
आत्मा वो अस्तु सं प्रियः ।

—१।२।१

४९. अजीजनन्नमृतं मर्त्यासः ।

—१।२।१

५०. अहं त्वदस्मि मदसि त्वम् ।

—१।२।१

५१. श्रीरमृता सताम् ।

—१।२।१

५२. न मेद्यतो ऽ नुमेद्यति, न कृश्यतो ऽ नुकृश्यति ।

—१।२।६

५३. देवा वै[3] ब्रह्मणश्चान्नस्य च [4]शमलमपाघ्नन् ।

—१।३।२

५४. वाग् वै सरस्वती ।

—१।३।५

---

१. परस्पर अनुरञ्जनानि....कार्येष्वैकमत्यम् । २. संसृज्यन्ताम् एकस्मिन्नेव

४४. अतिथि को घृत से अर्थात् स्नेह-सिक्त मधुरवाणी से सम्बोधित करना चाहिए।

४५. मैं असत्य से सत्य को प्राप्त करता हूँ, मैं मनुष्य से देवत्व को प्राप्त करता हूँ।

४६. मैं लोक और पर लोक—दोनो में समृद्ध होकर मृत्यु (विनाश) से पूर्ण-रूपेण पार हो रहा हूँ।

४७. तुम्हारे हृदय परस्पर एक दूसरे से अनुरक्त हों, अर्थात् प्राप्त कर्तव्यो मे एकमत हो।

४८. तुम्हारे प्रिय शरीर एक कार्य (लक्ष्य) में प्रवृत्त हो। तुम्हारे हृदय एक कार्य मे प्रवृत्त हो। तुम्हारी आत्मा एक कार्य मे प्रवृत्त हो।

४९. मर्त्यों (मरणधर्मा मनुष्यो) ने ही अमृत का आविष्कार किया है।

५०. मैं तुमसे हूँ, तू मुझसे है।

५१. सन्मार्गवर्ती सत्पुरुषो की श्री अमृत (अजर अमर) रहती है।

५२. शरीर से सम्बन्धित होते हुए भी चैतन्य आत्मा न शरीर के स्थूल होने पर स्थूल होता है, और न कृश होने पर कृश।

५३. देव (दिव्य आत्मा) ही ब्रह्म (वेद, ज्ञान) और क्षत्र (भोगोपभोग) से मलिन मैल को दूर करते हैं।

५४. वाणी ही सरस्वती है।

५५. नमस्कारोहि पितॄणाम्[1]।

—तै० ब्रा० १।३।१०

५६. मनसो वाचं संतनु[2]।

—१।५।७

५७ सबलो अनपच्युतः[3]।

—१।५।९

५८. नाराजकस्य युद्धमस्ति[4]।

—१।५।९

५९. अशनया-पिपासे ह वा उग्रं वचः[5]।

—१।५।९

६०. बहुरूपा हि पशवः समृद्ध्यै।

—१।६।३

६१. बहु वै राजन्यो ऽनृतं करोति।

—१।७।२

६२. अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति।

—१।७।२

६३. ब्राह्मणो वै प्रजानामुपद्रष्टा[6]।

—२।२।१

६४. समुद्र इव हि कामः, नैव हि कामस्यान्तो ऽस्ति, न समुद्रस्य।

—२।२।५

६५. प्रजया हि मनुष्यः पूर्णः।

—३।३।१०

---

१. अत्यन्तं प्रिय इति शेषः। २. संयोजयेत्यर्थः। ३. कदाचिदप्यपलायित।

५५. पिता आदि गुरुजनों को नमस्कार बहुत अधिक प्रिय है।

५६. वाणी को मन के साथ जोड़ो।

५७. सच्चा बलवान (शक्तिशाली) वह है, जो कभी किसी से डर कर भागता नहीं है।

५८. राजा (नायक) के बिना सेना युद्ध नहीं कर सकती, भाग जाती है।

५९. भूखे और प्यासे लोगों की आर्त वाचा ही अधिक उग्र होती है, अतः दयालु-जन उसे सुन नहीं सकते हैं, अर्थात् उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।

६०. अनेक प्रकार के पशु ही गृहस्थ की समृद्धि के हेतु होते हैं।

६१. राजा (राजनीतिक व्यक्ति) बहुत अधिक असत्य का आचरण करता है।

६२. झूठ बोलने पर वरुण पकड़ लेते हैं।

६३. ब्राह्मण (सदाचारी विद्वान) ही प्रजा (जनता) का पथप्रदर्शक उपदेष्टा है।

६४. काम (इच्छा, तृष्णा) समुद्र के समान है।
जैसे कि समुद्र का अन्त नहीं है, वैसे ही काम का भी कोई अन्त (सीमा) नहीं है।

६५. गृहस्थ मनुष्य प्रजा (संतान) से ही पूर्ण होता है।

६६. सत्यं म आत्मा[1]।

—तै० ब्रा० ३।७।७

६७. श्रद्धा मे ऽक्षितिः[2]।

—३।७।७

६८. तपो मे प्रतिष्ठा[3]।

—३।७।७

६९. वृजिनमनृतं दुश्चरितम्। ऋजु कर्म सत्यं सुचरितम्।

—३।७।१०

७०. अनन्ता वै वेदाः।

—३।१०।११

७१. श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते, श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी।

—३।१२।३

७२. श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य।

—३।१२।३

७३. मनसो वशे सर्वमिदं बभूव।

—३।१२।३

७४. नावगतो[4] ऽपरुध्यते, नापरुद्धो ऽवगच्छति।

—*ताण्ड्य महाब्राह्मण २।१।४

७५. न श्रेयांसं पापीयान् अभ्यारोहति।

—२।१।४

७६. नरो वै देवानां ग्रामः[5]।

—६।९।२

---

१. स्वभावः। २. अक्षयाऽस्तु। ३. स्थैर्यहेतुरस्तु। ४. कर्तरि निष्ठा। अवगन्ता ज्ञाता। ५. ग्राम—इति निवासाश्रयः।

—सामवेदीय ताण्ड्यमहाब्राह्मण, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी से (वि० स० १९९३) मुद्रित।

६६. सत्य मेरा आत्मा (सहज स्वभाव) है।

६७. मेरी श्रद्धा अक्षय हो।

६८. तप मेरी प्रतिष्ठा है, मेरी स्थिरता का हेतु है।

६९. असत्य कुटिलता से किया जाने वाला दुश्चरित पाप है। और सत्य सरलता से किया जाने वाला सुचरित पुण्य है।

७०. वेद (ज्ञान) अनन्त है।

७१. श्रद्धा से ही देव देवत्व प्राप्त करते हैं, श्रद्धा देवी ही विश्व की प्रतिष्ठा है—आधारशिला है।

७२. श्रद्धा देवी ही सत्यस्वरूप ब्रह्म से सर्वप्रथम उत्पन्न हुई है।

७३. समग्र विश्व मन के वश में है।

७४. ज्ञानी पुरुष अज्ञान से आक्रान्त नही होता, और जो अज्ञान से आक्रान्त है वह सत्य को नही जान पाता।

७५. पापात्मा श्रेष्ठजनों को अतिक्रान्त नही कर सकता।

७६. हृदय देवों का धाम है अर्थात् निवासस्थान है।

—ब्राह्मण के समस्त टिप्पण सायणाचार्यविरचित भाष्य के हैं।

* २, ३ क्रमशः ज्ञान, ... एवं ... के सूचक हैं।

७७. यदि पुत्रो ऽशान्तं चरति पिता तच्छमयति ।

—तां० ब्रा० ७।६।४

७८. एतद् वाचश्छिद्रं यदनृतम् ।

—८।६।१३

७९. ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात् ।

—११।१।२

८०. हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति ।

—१७।१।२

८१. वाग् वै शबली[1] ।

—२१।३।१

८२. नानावीर्याण्यहानि करोति ।

—२१।९।७

८३. मनु[2] वै यत्किञ्चावदत् तद् भेषजम्[3] ।

—२३।१६।७

८४. परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः ।

—*गोपथ ब्राह्मण१।१।१

८५. यद् वा अहं किञ्चन मनसा धारयामि तथैव तद् भविष्यति

—१।१।६

८६. श्रेष्ठो ह वेदस्तपसो ऽधिजातः ।

—१।१।९

८७. यजमाना रजसाऽपध्वस्यति, श्रुतिश्चापध्वस्ता तिष्ठति ।

—१।१।२८

---

१. शबली—कामधेनुः । २. रागद्वेषादिशोकापनोदकस्य मनोः परानुग्रहार्थम् । ३. भेषजं—हितम् । * अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण,

७७. यदि पुत्र गलत राह पर चलता हो तो पिता का कर्तव्य है कि उसे सही राह पर लाए।

७८. असत्य, वाणी का छिद्र है।

७९. ब्रह्म क्षत्र से पहले है, अर्थात् कर्म से पूर्व ज्ञान का होना आवश्यक है।

८०. जो निषिद्ध कर्म का आचरण करते हैं, वे हीन से और अधिक हीन होते जाते हैं।

८१. वाणी कामधेनु है।

८२. सत्पुरुष अपने जीवन के प्रत्येक दिन को विविध सत्कर्मों से सफल बनाते रहते है।

८३. वीतराग मनु ने जो कुछ कहा है, वह एक हितकारी औषध के तुल्य है।

८४. देवता (विद्वान लोग) परोक्ष से प्रेम करते हैं और प्रत्यक्ष से द्वेष रखते हैं। अर्थात् क्षणभंगुर वर्तमान को छोड़कर भविष्य की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

८५. मैं अपने मन में जैसा भी विचारूंगा, वैसा ही होगा।

८६. श्रेष्ठ ज्ञान तप के द्वारा ही प्रकट होता है।

८७. देवगण (साधक) राग से पतित हो जाते हैं और उनकी श्रुति (शास्त्र-ज्ञान) भी नष्ट हो जाती है।

८८. धर्मो हैनं गुप्तो गोपाय।

—गो० ब्रा० १।२।४

८९. किं पुण्यमिति ? ब्रह्मचर्यमिति।
किं लौक्यमिति ? ब्रह्मचर्यमेवेति !

—१।२।५

९०. अवि सप्ताय महद् भयं ससृजे।

—१।२।१८

९१. आत्मन्येव जुह्वति, न परस्मिन्।

—१।३।१

९२. छिद्रो हि यज्ञो भिन्न इवोदधिर्विस्रवति।

—२।२।

९३. यजमानेऽधः शिरसि पतिते स देशोऽधःशिरा पतति।

—२।२।१

९४. योऽविद्वान् संचरति आर्तिमाच्छंति।

—२।२।१

९५. न हि नमस्कारमतिदेवाः।
ते ह नमसिताः कर्तारमतिसृजन्ति।

—२।२।१

९६. सत्यं ब्रह्मणि, ब्रह्म तपसि।

—२।३।

९७. अमृतं वै प्रणवः, अमृतेनैव तत् मृत्युं तरति।

—२।३।११

९८. वाग् हि शस्त्रम्।

—२।४।१०

९९. मनो वै ब्रह्मा।

—२।५।६

८८. जो धर्म की रक्षा करता है,धर्म उसकी रक्षा करता है।

८९. पवित्र क्या है ? ब्रह्मचर्य है।
दर्शनीय क्या है ? ब्रह्मचर्य है।

९०. अत्यन्त अहंकारी को बहुत भय (खतरों) का सामना करना पड़ता है।

९१. विद्वान् अपने मे ही होम करते हैं, दूसरे (अग्नि आदि) में नहीं।

९२. छिद्रसहित अर्थात् दूषित यज्ञ (कर्म) फूटे हुए जलाशय के समान बह जाता है।

९३. यजमान (नेता) के औंधेमुँह गिरने पर देश भी औंधेमुँह गिर जाता है।

९४. अनभिज्ञ व्यक्ति यदि किसी कर्म मे प्रवृत्त होता है तो वह केवल क्लेश ही प्राप्त करता है।

९५. देवता (सज्जन पुरुष) नमस्कार का तिरस्कार नहीं करते, वे नमस्कार अर्थात् अपनी उपासना करनेवाले को अवश्य ही सब प्रकार से संपन्न करते हैं।

९६. सत्य ब्रह्म में प्रतिष्ठित है और ब्रह्म तप मे।

९७. [illegible] (अविनाशी दिव्य शक्ति) ही स्तुति या उपासना के योग्य है। [illegible] [illegible] को मार दिया जाता है।

९८. [illegible] है।

१००. तमः पाप्मा ।

गो० ब्रा०—२।५।३

१०१. या वाक् सोऽग्निः ।

—२।४।११

१०२. अभयमिव ह्यन्विच्छ ।

—२।६।४

१०३. आत्मसंस्कृति वैं शिल्पानि, आत्मानमेवास्य तत्संस्कुर्वन्ति ।

—२।६।७

१०४. यो ऽसौ तपति स वैं शंसति ।

—२।६।१४

१०५. अन्नं वैं विराट् ।

—*ऐतरेय ब्राह्मण १।६

१०६. ऋतं[1] वाव दीक्षा, सत्यं[2] दीक्षा,
तस्माद् दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम् ।

—१।६

१०७. सत्यसंहिता वै देवाः ।

—१।६

१०८. चक्षु वैं विचक्षणम्, वि ह्येनेन पश्यति[3] ।

—१।६

१०९ विचक्षणवतीमेव वाचं वदेत्,
सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति ।

—१।६

---

* ऐतरेय ब्राह्मण आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना द्वारा प्रकाशित (ई० स०
१९३०) संस्करण ।

—ऐ० ब्रा० के समस्त टिप्पण सायणाचार्यविरचित भाष्य से हैं ।

—अंक क्रमशः अध्याय तथा खण्ड के सूचक हैं ।

१००. अन्धकार (अज्ञान) पाप है।

१०१. वाणी भी एक प्रकार की अग्नि है।

१०२. तू अभय की खोज कर।

१०३. शिल्प (कला) आत्मा के संस्कार है, अतः शिल्प मनुष्य की आत्मा को संस्कारित करते हैं।

१०४. जो तपता है, अपने योग्य कर्म में जी जान से जुटा रहता है, वही संसार में प्रशंसित होता है।

१०५. विश्व में श्रम ही विराट् तत्त्व है।

१०६. व्रत (मानसिक सत्यसंकल्प) ही दीक्षा है, सत्य (वाचिक सत्य भाषण) ही दीक्षा है, अतः दीक्षित (साधक) को सत्य ही बोलना चाहिए।

१०७. दिव्य आत्माएँ सत्यसंहित होती हैं, अर्थात् उनके प्रत्येक वचन का [illegible] सत्य से समन्वित होता है।

१०८. [illegible] ही विचक्षण है, क्योंकि चक्षु के द्वारा ही वस्तुतत्त्व का यथार्थ दर्शन एवं कथन होता है।

१०९. [illegible] (अनुकूल) वचन ही बोलना चाहिए, क्योंकि [illegible] वचन ही [illegible] होता है।

११०. यः श्रेष्ठतामश्नुते[1], स किल्विषं[2] भवति ।

ऐ० ब्रा०—३।२

१११. देवया विप्र उदीर्यति[3] वाचम् ।

—६।२

११२. अशनाया वै पाप्मा ऽमतिः[4] ।

—६।२

११३. यां वै दृप्तो[5] वदति, यामुन्मत्तः[6] सा वै राक्षसी वाक् ।

—६।७

११४. मनो वै दीदाय,[7] मनसो हि न किंचन पूर्वमस्ति[8] ।

—१०।८

११५. मनसा वै यज्ञस्तायते ।

—११।११

११६. परिमितं वै भूतम्, अपरिमितं भव्यम् ।

—१६।६

११७. वाग् वै समुद्रः, न वाक् क्षीयते, न समुद्रः क्षीयते ।

—२३।१

११८. श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाँल्लोकान् जयति ।

—३२।१०

११९. अन्नं हि प्राणः ।

—३३।१

१२०. पशवो विवाहाः ।

—३३।१

---

१. प्रयोगपाटवाभिमानमश्नुते प्राप्नोति । २. पण्डितंमन्यत्वेन । ३. उद्गमयति, उच्चारयतीत्यर्थः । ४. अमतिशब्देन क्षुधा वा पापं वाऽभिधीयते तयोर्बुद्धिभ्रंशहेतुत्वात् । ५. धनविद्यादिना दृप्तो दर्पं प्राप्तः परनिन्दकः [illegible] ।

११०. जो सत्कर्म में श्रेष्ठ होने का अहंकार करता है, वह भी पाप का भागी होता है।

१११. सदाचारी विद्वान् दैवी वाणी बोलते हैं।

११२. भूख और पापाचार से बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

११३. जो ऐश्वर्य एवं विद्या के घमंड में दूसरों का तिरस्कार करने वाली वाणी बोलता है, जो पूर्वापर सम्बन्ध से रहित विवेकशून्य वाणी बोलता है, वह राक्षसी वाणी है।

११४. सर्वार्थ का प्रकाशक होने से मन ही दीप्तिमान् है, मन से पहले कुछ भी नहीं है—अर्थात् मन के बिना किसी भी इन्द्रिय का व्यापार नहीं होता है।

११५. मन से ही कर्म का विस्तार होता है।

११६. जो भूत है, हो चुका है, वह सीमित है, और जो भव्य है, होने वाला है, वह असीम है—अर्थात् भविष्य की संभावनाएँ सीमातीत है।

११७. वाणी समुद्र है। न समुद्र क्षीण होता है, न वाणी ही क्षीण होती है।

११८. श्रद्धा एवं सत्य के युगल (जोड़े) से ही स्वर्ग लोक को जीता जा सकता है।

११९. दक्ष ही प्राण है।

१२०. गाय, भैंस आदि पशु कुटुम्ब जीवन के निर्वाहक है।

१२१. सखा ह जाया ।

ऐ० ब्रा०—३३।१

१२२. ज्योतिर्हि पुत्रः ।

—३३।१

१२३. नाऽनाश्रान्ताय श्रीरस्ति ।

—३३।३

१२४. पापो नृषद्वरो जनः ।

—३३।३

१२५. इन्द्र इच्चरतः सखा ।

—३३।३

१२६. पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे, भूष्णुरात्मा फलग्रहिः[1] ।
शेरे[2] ऽस्य सर्वे पाप्मानः, श्रमेण प्रपथे हताः ॥
चरैवेति....चरैवेति....

—३३।३

१२७. आस्ते भग[3] आसीनस्य, ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य[4], चराति चरतो भगः ॥
चरैवेति....चरैवेति....

—३३।३

---

१. आरोग्यरूपफलयुक्तो भवति । २. शेरे शेरते शयाना इव भवन्ति ।
३. सौभाग्यम् । ४. भूमौ शयानस्य ।

१२१. पत्नी सखा (मित्र) है।

१२२. पुत्र घर की ज्योति है।

१२३. श्रम नही करने वाले की समाज मे श्री (शोभा) नही होती। अथवा श्रमहीन आलसी को श्री (लक्ष्मी) प्राप्त नही होती।

१२४. निठल्ला बैठा रहकर खानेवाला श्रेष्ठ जन भी पापी है।

१२५. इन्द्र (ईश्वर) भी चलने वाले का अर्थात् श्रम करने वाले का ही मित्र (सहायक) होता है।

१२६. चलते रहनेवाले पर्यटक की जंघाएँ पुष्पिणी हो जाती हैं, सुगंधित पुष्प के समान सर्वत्र निर्माण का सौरभ फैलाती हैं, आदर पाती हैं। चलते रहने वाले का जीवन वर्धिष्णु (निरन्तर विकासशील) एवं फलग्रहि (आरोग्य आदि फल से युक्त) होता है। चलने वाले के सब पाप-दोष मार्ग मे ही श्रम से विनष्ट होकर गिर जाते हैं।

चले चलो.... चले चलो....!

१२७. बैठे हुए का भाग्य बैठा रहता है, उठता या बढ़ता नहीं। उठ कर खड़े होनेवाले का भाग्य उन्नति के लिए उठ खड़ा होता है। जो आदमी जमीन पर सोया पड़ा रहता है, उसका भाग्य भी सोता रहता है, जागता नहीं है। जो देश देशान्तर मे अर्जन के लिए चल पड़ता है, उसका भाग्य भी चल पड़ता है, दिन-दिन बढ़ता जाता है।

चले चलो.... चले चलो....!

१२८. कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः[1] ।
उत्तिष्ठँस्त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरन् ॥
चरैवेति....चरैवेति....

ऐ० ब्रा०—३३।३

१२९. चरन् वै मधु विन्दति, चरन् स्वादुमुदुम्बरम्[2] ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं[3], यो न तन्द्रयते[4] चरन् ॥
चरैवेति....चरैवेति....

—३३।३

१३०. ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद् राष्ट्रं समृद्धं भवति ।

—३७।५

१३१. यद् ददामीत्याह यदेव वाचो जिताम्[5] ।

—३७।५

१३२. अप्रतीतो जयति सं धनानि ।

—४०।३

१३३. राष्ट्राणि वै धनानि ।

—४०।३

१३४. विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः ।

—४०।४

---

१. चतस्रः पुरुषस्यावस्थाः—निद्रा, तत्परित्यागः, उत्थानं, संचरणं चेति । ताश्चोत्तरोत्तरश्रेष्ठत्वात् कलि-द्वापर-त्रेता-कृतयुगैः समानाः । २. उदुम्बरमुपलक्षणम् । तत्र तत्र विद्यमानं भोगविशेषं लभते । ३. श्रेमाणम् ।

१२८. सोया पड़ा रहने वाला (आलसी, निष्क्रिय) कलियुग है, निद्रा त्याग कर जग जाने वाला (आलस्य त्यागकर कर्तव्य का संकल्प करने वाला) द्वापर है, उठ कर खड़ा होने वाला (कर्तव्य के लिए तैयार हो जाने वाला) त्रेता है, और कर्तव्य के संघर्षपथ पर चल पड़ने वाला कृत युग है।

चले चलो....चले चलो !

१२९. चलने वाला ही मधु और सुस्वादु उदुम्बर अर्थात् सर्वोत्तम ऐश्वर्य प्राप्त करता है। सूर्य की महिमा को देखिए कि वह चलता हुआ कभी थकता नहीं है।

चले चलो....चले चलो !

१३०. जहां क्षत्रिय ब्राह्मण के नेतृत्व मे रहता है, अर्थात् कर्म ज्ञान के प्रकाश मे चलता है, वह राष्ट्र समृद्धि की ओर बढ़ता रहता है।

१३१. जो 'देता हूँ'—यह कहता है, वह एक प्रकार से वाणी की विजय है।

१३२. जो राजा विरोधी शत्रुओं से रहित है, वही समृद्धि प्राप्त कर सकता है।

१३३. राजा के लिए राष्ट्र ही वास्तविक धन है।

१३४. सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण ही राष्ट्र का संरक्षक होता है।

आरण्यक साहित्य की सूक्तियां

१. अग्निर्वै महान् ।

*शाङ्खायन आरण्यक—१।५

२. य एवं विद्वांसमपवदति स एव पापीयान् भवति ।

—१।८

३. यस्त्वमसि सोऽहमस्मि ।

—३।६

४. केन सुखदुःखे इति ? शरीरेण इति ।

—३।७

५. देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति ।

—४।२

६. मा भेत्थाः, मा व्यथिष्ठाः ।

—४।११

७. सत्यं हि इन्द्रः ।

—५।१

---

* ऋग्वेदीय शाङ्ख्यायनारण्यक (कौषीतिकी आरण्यक) आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना द्वारा (ई० सं० १९२२) में प्रकाशित ।

आरण्यक साहित्य की सूक्तियां

●

१. संसार में अग्नितत्व (तेजस्) ही महान् है।

२. जो विद्वानों की निन्दा करता है, वह पापी होता है।

३. हे भगवन् ! जो तू है, वही मैं हूँ।

४. सुख दुःख किस से होते हैं ? शरीर से होते हैं।

५. [illegible] जन बिना मांगे सहयोग देते हैं।

६. [illegible] करो, मन [illegible] हो।

७. [illegible] है।

८ प्रज्ञापेतं शरीरं न सुखं न दुःखं किंचन प्रज्ञपयेत् ।

—शां० आ० ५।७

९. एष प्रज्ञात्मा ऽनन्तोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा
भूयान् भवति, नो एव असाधना कनीयान् ।

—५।८

१०. मनसा वा अग्रे कीर्तयति तद् वाचा वदति,
तस्मान् मन एव पूर्वरूपं वागुत्तररूपम् ।

—७।२

११. यथाऽसौ दिव्यादित्य एवमिदं शिरसि चक्षुर्यथाऽसावन्तरिक्षे
विद्युद् एवमिदमात्मनि हृदयम् ।

—७।४

१२. माता पूर्वरूपं पितोत्तररूपं, प्रजा संहिता ।

—७।१६

१३. प्रज्ञा पूर्वरूपं श्रद्धोत्तररूपं कर्म संहिता ।

—७।१८

१४. सर्वा वाग् ब्रह्म ।

—७।२३

१५. आपस्तृप्ता नदीस्तर्पयति, नद्यस्तृप्ता समुद्रं तर्पयन्ति ।

—१०।७

१६. वाचि मेऽग्निः प्रतिष्ठितो, वाग् हृदये, हृदयमात्मनि ।

—११।१

१७. शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः
श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत् ।

—१३।१

१८. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद्,
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।

८. प्रज्ञा (चेतना) से रहित शरीर सुख दुःख आदि किसी भी प्रकार की अनुभूति नहीं कर सकता ।

९. यह चैतन्य प्रज्ञात्मा अनन्त है, अजर है, अमृत है । न यह सत्कर्मों से बड़ा होता है, और न असत्कर्मों से छोटा ।

१०. मनुष्य सर्वप्रथम मन मे सोचता है, फिर उसी को वाणी से बोलता है, अतः मन पूर्व रूप है और वाणी उत्तर रूप है ।

११. जिस प्रकार आकाश मे सूर्य है उसी प्रकार मस्तक मे चक्षु (नेत्र) है । और जिस प्रकार अन्तरिक्ष मे विद्युत, है उसी प्रकार आत्मा मे हृदय है ।

१२. माता पूर्वरूप है और पिता उत्तर रूप, और प्रजा (संतान) दोनो के बीच की संहिता है ।

१३. प्रज्ञा (बुद्धि) पूर्वरूप है और श्रद्धा उत्तर रूप, और कर्म दोनों के बीच की संहिता है ।

१४. समग्र प्राणी ब्रह्मस्वरूप है ।

१५. जल तृप्त होते है तो नदियो को तृप्त करते है, और नदिया तृप्त होती है तो समुद्र को तृप्त करती है । (इसी प्रकार व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र एवं विश्व तृप्त होते जाते है ।)

१६. मेरी वाणी मे अग्नि (तेज) प्रतिष्ठित है, वाणी हृदय मे प्रतिष्ठित है और हृदय आत्मा मे प्रतिष्ठित है ।

१७. साधक को शान्त, दान्त, उपरत (विषयो से विरक्त), तितिक्षु (सहनशील) एवं समाधान होकर आत्मा मे ही आत्मा का दर्शन करना चाहिए ।

योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते,
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

शां० श्रा०—१४।२

१९. सुमृडीका[1] सरस्वति ! मा ते व्योम[2] संदृशि ।

*तैत्तिरीय आरण्यक—१।१

२०. स्वस्तिर्मानुषेभ्यः ।

—१।६

२१. सहस्रवृदियं भूमिः ।

—१।१०

२२. जाया भूमिः, पतिर्व्योम ।

—१।१०

२३. नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात्,
न निष्ठीवेत्, न वि निवसनः स्नायात् ।

—१।२६

२४. उत्तिष्ठत, मा स्वप्त ।

—१।२७

२५. मा स्म प्रमाद्यन्तमाध्यापयेत् ।

—१।३१

२६. तपस्वी पुण्यो भवति ।

—१।६२

२७. ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।

—२।२

२८. जुगुप्सेतानृतात् ।

—२।८

---

* कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक, आनन्दाश्रममुद्रणालय पूना द्वारा प्रकाशित (ई० स० १८९८) संस्करण ।

१. सुमृडीका सुखहेतुर्भव । २. व्योम छिद्रम् ।

फलों से हीन केवल सूखा ठूंठ। अर्थ का ज्ञाता ही समग्र कल्याण का भागी होता है। और अन्ततः ज्ञान के द्वारा सब पापों को नष्ट कर नाक (दुःखों से रहित स्वर्ग या मोक्ष) प्राप्त करता है।

१९. हे सरस्वती (ज्ञानशक्ति)! तू मुझे सुख देने वाली हो, तुझमें कोई छिद्र न दिखाई दे।

२०. मानव जाति का कल्याण हो।

२१. यह भूमि उपकारी होने से हजारों-लाखों लोगों के द्वारा अभिनन्दनीय है।

२२. यह भूमि प्राणियों को जन्म देने वाली है, अतः माता है और आकाश वृष्टि आदि के द्वारा पालन करता है, अतः पिता है।

२३. जल में मल मूत्र नहीं करना चाहिए, थूकना नहीं चाहिए और न नंगा होकर स्नान ही करना चाहिए।

२४. उठो, मत सोये पड़े रहो।

२५. प्रमादी दुराचारी व्यक्ति को अध्ययन नहीं कराना चाहिए।

२६. सदाचारी पवित्र होता है।

२७. [illegible] होता हुआ पुरुष अवश्य ही ब्रह्म को प्राप्त करता है।

२८. पाप से जुगुप्सा (घृणा) रखनी चाहिए।

२९. पयो ब्राह्मणस्य व्रतम् ।[1]

तै० आ०—२।८

३०. तपो हि स्वाध्यायः[2] ।

—२।१४

३१. यावती वैं देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति ।

—२।१५

३२. आत्मा हि वरः ।

—२।१६

३३. हृदा[3] पश्यन्ति[4] मनसा मनीषिणः ।

—३।११

३४ शर्म विश्वमिदं जगत् ।

—४।१

३५. मधु मनिष्ये[5], मधु जनिष्ये[6], मधु वक्ष्यामि[7], मधु वदिष्यामि ।

—४।१

३६. सह नौ यशः, सह नौ ब्रह्मवर्चसम् ।

—७।३

३७. सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च[8] ।
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च ।

—७।९

---

१. व्रतं भोजनमित्यर्थः । २. सत्स्वपि मेघादिनिमित्तेषु स्वाध्यायमधीते तदा तपस्तप्तं भवति । ३ हृत्पुण्डरीकगतेन नियमितेन अन्तःकरणेन । ४. आत्मा साक्षात्कुर्वन्ति । ५. मनसि सङ्कल्पयिष्ये । ६. संकल्पादूर्ध्वं ....मधु तन्मधुरं [illegible]

२९. ब्राह्मण का भोजन दूध है।

३०. स्वाध्याय स्वयं एक तप है

३१. जितने भी देवता है, वे सब वेदवेत्ता ब्राह्मण (विद्वान्) में निवास करते हैं।

३२. आत्मा ही श्रेष्ठ है।

३३. हृदय कमल में नियमित (एकाग्र) हुए मन के द्वारा ही मनीषी (ज्ञानी) सत्य का साक्षात्कार करते हैं।

३४. यह समग्र विश्व मेरे को गुरुरूप हो, अर्थात् मेरे अनुष्ठेय कर्मों में विघ्नों का परिहार कर अनुग्रह करे।

३५. मैं मन में मधुर मनन (संकल्प) करूंगा, संकल्प के अनन्तर मधुर कर्मों का प्रारंभ करूंगा, प्रारंभ करने के अनन्तर समाप्तिपर्यंत कर्मों का निर्वाह करूंगा, और इस बीच में सदैव साथियों के साथ मधुर भाषण करता रहूंगा।

३६. हम (गुरु-शिष्य) दोनों का यश एक साथ बढ़े, हम दोनों का ब्रह्म-तेज एक साथ बढ़े।

[illegible] [illegible] धर्म का आचरण करना चाहिए, साथ ही स्वाध्याय और प्रवचन [illegible] सत्य का अनुष्ठान करना चाहिए, साथ ही स्वाध्याय और प्रवचन करते रहें।

३८. सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु,
सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु,
मा विद्विषावहै ।

—तै० आ० ८।२

३९. अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात् सर्वौषधमुच्यते ।[1]
अन्नाद् भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते ।

—८।२

४०. स तपो ऽ तप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत ।

—८।६

४१. अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् ।

—९।२

४२. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ।

—९।२

४३. तपो ब्रह्मेति ।

—९।२

४४. ज्योतिरहमस्मि ।
ज्योतिर्ज्वलति[2] ब्रह्माहमस्मि ।
यो ऽहमस्मि, ब्रह्मास्मि[3] ।....
अहमेवाहं, मां जुहोमि ।

—१०।१

४५. ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः,
शान्तं तपो, दानं[4] तपः ।

(—तै० आ०नारायणोपनिषद्) १०।८

---

१ सर्वस्य सन्तापव्याधेरौषधम्—निवर्तकम् । २ तनुज्योतिर्ब्रह्मैव ।
३. सोऽहं पुरा जीवोऽस्मि स एवेदानीमहं ब्रह्मास्मि ।....४दान वितरणम्

३८. हम दोनों (गुरु शिष्य) का साथ-साथ रक्षण हो, हम दोनों साथ-साथ भोजन करें, हम दोनों साथ-साथ समाज के उत्थान के लिए पुरुषार्थ करें। हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें।

३९. प्राणिजगत् में अन्न ही मुख्य है। अन्नको समग्र रोगों की औषध कहा है। (क्योंकि सब औषधियों का सार अन्न में है।) अन्न से ही प्राणी पैदा होते हैं और अन्न से ही बढ़ते हैं।

४०. उसने तप किया और तप करके इस सब की रचना की।

४१. यह अच्छी तरह से जान लीजिए कि अन्न ही ब्रह्म है।

४२. तप के द्वारा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानिए।

४३. तप ही ब्रह्म है।

४६. यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति,
एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति।
—तै० आ० ना० १०।९

४७. विश्वमसि....सर्वमसि।
—१०।२६

४८. ब्रह्ममेतु माम्, मधुमेतु माम्।
—१०।४८

४९. ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्।
—१०।५१

५०. सत्यं परं, परं सत्यं, सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन।
—१०।६२

५१. तपो नानशनात् परम्।
यद्धि परं तपस्तद् दुर्धर्षम् तद् दुराधर्षम्। —१०।६२

५२. दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशंसन्ति,
दानान्नातिदुष्करम्।
—१०।६२

५३. धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं,
धर्मान्नातिदुश्चरम्।
—१०।६२

५४. मानसमिति विद्वांसः, तस्माद् विद्वांस एव मानसे रमन्ते।[1]
—१०।६२

५५. सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।
—१०।६३

५६. दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति,
दाने सर्वं प्रतिष्ठितम्। —१०।६३

---

१. मानस एवोपासते।

४६. जिस प्रकार सुपुष्पित वृक्ष की सुगन्ध दूर-दूर तक फैल जाती है, उसी प्रकार पुण्य कर्म की सुगन्ध भी दूर-दूर तक फैल जाती है।

४७. तू विश्वरूप है, सर्वरूप है, अर्थात् तू कोई क्षुद्र इकाई नहीं है।

४८. मुझे ब्रह्मत्व प्राप्त हो, मुझे परमानन्दस्वरूप माधुर्य प्राप्त हो।

४९. मैं ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म हूँ, अतः मुझे पाप एवं रजोगुण से रहित होना है।

५०. सत्य श्रेष्ठ है, एवं श्रेष्ठ सत्य है। सत्य का आचरण करने वाले कभी स्वर्ग लोक से च्युत नहीं होते।

५१. अनशन से बढ़कर कोई तप नहीं है, साधारण साधक के लिए यह परम तप दुर्धर्ष है, दुराधर्ष है अर्थात् सहन करना बड़ा ही कठिन है।

५२. सभी प्राणी दान की प्रशंसा करते हैं, दान से बढ़कर अन्य दुष्कर कर्म नहीं है।

५३. धर्म से ही समग्र विश्व परिगृहीत-आवेष्टित है। धर्म से बढ़कर अन्य कुछ दुष्कर नहीं है।

५७. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा,
लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति,
धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति ।

—१०।६३

५८. सर्वं चेदं क्षयिष्णु ।

—*मैत्रायणी आरण्यक १।४

५९. नाऽतपस्कस्याऽत्मज्ञानेऽधिगमः कर्मशुद्धिर्वा ।

—४।३

६०. तपसा प्राप्यते सत्त्वं, सत्त्वात् संप्राप्यते मनः ।
मनसा प्राप्यते त्वात्मा, ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥

—४।३

६१. विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभते ब्रह्म ।

—४।४

६२. भोक्ता पुरुषो भोज्या प्रकृतिः ।

—६।१०

६३. यथा पर्वतमादीप्तं नाश्रयन्ति मृगा द्विजाः ।
तद्वद् ब्रह्मविदो दोषा, नाश्रयन्ति कदाचन ॥

—६।१८

६४. द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः, परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

—६।२२

६५. मानसे च विलीने तु, यत् सुखं चात्मसाक्षिकम् ।
तद् ब्रह्म चामृतं शुक्रं, सा गतिर्लोक एव सः ॥

—६।२४

---

* यजुर्वेदीय मैत्रायणी आरण्यक, भट्टारक प० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा यजुर्वेदीय मैत्रायणी संहिता के साथ प्रकाशित (वि०सं० [illegible]) संस्करण ।

५७. धर्म समग्र विश्व की अर्थात् विश्व के सब प्राणियों की प्रतिष्ठा (आश्रय, आधार) है। संसार में धर्मिष्ठ व्यक्ति के पास ही जनता धर्माधर्म के निर्णय के लिए जाती है। धर्म से ही पाप का नाश होता है, धर्म में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। इसलिए विद्वानों ने धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है।

५८. यह समग्र दृश्य जगत् नश्वर है।

५९. जो तपस्वी नही है, उसका ध्यान आत्मा मे नही जमता और इसलिए उसकी कर्मशुद्धि भी नहीं होती।

६०. तप द्वारा सत्त्व (ज्ञान) प्राप्त होता है, सत्त्व से मन वश मे आता है, मन वश मे आने से आत्मा की प्राप्ति होती है, और आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर संसार से छुटकारा मिल जाता है।

६१. ब्रह्मविद्या से, तप से और आत्मचिन्तन से ब्रह्म की उपलब्धि होती है।

६२. पुरुष (चैतन्य आत्मा) भोक्ता है, और प्रकृति भोज्य है।

६३. जिस प्रकार पशु पक्षी जलते हुए पर्वत का आश्रय ग्रहण नही करते, उसी प्रकार दोष (पाप) ब्रह्मवेत्ता (आत्मद्रष्टा) के निकट नही जाते।

६६. एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
सर्वभावपरित्यागो योग इत्यभिधीयते ॥

—मै० आ० ६।२५

६७. यथा निरिन्धनो वह्निः, स्वयोनावुपशाम्यते।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं, स्वयोनावुपशाम्यते।

—६।३४-१

६८. चित्तमेव हि संसारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतं सनातनम् ॥

—६।३४-३

६९. चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाऽशुभम्।
प्रसन्नाऽऽ त्मा ऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥

—६।३४-४

७०. समासक्तं यदा चित्तं, जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात् तत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥

—६।३४-५

७१. मनो हि द्विविध प्रोक्तं शुद्धं चाऽशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम्।

—६।३४-६

७२. समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

—६।३४-६

७३. मनएव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः।
वन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै निर्विषय स्मृतम् ॥

—६।३४-११

८६. प्राण, मन एवं इन्द्रियों का एकत्व तथा समग्र बाह्य भावों का परित्याग योग कहलाता है।

८७. जिस प्रकार इन्धन के समाप्त हो जाने पर अग्नि स्वयं ही अपने स्थान में बुझ जाती है, उसी प्रकार वृत्तियों का नाश होने पर चित्त स्वयमेव ही अपने उत्पत्ति स्थान में शान्त हो जाता है।

८८. चित्त ही संसार है, इसलिए प्रयत्न करके चित्त को ही शुद्ध बनाना चाहिए। जैसा चित्त होता है वैसा ही मनुष्य बन जाता है, यह सनातन रहस्य है।

८९. चित्त के प्रसन्न (निर्मल) एवं शान्त हो जाने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। और प्रसन्न एवं शान्तचित्त मनुष्य ही जब आत्मा में लीन होता है तब वह अविनाशी आनन्द प्राप्त करता है।

९०. मनुष्य का चित्त जितना विषयों में लीन होता है, उतना ही यदि वह ब्रह्म में लीन हो जाए तो फिर कौन है जो बन्धन से मुक्त न हो?

९१. मन दो प्रकार का है, शुद्ध और अशुद्ध। कामनाओं से सहित मन अशुद्ध है, और कामनाओं से रहित मन शुद्ध।

९२. समाधि के द्वारा जिसका मल दूर हो गया है और जो आत्मा में लीन हो गया है, ऐसे चित्त को जिस आनन्द की उपलब्धि होती है उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं किया जा सकता, वह तो केवल आन्तरिक अन्तःकरण के द्वारा ही जाना जा सकता है।

७४. यन्महानभवत्, तन्महाव्रतमभवत् ।

*ऐतरेय आरण्यक—१।१।१

७५. यः श्रेष्ठतामश्नुते, स वा अतिथिर्भवति ।

—१।१।१

७६ न वा असन्तमातिथ्यायाऽऽद्रियन्ते[1] ।

—१।१।१

७७. मनसि वै सर्वे कामाः श्रिताः,
मनसा हि सर्वान् कामान् ध्यायति ।

—१।३।२

७८. वाग् वै सर्वान् कामान् दुहे[2], वाचा हि सर्वान् कामान् वदति ।

—१।३।२

७९. सर्वं हीदं प्राणेनाऽऽवृतम् ।

—२।१।६

८०. तदेतत् पुष्पं फलं वाचो यत्सत्यम् ।

—२।३।६

८१. यथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति स उद्वर्तते[3],
एवमेवानृतं वदन्नाविर्मूलमात्मानं करोति
स शुष्यति[4], स उद्वर्तते[5], तस्मादनृतं न वदेत् ।

—२।३।६

---

*ऐतरेय आरण्यक आनन्दाश्रम मुद्रणालय; पूना द्वारा (ई० स० १८९८) में प्रकाशित ।

—समस्त टिप्पण सायणाचार्यविरचितभाष्य के हैं ।

—अंक क्रमशः आरण्यक, अध्याय एवं खण्ड के सूचक है ।

८४. जो महान होता है, उसका व्रत (कर्म) भी महान् होता है।

८५. जो सन्मार्ग में श्रेष्ठता को प्राप्त करता है, वही अतिथि होता है।

८६. सन्मार्ग से भ्रष्ट व्यक्ति, भले कितना ही दरिद्र हो, अतिथि के रूप में समादृत नहीं होता है।

८७. सब काम (इच्छाएं) मन में ही उपस्थित होते हैं, यही कारण है कि सब भोग अभीष्ट पदार्थों का सर्वप्रथम मन से ही ध्यान (संकल्प) करते हैं।

८८. वाणी ही सब अभीष्ट कामनाओं का दोहन (सम्पादन) करती है, क्योंकि मनुष्य वाणी से ही इच्छाओं को बाहर में स्पष्ट करता है।

८९. देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणीमात्र के सब शरीर प्राणवायु से आवृत हैं, व्याप्त हैं।

९०. सत्य वाणीरूप वृक्ष का पुष्प है, फल है।

९१. जिस प्रकार वृक्ष मूल (जड़) के [illegible] सूख जाता है [illegible]

८२. यत्सर्वं नेति ब्रूयात् पापिका ऽस्य कीर्तिर्जायेत[1],
सैनं तत्रैव[2] हन्यात्[3]।

—ऐ० आ० २।३।६

८३. काल एव दद्यात्, काले न दद्यात्।

—२।३।६

८४. सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते[4],
तत्र देवाः सर्वं एकं भवन्ति[5]।

—२।३।८

८५. प्रज्ञानं ब्रह्म[6]।

—२।६।१

८६. वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।

—२।७।१

८७. वाचा मित्राणि संदधति।

—३।१।६

८८. वागेवेदं सर्वम्[7]।

—३।१।६

८९. अथ खल्वियं[8] दैवी वीणा भवति।

—३।२।५

---

१. अत्यन्तलुब्धोऽयं दुरात्मा धिगेनमित्येवं सर्वे निन्दन्ति। २. गृहे। ३. जीवन्नप्यसौ मृत एव। ४. परब्रह्मस्वरूपमनुयुज्यते। ५. एकं भवन्ति एकत्वं प्रतिपद्यन्ते। ६. अहंप्रत्ययगम्यत्वाकारेण यदा विवदयते तदा जीव इत्युच्यते,

८२. जो लोभी मनुष्य प्रार्थी लोगों को सदैव 'ना ना' करता है, तो जनसमाज में उस की अपकीर्ति (निन्दा) होती है और वह अपकीर्ति उस को घर में ही मार देती है, अर्थात् जीता हुआ भी वह कृपण निन्दित मृतक के समान हो जाता है।

८३. योग्य समय पर ही दान देना चाहिए, अन्य किसी अयोग्य समय पर नहीं।

८४. जहाँ (जिस साधक में) सत्य का भी सत्य अर्थात् पर ब्रह्म प्रतिष्ठापित हो जाता है, वहाँ सब देवता एक हो जाते हैं।

८५. देह एवं इन्द्रिय आदि का साक्षीस्वरूप यह प्रज्ञान (शुद्ध ज्ञान) ही ब्रह्म है।

८६. मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित है और मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित है।

८७. प्रिय वाणी से ही स्नेही मित्र एकत्र होते हैं।

८८. वाणी ही सब कुछ है, अर्थात् वाणी से ही लौकिक एवं पारलौकिक सभी प्रकार का फल उपलब्ध होता है।

८९. यह शरीर निश्चित ही दैवी वीणा है।

[1]उपनिषद् साहित्य की सूक्तियां

१. ईशावास्यमिदं सर्वं
यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा,
मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

ईशावास्योपनिषद्—१*

२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि,
जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति,
न कर्म लिप्यते नरे॥

—२

३. असुर्या नाम ते लोका,
अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति,
ये केचात्महनो जनाः॥

—३

---

१. 'अष्टोत्तरशतोपनिषद्' वासुदेव शर्मा द्वारा संपादित निर्णयसागर प्रेस, बम्बई में (ई० स० १९३२) मुद्रित।

४. यस्तु सर्वाणि भूतानि,
आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं,
ततो न विजुगुप्सते ॥

—६

५. यस्मिन् सर्वाणि भूतानि,
आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक,
एकत्वमनु पश्यतः ॥

—७

६. अन्धं तमः प्रविशन्ति,
ये ऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो,
य उ विद्यायां रताः ॥

—९

७. विद्यां चाविद्यां च,
यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा,
विद्यया ऽमृतमश्नुते ॥

—११

८. अन्धं तमः प्रविशन्ति,
ये ऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो,
य उ संभूत्यां रताः ॥

—१२

९. संभूतिं च विनाशं च,
यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा,
संभूत्या ऽमृतमश्नुते ॥

—१४

४. जो अन्तर्निरीक्षण के द्वारा सब भूतों (प्राणियों) को अपनी आत्मा में ही देखता है, और अपनी आत्मा को सब भूतों में, वह फिर किसी से घृणा नहीं करता है।

५. जिस ज्ञानी के ज्ञान में सब भूत आत्मवत् होगए हैं, उस सर्वत्र एकत्व के दर्शन करने वाले समदर्शी को फिर मोह कैसा, और शोक कैसा?

६. जो अविद्या अर्थात् केवल भौतिकवाद की उपासना करते हैं, वे गहन अन्धकार में जा पहुँचते हैं। और जो केवल विद्या अर्थात् अध्यात्मवाद में ही रत रहने लगते हैं, सामाजिक दायित्वों की अवहेलना कर बैठते हैं, वे उससे भी गहरे अन्धकार में जा पहुँचते हैं।

७. विद्या-ज्ञान तथा अविद्या-कर्म इन दोनों को जो एक साथ जानते हैं, वे अविद्या से मृत्यु को—अर्थात् जीवन के वर्तमान संकटों को पार कर जाते हैं, और विद्या से 'अमृत' को—अर्थात् अविनाशी आत्मस्वरूप को प्राप्त करते हैं।

८. जो असम्भूति (अ+सं+भूति) अर्थात् व्यक्तिवाद की उपासना करते हैं, वे गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं। और जो सम्भूति अर्थात् समष्टिवाद में ही रत रहते हैं, वे उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

१०. हिरण्मयेन पात्रेण,
सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु,
सत्यधर्माय दृष्टये ॥

ईशा० उ०—१५

११. यो ऽ सावसौ पुरुषः सो ऽ हमस्मि ।

—१६

१२. वायुरनिलममृतमथेदं,
भस्मान्तं शरीरम् ।
ओम् क्रतो स्मर, कृतं स्मर,
क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥

—१७

१३. न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनः ।

केन उपनिषद्—*१।३

१४. यन्मनसा न मनुते,
येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि,
नेदं यदिदमुपासते ॥

—१।५

१५. यच्चक्षुषा न पश्यति,
येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि,
नेदं यदिदमुपासते ॥

—१।६

१६. इह चेदवीदथ सत्यमस्ति,
न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः ।

—२।३

---

*अंक क्रमशः खण्ड एवं कण्डिका के सूचक हैं ।

१७. प्रतिबोधविदितं मतम्,
अमृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं,
विद्यया विन्दते ऽ मृतम् ॥

—केन० उ० २।४

१८. तस्मै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा ।

—४।८

१९. बहूनामेमि प्रथमो, बहूनामेमि मध्यमः ।

—कठ उपनिषद्—*१।५

२०. अनुपश्य यथापूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥

—१।६।

२१. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तक !
एतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।

—१।२६

२२. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ।

—१।२७

२३. अन्यच्छ्रेयो ऽन्यदुतैव प्रेयस् ,
ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति,
हीयतेऽ र्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥

—२।१

२४. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्,
तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरो ऽभि प्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योग-क्षेमाद् वृणीते ॥

—२।२

*अंक क्रमशः वल्ली और श्लोक के सूचक हैं ।

[illegible] साहित्य की सूक्तियां

एक सौ सतावनें

[illegible] -बोध से ही मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त होता है । आत्मा से ही [illegible] आध्यात्मिक वीर्य (शक्ति) मिलता है । विद्या से—वास्तविक ज्ञान से ही अमृतत्व प्राप्त होता है ।

[illegible] ज्ञान की प्रतिष्ठा अर्थात् बुनियाद तीन बातों पर होती है—तप, दम (इन्द्रियनिग्रह) तथा कर्म—सत्कर्म ।

[illegible] बहुतों में प्रथम हैं और बहुतों में मध्यम हैं । अपवि बिल्कुल निकृष्ट (निकम्मा) नहीं हैं ।

[illegible] जो तुम से पहले हो चुके हैं उन्हें देख, जो तेरे पीछे होंगे उन्हें देख ! [illegible] मर्त्य (मरणधर्मा मनुष्य) एक दिन अन्न की तरह पैदा होता है, पकता है, नष्ट होता है और फिर नये जन्म के रूप में उत्पन्न हो जाता है ।

[illegible] के उपभोग मनुष्य के श्वोभाव हैं, अर्थात् आज हैं कल [illegible] । ये इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देते हैं ।

[illegible] धन से तृप्ति नहीं हो सकती ।

२५. नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो[1],
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥

—कठ० उ० २।३

२६. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा,
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

—२।५

२७. न साम्परायः प्रतिभाति बालं,
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।

—२।६

२८. श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

—२।

२९. नैषा तर्केण मतिरापनेया ।

—२।

३०. जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं,
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।

—२।१०

३१. अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं,
मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाति ।

—२।१२

३२. अणोरणीयान् महतो महीयान् ।

—२।२०

---

१. नचिकेता के प्रति यम की उक्ति ।

२५. सांसारिक सुखों की सोने की सांकल मे तू नही बंधा, जिसमे दूसरे बहुत से लोग तो जकड़े ही जाते हैं।

२६. ससारी जीव अविद्या मे फँसे हुए भी अपने को धीर और पंडित माने फिरते हैं। टेढे-मेढे रास्तों से इधर-उधर भटकते हुए ये मूढ ऐसे जा रहे हैं जैसे अन्धा अन्धे को लिए चल रहा हो।

२७. वैभव के मोह मे पड़े हुए प्रमादी व्यक्ति को परलोक की बात नही सूझती, उसे तो वर्तमान प्रत्यक्ष लोक ही सत्य प्रतीत होता है।

२८. यह आत्मज्ञान अत्यन्त गूढ है। बहुतो को तो यह सुनने को भी नही मिलता, बहुत से लोग सुन तो लेते हैं किन्तु कुछ जान नहीं पाते। ऐसे गूढ तत्व का प्रवक्ता कोई आश्चर्यमय विरला ही होता है, उसको पाने वाला तो कोई कुशल ही होता है। और कुशल गुरु के उपदेश से कोई विरला ही उसे जान पाता है।

२९. यह आत्म-ज्ञान कोरे तर्क वितर्कों से झुठलाने-जैसा नही है।

३०. मैं जानता हूँ—यह धन संपत्ति अनित्य है। जो वस्तुएं स्वयं अध्रुव (अस्थिर) हैं, उनसे ध्रुव (आत्मा) नहीं प्राप्त किया जा सकता।

३१. जो अध्यात्मयोग के द्वारा दिव्य आत्म-तत्त्व को जान लेता है, वह धीर (ज्ञानी) हो जाता है, फलतः वह हर्ष तथा शोक—दोनों द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है।

३२. आत्मा अणु (सूक्ष्म) से भी अणु है, और महान् से भी महान् है।

३३. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्,
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

—कठ० २।२३

३४. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

—२।२४

३५. यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥

—३।८

३६. उत्तिष्ठत जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत !
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

—३।१४

३७. पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूस्,
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्,
आवृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ॥

—४।१

३८. मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति।

—४।१०

३९. नेह नानास्ति किंचन।

—४।११

४०. यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ! ॥

—४।१५

४१. योनिमन्ये प्रपद्यन्ते, शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति, यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥

—५।७

३३. आत्मा लम्बे चौड़े प्रवचनों से नहीं मिलता, तर्क-वितर्क की बुद्धि से भी नहीं मिलता और बहुत अधिक पढ़ने सुनने से भी नहीं मिलता। जिसको यह आत्मा वरण कर लेता है वही इसे प्राप्त कर सकता है। उसके समक्ष आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर रख देता है।

३४. जो व्यक्ति दुराचार से विरत नहीं है, अशान्त है, तर्क-वितर्क में उलझा हुआ है, चंचलचित्त है, उसे आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती। आत्मा को तो प्रज्ञान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

३५. विवेकबुद्धि एवं संयत मन वाला पवित्रहृदय पुरुष उस परमात्म-स्वरूप परमपद को पा लेता है, जहाँ से लौटकर फिर जन्म धारण नहीं करना होता।

३६. उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषों के सम्पर्क में रहकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करो। क्योंकि बुद्धिमान पुरुष इस (आत्मज्ञानसम्बन्धी) मार्ग को छुरे की तीक्ष्ण-धार के समान दुर्गम कहते हैं।

३७. स्वयम्भू ने सब इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर निर्मित किए हैं, इसलिए इन्द्रियों से बाह्य वस्तुएँ ही देखी जा सकती हैं, अन्तरात्मा नहीं! अमृतत्व को चाहने वाला कोई विरला ही धीर पुरुष ऐसा होता है, जो बाह्य विषयों से आँखें मूंद लेता है और अन्तर्मुख हो कर अन्तरात्मा के दर्शन करता है।

३८. जो व्यक्ति नानात्व का अर्थात् जीवन में अनेकता का ही दर्शन करता है, एकत्व का नहीं, वह निरन्तर मृत्यु से मृत्यु की ओर बढ़ता रहता है।

३९. यहाँ (विश्व में एवं जनजीवन में) नानात्व अर्थात् अनेकता—जैसा कुछ नहीं है।

४२. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

—कठ० ६।११

४३. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

—६।१४

४४. तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं,
येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥

—प्रश्न उपनिषद् *१।१५

४५. तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको,
न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥

—१।१६

४६. समूलो वा एष परिशुष्यति यो ऽ नृतमभिवदति ।

—६।१

४७. तपसा चीयते ब्रह्म ।

—मुण्डक उपनिषद् [1]१।१।८

४८. तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ,
अमृतस्यैष सेतुः ।

—२।२।५

४९. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

—२।२।८

५०. विद्वान् भवते नातिवादी ।

—३।१।४

*अंक क्रमशः प्रश्न एवं कण्डिका के सूचक हैं ।

१. अंक क्रमशः मुण्डक, खण्ड एवं श्लोक के सूचक हैं ।

४२. इन्द्रियों की स्थिरता को ही योग माना गया है। जिसकी इन्द्रियां स्थिर हो जाती हैं, वह अप्रमत्त हो जाता है। योग का अभिप्राय है—प्रभव तथा अप्यय अर्थात् शुद्ध संस्कारों की उत्पत्ति एवं अशुद्ध संस्कारों का नाश।

४३. जब मनुष्य के हृदय की समस्त कामनाएँ छूट जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमृत (अमर) हो जाता है और यहीं—इस जन्म में ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता।

४४. ब्रह्मलोक उनका है, जो तप, ब्रह्मचर्य तथा सत्य में निष्ठा रखते हैं।

४५. शुद्ध, निर्मल ब्रह्मलोक उन्हीं को प्राप्त होता है, जिन में कुटिलता नहीं, अनृत (असत्य) नहीं, माया नहीं।

४६. जो व्यक्ति असत्य बोलता है, वह समूल अर्थात् सर्वतोभावेन जड़सहित सूख जाता है, नष्ट हो जाता है।

४७. तप के द्वारा ही ब्रह्म (परमात्मभाव) प्रवृद्ध होता है, विराट् होता है।

४८. एकमात्र आत्मा को—अपने आप को पहचानो, अन्य सब बातें करना छोड़ दो। संसार-सागर से पार होकर अमृतत्व तक पहुँचने का यही एक सेतु (पुल) है।

४९. हृदय की सब गांठें स्वयं खुल जाती है, मन के सब संशय कट जाते हैं, और आप ही शुभ अशुभ कर्म भी क्षीण हो जाते हैं, जब उस परम चैतन्य का पर और अवर (ओर छोर, पूर्णस्वरूप) देख लिया जाता है।

५०. विद्वान् (तत्त्वज्ञ) अतिवादी नहीं होता, अर्थात् वह संक्षेप में मुद्दे की बात करता है, बहुत अधिक नहीं बोलता।

५१. आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्,
एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः। —मु० उ० ३।१।४

५२. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यति यतयः क्षीणदोषाः।
—३।१।५

५३. सत्यमेव जयते नाऽनृतं,
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
—३।१।६

५४. दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च,
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्।
—३।१।७

५५. नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः,
न च प्रमादात् तपसो वाऽप्यलिङ्गात्।
—३।२।४

५६. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे,
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः,
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
—३।२।८

५७. ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः।
—तैत्तिरीय उपनिषद् *१।४।१

५८. अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते।
—१।५।३

---

*अंक क्रमशः वल्ली, अनुवाक एवं कण्डिका के सूचक हैं।

५१. जो साधक आत्मा में ही क्रीड़ा करता है, आत्मा मे ही रति (रमण) करता है, फिर भी सामाजिक जीवन मे क्रियाशील रहता है, वही ब्रह्मवेत्ताओं मे वरिष्ठ (श्रेष्ठ) माना जाता है।

५२. यह आत्मा नित्य एवं निरन्तर के सत्य से, तप से, सम्यग्ज्ञान से तथा ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त किया जा सकता है। शरीर के भीतर ही वह आत्म-तत्व शुभ्र ज्योतिर्मय रूप मे विद्यमान है। यति (साधक) लोग राग-द्वेषादि दोषो का क्षय करके ही उसको देख पाते है।

५३. सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नही। 'देवयानपन्था'—देवत्व की तरफ जाने वाला मार्ग सत्य से ही बना है।

५४. वह परम चैतन्यतत्त्व दूर से दूर है, परन्तु देखने वालो के लिए निकट से निकट इसी अन्तर की गुफा मे विद्यमान है।

५५. आत्मा को साधना के बल से हीन तथा प्रमादग्रस्त व्यक्ति प्राप्त नही कर सकते है, और न 'अलिङ्ग-तप'—अर्थात् प्रयोजनहीन तप करने वाला ही इसे प्राप्त कर सकता है।

५६. प्रवहमान नदियां जैसे अपने पृथक्-पृथक् नाम और रूपो को छोड़कर समुद्र मे लीन हो जाती है—समुद्रस्वरूप हो जाती है, वैसे ही ज्ञानीजन अपने पृथक् नाम-रूप से छूटकर परात्पर दिव्य पुरुष (ब्रह्म) में लीन हो जाते है।

५७. हृदय [illegible] का कोश है—खजाना है, चारो ओर मेधा (बुद्धि) से घिरा हुआ है।

५८. [illegible] ही [illegible] प्राणों की महिमा बनी रहती है।

५९. सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः।[1]

—तै० उ० १।११।१

६०. सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्,
कुशलान्न प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम्,
स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

—१।११।१

६१. मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव,
अतिथिदेवो भव।

—१।११।२

६२. यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि।
यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।

—१।११।२

६३. श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्,
ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्।

—१।११।३

६४. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

—*२।१

६५. यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कदाचन॥

—२।९

६६. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

—२।७

---

* अंक क्रमशः वल्ली एवं अनुवाक के सूचक हैं।

१. ५९ से ६३ तक का उपदेश, प्राचीनकाल मे आचार्य के द्वारा,

५९. सदैव सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, कभी भी स्वाध्याय में प्रमाद (आलस्य) मत करना।

६०. सत्य को न छोड़ना, धर्म से न हटना, श्रेष्ठ कर्मों से न डिगना, राष्ट्र एवं समाज की विभूति (साधन, संपत्ति) बढ़ाने में आलस्य न करना, स्वाध्याय (स्वयं अध्ययन) और प्रवचन (अधीत का दूसरों को उपदेश) मे प्रमाद मत करना।

६१. माता को देवता समझना, पिता को देवता समझना, आचार्य को देवता समझना, और द्वार पर आए अतिथि को भी देवता समझना। अर्थात् माता-पिता आदि के साथ देवताओ जैसा आदर-भाव रखना।

६२. जो अनवद्य, अर्थात् अच्छे कर्म हैं, उन्हीं का आचरण करना, दूसरो का नही। हमारे भी जो सुचरित (सत्कर्म) हैं, उन्ही को तुम उपासना करना, दूसरो की नही।

६३. श्रद्धा से दान देना, अश्रद्धा से भी देना, अपनी बढ़ती हुई (धनसम्पत्ति) में से देना, श्री-वृद्धि न हो तो भी लोकलाज से देना, भय (समाज तथा अपयश के डर) से देना, और संविद् (प्रेम अथवा विवेक बुद्धि) से देना।

६४. ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है, अनन्त है।

६५. वाणी जहां से लौट आती है, मन जिसे प्राप्त नहीं कर सकता, उस आनन्दरूप ब्रह्म को जो जान लेता है, वह कभी किसी से भयभीत नहीं होता।

६६. वह परमात्मा रसरूप है। तभी तो यह बात है कि मनुष्य जहाँ कहीं भी रस पाता है, तो सहज आनन्दमग्न हो जाता है।

६७. यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते,
अथ तस्य भयं भवति ।

—तै० उ० २।७

६८. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खलु
इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं प्रयन्ति, अभिसंविशन्तीति ।

—३।६

६९. अन्नं न निन्द्यात् ।

३।७

७०. अन्नं बहु कुर्वीत, तद् व्रतम् ।

—३।६

७१. न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत, तद् व्रतम् ।
तस्माद्, यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्,
अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते ।

—३।१०

७२. पुरुषो वाव सुकृतम् ।

—ऐतरेय उपनिषद् *१।२।३

७३. यद्धैन्नद् वाचाऽग्रहैष्यद्, अभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ।

—१।३।३

७४. यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति ।

—छान्दोग्य उपनिषद् [1]१।१।१०

७५. क्रतुमयः पुरुषो, यथाक्रतुरस्मिंल्लोके
पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति ।

—३।१४।१

* अङ्क क्रमशः अध्याय, खण्ड एवं कण्डिका के सूचक हैं ।

१. अंक क्रमशः प्रपाठक, खण्ड एवं कण्डिका के सूचक हैं ।

८७. जब यह जीव अपने मे तथा ब्रह्म मे जरा भी अन्तर (भेदबुद्धि) रखता है, बस, तभी उसके लिए भय आ खड़ा होता है।

८८. उसने जाना कि आनन्द ब्रह्म है। आनन्द से ही सब भूत उत्पन्न होते है, उत्पन्न होने के बाद आनन्द से ही जीवित रहते हैं, और अन्ततः आनन्द मे ही विलीन होते हैं।

८९. अन्न की निन्दा मत करो।

९०. अन्न अधिकाधिक उपजाना—बढ़ाना चाहिए, यह एक व्रत (राष्ट्रीय प्रण) है।

९१. घर पर आए अतिथि को कभी निराश नही करना चाहिए—यह एक व्रत है। उसके लिए जैसे भी हो, यथेष्ट विपुल अन्न जुटाना ही चाहिए। जो भोजन तैयार किया जाता है, वह अतिथि के लिए ही किया जाता है—ऐसा प्राचीन महर्षियो ने कहा है।

९२. निःसन्देह मनुष्य ही विधाता की सुन्दर कृति है।

९३. (अन्न के लिए पुरुषार्थ करना होता है, अन्न कोरी बातों से नही प्राप्त किया जा सकता।) यदि अन्न केवल वाणी से पकड़ मे आने वाला होता तो वाणी द्वारा 'अन्न' कह देने मात्र से सब लोग तृप्त हो जाते, सब की भूख शान्त हो जाती।

[illegible] जो कर्म विद्या से, श्रद्धा से और उपनिषद् (तात्त्विक अनुभूति) से किया जाता है, वह वीर्यवत्तर अर्थात् सुदृढ होता है।

[illegible] पुरुष कर्ममय है, क्रतुमय है। यहा इस लोक मे जैसा भी कर्म किया जाता है वैसा ही कर्म यहाँ से चलकर आगे परलोक में होता है। अर्थात् मनुष्य [illegible] जैसा भी कर्म यहाँ करता है, वैसा ही उसका वहाँ परलोक [illegible] है।

७६. स यदशिशिषति यत्पिपासति, यन्न रमते, ता अस्य दीक्षाः ।
—छां० उ० ३।१७।१

७७. यत् तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ।
—३।१७।४

७८. आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति ।
—४।६।३

७९ एष उ एव वामनीः, एष हि सर्वाणि वामानि अभिसयन्ति ।
—४।१५।३

८०. एष उ एव भामनीः, एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति ।
—४।१५।४

८१. एषा ब्रह्माणमनुगाथा— यतो यत आवर्तत तत् तद् गच्छति ।
—४।१७।९

८२. यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति ।
—५।१।१

८३. श्रोत्रं वाव सम्पत् ।
—५।१।

८४. य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्
य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्
—५।१०।

८५. जीवापेतं वाव किलेद म्रियते, न जीवो म्रियते ।
—६।११।

८६ तरति शोकमात्मविद् ।
—७।१।

८७. यद् वै वाङ् नाऽ भविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्,
न सत्य नानृत, न साधु नासाधु ।
—७।२।

जो व्यक्ति खाता है, पीता है, परन्तु इनमे रम नही जाता, उसका जीवन 'दीक्षा' का जीवन है।

जो व्यक्ति तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्यवचन में जीवन व्यतीत करता है, उसका जीवन 'दक्षिणा' का जीवन है।

आचार्य से सीखी हुई विद्या ही सबमे उत्तम एवं फलप्रद होती है।

यह आत्मा 'वामनी' है, क्योंकि सृष्टि के सभी सौन्दर्यों का यह आत्मा नेता है, अग्रणी है।

यह आत्मा 'भामनी' है, क्योंकि यह आत्मा ही समग्र लोकों मे अपनी आभा से प्रकाशमान होरहा है।

इन्द्र (नेता) के लिए यह गाथा प्रसिद्ध है कि जहाँ से भी हताश-निराश होकर कोई व्यक्ति वापस लौटने लगता है, अर्थात् लक्ष्यभ्रष्ट होता है, वहीं वह अवश्य ही सहायता के लिए पहुँच जाता है।

जो ज्येष्ठ (महान्) तथा श्रेष्ठ (उत्तम) की उपासना करता है, वह स्वयं भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है।

श्रोत्र सबसे बड़ी सम्पत्ति है,—क्योंकि संसार मे सुनने वाला ही समय पर कुछ कर सकता है।

अच्छे आचरण वाले अच्छी योनि मे जाते हैं। और बुरे आचरण वाले बुरी योनि मे जाते हैं।

८८ कर्मणां संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते,
लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं संकल्पते। —छां० उ० ७।४।२

८९. बलं वाव विज्ञानाद् भूयो ऽपि ह शतं
विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते।
स यदा बली भवति अथोत्थाता भवति।
—७।८।१

९० बलेन लोकस्तिष्ठति, बलमुपास्व।
—७।८।१

९१ स्मरो वाव आकाशाद् भूयः।
—७।१३।१

९२. ना ऽविजानन् सत्य वदति,
विजानन्नेव सत्यं वदति।
— ७।१७।१

९३. ना ऽमत्वा विजानाति, मत्वैव विजानाति।
—७।१८।

९४. नाश्रद्दधन्मनुते।
—७।१९।

९५ यदा वै करोति अथ निस्तिष्ठति,
ना ऽकृत्वा निस्तिष्ठति।
—७।२१।१

९६. यो वै भूमा तत्सुख, ना ऽल्पे सुखमस्ति।
—७।२३।१

९७. यो वै भूमा तदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।
—७।२४।१

९८. न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं, नोत दुःखताम्।
—७।२६।२

८८. कर्म के संकल्प से लोक, और लोक के संकल्प से सब कुछ चल रहा है।

८९. बल विज्ञान से बड़ा है। एक बलवान् सौ विज्ञानवानो अर्थात् विद्वानो को कंपा देता है। विज्ञानवान् जब बलवान होता है, तभी कुछ करने को उठता है, तैयार होता है।

९०. बल मे ही समग्र लोक की स्थिति है, अत: बल की उपासना करो

९१. स्मृति आकाश से बड़ी है। (यही कारण है कि आकाश मे तो शब्द आता है और चला जाता है, किन्तु स्मृति मे तो शब्द स्थिर होकर बैठ जाता है।)

९२. जिसे ज्ञान नही होता, वह सत्य नही बोल सकता। जिसे ज्ञान होता है, वही सत्य बोलता है।

९३. जो मनन नही करता, वह कुछ भी समझ नही पाता। मनन करने से गूढ से गूढ रहस्य भी समझ मे आ जाता है।

९४. बिना श्रद्धा के मनन नही होता।

९५. श्रद्धा उसी को प्राप्त होती है, जो कर्मण्य होता है। बिना कर्मण्यता के श्रद्धा नही होती।

९९. सर्वं ह पश्यः पश्यति, सर्वमाप्नोति सर्वशः ।

—छां० उ० ७।२६।२

१००. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः,
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।

—७।२६।२

१०१. ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितम् ।

—८।१।४

१०२. नास्य जरया एतज्जीर्यति, न वधेनास्य हन्यते ।

—८।१।५

१०३. अथ यदि सखिलोककामो भवति,
संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति ।

—८।२।५

१०४. सत्याः कामा अनृतापिधानाः ।

—८।३।१

१०५. ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ।

—८।३।२

१०६. यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ।

—८।५।२

१०७. आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ
लोकाववाप्नोतीमं चामुं च ।

—८।८।४

१०८. अददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो वत ।

—८।८।५

९९. आत्मा के भूमा स्वरूप का साक्षात्कार करने वाला सब कुछ देख लेता है, सब तरह से सब कुछ पा लेता है। अर्थात् आत्म-द्रष्टा के लिए कुछ भी प्राप्त करने जैसा शेष नहीं रहता।

१००. आहार शुद्ध होने पर सत्त्व (अन्तःकरण) शुद्ध हो जाता है, सत्त्व शुद्ध होने पर ध्रुव स्मृति हो जाती है— अपने ध्रुव एवं नित्य आत्म-स्वरूप का स्मरण हो आता है, अपने ध्रुव स्वरूप का स्मरण हो आने पर अन्दर की सब गाँठें खुल जाती है—अर्थात् आत्मा बन्धनमुक्त हो जाता है।

१०१. शरीररूपी ब्रह्मपुरी में सब कुछ समाया हुआ है।

१०२. शरीर के जराजीर्ण होने पर वह (चैतन्य) जीर्ण नहीं होता, शरीर के नाश होने पर उसका नाश नहीं होता।

१०३. जब भी मानवआत्मा को सच्चे मन से मित्रलोक की कामना होती है, तो संकल्पमात्र से उसे सर्वत्र मित्र ही मित्र दिखाई देते हैं।

१०४. मानव-हृदय में सत्य-कामनाएँ मौजूद रहती है, परन्तु विषयों के प्रति होनेवाली मिथ्या तृष्णा का उन पर आवरण चढ़ा रहता है।

१०५. तृष्णा के अनृत आवरण से आच्छादित रहने के कारण ही साधारण जन [illegible] अपने आत्म-स्वरूप को नहीं पहिचान पाते।

१०६. जिसे [illegible] मौन कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है—अर्थात् मौन वाणी का ब्रह्मचर्य है।

१०७. आत्मा की पूजा एवं परिचर्या (सेवा) करने वाला मनुष्य दोनों लोकों को सुन्दर बनाता है—इस लोक को भी और उस लोक को भी।

१०६. न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति,
अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।

—छां० उ० ८।१२।१

११० मनोऽस्य दैवं चक्षुः ।

—८।१२।५

१११. अशनाया हि मृत्युः ।

—बृहदारण्यक उपनिषद् *१।२।१

११२ श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत् ।

—१।२।६

११३. स नैव रेमे, तस्माद् एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत् ।

—१।४।३

११४. स्त्री-पुमांसौ संपरिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेधा ऽपातयत्,
ततः पतिश्च पत्नीचाभवताम् ।

—१।४।३

११५. य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते,
न हाऽस्य प्रियं प्रमायुकं भवति ।

—१।४।८

११६. य एवं वेदा 'ऽहं ब्रह्मास्मी'ति स इदं सर्वं भवति,
तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते ।

—१।४।१०

११७. यो ऽन्यां देवतामुपास्ते ऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद,
यथा पशुरेवं स देवानाम् ।

—१।४।१०

* अंक क्रम से अध्याय, ब्राह्मण एवं कण्डिका की संख्या के सूचक है ।

१०९. जब तक साधक की शरीर के साथ एकत्वबुद्धि बनी रहेगी, सुख दुःख से नही छूट सकेगा। अपने अशरीररूप मे, देहातीत आत्मभाव मे आने पर साधक को सुख दुःख छू भी नही सकते।

११०. मन आत्मा का दैव चक्षु है, दिव्य नेत्र है। (मन के द्वारा ही आत्मा आगे-पीछे, भूत-भविष्यत् सब देखता है।)

१११. वस्तुतः अपनाया (भूख) ही मृत्यु है।

११२. यथोचित श्रम तथा तप करने पर ही यश एवं बल का उदय होता है।

११३. सृष्टि के प्रारम्भ मे वह (ईश्वर, ब्रह्म) अकेला था, इसलिए उसका जी नहीं लगा, अतः उसने दूसरे की इच्छा की। अर्थात् व्यक्ति समाज की रचना के लिए प्रस्तुत हुआ।

११४. स्त्री और पुरुष दोनों मूल में संपृक्त हैं, एकमेक हैं। ईश्वर ने अपने आपको दो खण्डों (टुकड़ों) मे विभाजित किया। वे ही दो खण्ड परस्पर पति और पत्नी होगए।

११५. जो अपने आत्मा को ही प्रिय रूप मे उपासना करता है, उसके लिए कोई भी नश्वर वस्तु प्रिय नही होती।

११६. जो यह जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूं'—'मैं क्षुद्र नही, महान् हूं'—वह सब कुछ हो जाता है, देवता भी उसके ऐश्वर्य को रोक नही पाते।

११८. क्षत्रात्परं नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्ताद् उपास्ते राजसूये; क्षत्र एव तद्यशो दधाति ।

—बृ० उ० १।४।११

११९. यो वै स धर्मः, सत्यं वै तत् ।

—१।४।१४

१२०. य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हाऽस्य कर्म क्षीयते ।

—१।४।१५

१२१. न ह वै देवान् पापं गच्छति ।

—१।५।२०

१२२. अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन ।

—२।४।३

१२३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः ।

—२।४।५

१२४. आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम् ।

—२।४।५

१२५. सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ।

—२।४।११

१२६. इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु ।

—२।५।१

१२७. योऽयमात्मा इदममृतम्, इद ब्रह्म, इद सर्वम् ।

—२।५।१

१२८. अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मधु ।

—२।५।११

११८. क्षात्र धर्म से बढ़ कर कुछ नही है, इसीलिए राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठता है, अपने यश को क्षात्र धर्म के प्रति समर्पित कर देता है।

११९. जो धर्म है, वह सत्य ही तो है।

१२०. जो आत्मलोक की उपासना करता है—अपने 'ब्रह्म' अर्थात् महान् रूप को समझ लेता है, उसके सत्कर्म (अच्छे काम करते रहने की शक्ति) कभी क्षीण नही होते।

१२१. देवो को–दिव्य आत्माओ को पाप का स्पर्श नहीं होता।

१२२. धन से अमृतत्व की आशा न करो।

१२३. आत्मा का ही दर्शन करना चाहिए, आत्मा के सम्बन्ध मे ही सुनना चाहिए, मनन-चिन्तन करना चाहिए, और आत्मा का ही निदिध्यासन–ध्यान करना चाहिए।

१२४. एक मात्र आत्मा के ही दर्शन से, श्रवण से, मनन-चिन्तन से और विज्ञान से—सम्यक् जानने से सब कुछ जान लिया जाता है।

१२५. सब वेदो (शास्त्रो) का वाणी ही एक मात्र मार्ग है।

१२६. यह पृथिवी सब प्राणियो का मधु है – अर्थात् मधु के समान प्रिय है।

१२७. आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा ही यह सब कुछ है।

१२८. यह धर्म सब प्राणियो को मधु के समान प्रिय है।

१२९ इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मधु ।

—बृ० उ० २।५।१३

१३०. पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन ।

—३।२।१३

१३१. ब्राह्मणः पाण्डित्य निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् ।

—३।५।१

१३२. अदृष्टो द्रष्टा ।

—३।७।२३

१३३. श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठिता ।

—३।९।२१

१३४. कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठिता ? सत्ये ।
कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितम् ? हृदये

—३।९।२३

१३५. आत्मा ऽगृह्यो, न हि गृह्यते; अशीर्यो न हि शीर्यते,
असंगो, न हि सज्यते; असितो न हि व्यथते, न रिष्यते ।

—३।९।२६

१३६. यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी
साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति ।

—४।४।५

१३७. काममय एवाय पुरुष इति, स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति,
यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ।

—४।४।५

१३८. विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ।

—४।४।२०

१३९. तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहून्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तद् ॥

—४।४।२१

१२९. यह मानुष भाव—मानवता अर्थात् इन्सानियत—सब प्राणियों को मधु के समान प्रिय है।

१३०. पुण्य कर्म से जीव पुण्यात्मा (पवित्र) होता है, और पाप कर्म से पापात्मा (पतित-मलिन) होता है।

१३१. ब्रह्मज्ञानी पाण्डित्य को—विद्वत्ता के दर्प को—छोड़ कर बालक-जैसा सरल बन जाता है।

१३२. आत्मा स्वयं अदृष्ट रह कर भी द्रष्टा है, देखने वाला है।

१३३. श्रद्धा में ही दान-दक्षिणा की प्रतिष्ठा है, शोभा है।

१३४. दीक्षा किस में प्रतिष्ठित है? सत्य में।
सत्य किस में प्रतिष्ठित है? हृदय में।

१३५. आत्मा अग्राह्य है, अतः वह पकड़ में नहीं आता; आत्मा अशीर्य है, अतः वह क्षीण नहीं होता; आत्मा असंग है, अतः वह किसी से लिप्त नहीं होता; आत्मा असित है—बन्धनरहित है, अतः वह व्यथित नहीं होता, नष्ट नहीं होता।

१३६ जो जैसा कर्म करता है, जैसा आचरण करता है, वह वैसा ही हो जाता है—साधु कर्म करनेवाला साधु होता है, और पापकर्म करने वाला पापी।

१४०. अभयं वै ब्रह्म ।

—बृ० उ० ४।४।२५

१४१. तदेतद् एवैषा दैवी वाग् अनुवदति स्तनयित्नुर्-
'द द द' इति, दाम्यत दत्त दयध्वमिति,
तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति ।[1]

—५।२।३

१४२. एतद् वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते,
परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद ।

—५।११।१

१४३. सत्यं बले प्रतिष्ठितम् ।

—५।१४।४

१४४. प्रातरादित्यमुपतिष्ठते-दिशामेकपुण्डरीकमसि,
अहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासम् ।

—६।३।६

१४५. श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासाः ।

—६।४।६

१४६. तं वा एतमाहुः—अतिपिता बताभूः, अतिपितामहो बताभूः ।

—६।४।२८

१४७. दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं,
विद्वान् मनो धारयेता ऽप्रमत्तः ।

—श्वेताश्वतर उपनिषद् *२।८

---

* अंक क्रमशः अध्याय तथा श्लोक की संख्या के सूचक हैं ।

१. प्रजापति ने शिक्षा के लिए आए देव, मनुष्य और असुरों को क्रमशः

१४०. अभय ही ब्रह्म है—अर्थात् अभय हो जाना ही ब्रह्मपद पाना है।

१४१. प्रजापति के उपदेश को ही मेघ के गर्जन में 'द द द' का उच्चारण कर के मानो दैवी वाणी आज भी दुहराती है कि 'दाम्यत'—इन्द्रियों का दमन करो, 'दत्त'—संसार की वस्तुओं का संग्रह न करते हुए दान दो, 'दयध्वम्'—प्राणि मात्र पर दया करो।
संसार की सम्पूर्ण शिक्षा इन तीन में समा जाती है, इसलिए तीन की ही शिक्षा दो—दम, दान और दया।

१४२. व्याधिग्रस्त होने पर घबराने के स्थान में यह समझना चाहिए कि यह व्याधि भी एक तप है—परम तप है। जो इस रहस्य को समझता है वह परम लोक को जीत लेता है।

१४३. सत्य बल में प्रतिष्ठित है—अर्थात् सत्य में ही बल होता है, असत्य में बल नहीं होता।

१४४. प्रातःकाल उठ कर आदित्य को सम्बोधन करते हुए अपने सम्बन्ध में भावना करो कि—हे सूर्य! तू दिशाओं में अकेला कमल के समान खिल रहा है, मैं भी मनुष्यों में एक कमल की भांति खिल जाऊँ।

१४५. श्री की श्री—अर्थात् शोभा इसी में है कि वह धुले हुए वस्त्र के समान निर्मल एवं पवित्र हो।

१४६. पुत्र ऐसा होना चाहिए, जिस के सम्बन्ध में लोग कहें कि यह तो अपने पिता से भी आगे निकल गया, अपने पितामह से भी आगे निकल गया।

१४७. [illegible] घोड़ों को जैसे वश में किया जाता है, वैसे ही [illegible] को वश में करे।

१४८ लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं,
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठव च।
गन्धः शुभो मूत्र-पुरीषमल्पं,
योगप्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति ॥

—श्वे० उ० २।१३

१४९. नवद्वारे पुरे देही, हंसो लेलायते बहिः।

—३।१८

१५०. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

—३।१९

१५१. क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या।

—५।१

१५२. वालाग्रशतभागस्य, शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः, स चानन्त्याय कल्पते ॥

—५।९

१५३. नैव स्त्री न पुमानेष, न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीमादत्ते, तेन तेन स रक्ष्यते ॥

—५।१०

१५४. यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

—६।२०

१८८. योग में प्रवृत्ति करने का पहला फल यही होता है कि योगी का शरीर हल्का हो जाता है, नीरोग हो जाता है, विषयों की लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, शरीर से सुगन्ध निकलने लगता है, और मल मूत्र अल्प हो जाता है।

१८९. देही—अर्थात् जिसने देह को ही सब कुछ मान रखा है, वह तो इस नौ द्वारों वाली नगरी (शरीर) में रहता है। और जो हंस है, अर्थात् नीर क्षीरविवेकी हंस की तरह जड़ चैतन्य का विवेक (भेदविज्ञान) पा गया है, वह देह के बन्धन से बाहर प्रकाशमान होता है।

१९०. वह परम चैतन्य बिना पांवों के भी बड़ी शीघ्रता से चलता है, बिना हाथों के झट से पकड़ लेता है, बिना आंखों के देखता है, और बिना कानों के सुनता है।

१९१. अविद्या क्षर है, क्षर जाने वाली है, और विद्या अमृत है—अक्षर है, न क्षरने वाली है।

१९२. यदि बाल (केश) के अगले हिस्से के सौ भाग (खण्ड) किये जाएं, उन सौ में से भी फिर एक भाग के सौ भाग किये जाएं, तो उतना सूक्ष्म जीव को समझना चाहिए; परन्तु इतना सूक्ष्म होते हुए भी वह अनन्त है, अनन्तशक्तिसंपन्न है।

१९३. [illegible] न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। ये सब लिंग शरीर के हैं, अतः जिस जिस शरीर को यह आत्मा ग्रहण करता है, तदनुसार [illegible] से युक्त हो जाता है।

१९४. [illegible] कभी चर्म से आकाश को लपेट सकेंगे, तभी परमचैतन्य [illegible] को जाने बिना भी दुःख का अन्त हो सकेगा;—अर्थात् [illegible] आकाश का लपेटा जाना जैसे असम्भव है, वैसे ही [illegible] को जाने-पहचाने बिना दुःख से छुटकारा होना भी असंभव है।

१४८ लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं,
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठव च।
गन्धः शुभो मूत्र-पुरीषमल्पं,
योगप्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति ॥

—श्वे० उ० २।१३

१४९. नवद्वारे पुरे देही, हंसो लेलायते बहिः।

—३।१८

१५०. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

—३।१९

१५१. क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या।

—५।१

१५२. वालाग्रशतभागस्य, शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः, स चानन्त्याय कल्पते॥

—५।९

१५३. नैव स्त्री न पुमानेष, न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीमादत्ते, तेन तेन स रक्ष्यते॥

—५।१०

१५४. यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

—६।२०

१४८. योग मे प्रवृत्ति करने का पहला फल यही होता है कि योगी का शरीर हलका हो जाता है, नीरोग हो जाता है, विषयों की लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, शरीर से सुगन्ध निकलने लगता है, और मल मूत्र अल्प हो जाता है।

१४९. देही—अर्थात् जिसने देह को ही सब कुछ मान रखा है, वह तो इस नौ द्वारो वाली नगरी (शरीर) मे रहता है। और जो हंस है, अर्थात् नीर क्षीरविवेकी हंस की तरह जड चैतन्य का विवेक (भेदविज्ञान) पा गया है, वह देह के बन्धन से बाहर प्रकाशमान होता है।

१५०. वह परम चैतन्य बिना पाँवो के भी बड़ी शीघ्रता से चलता है, बिना हाथों के झट से पकड़ लेता है, बिना आँखो के देखता है, और बिना कानो के सुनता है।

१५१. अविद्या क्षर है, खर जाने वाली है, और विद्या अमृत है—अक्षर है, न खरने वाली है।

१५२. यदि बाल (केश) के अगले हिस्से के सौ भाग (खण्ड) किये जाएँ, उन सौ मे से भी फिर एक भाग के सौ भाग किये जाएँ, तो उतना सूक्ष्म जीव को समझना चाहिए; परन्तु इतना सूक्ष्म होते हुए भी वह अनन्त है, अनन्तशक्तिसंपन्न है।

१५३. जीवात्मा न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। ये सब लिंग शरीर के हैं, अतः जिस जिस शरीर को यह आत्मा ग्रहण करता है, तदनुसार उसी लिग से युक्त हो जाता है।

१५४. मनुष्य जब भी कभी चर्म से आकाश को लपेट सकेंगे, तभी परमचैतन्य आत्मदेव को जाने बिना भी दुःख का अन्त हो सकेगा;—अर्थात् चमड़े से अनन्त आकाश का लपेटा जाना जैसे असम्भव हैं, वैसे ही आत्मा को जाने-पहचाने बिना दुःख से छुटकारा होना भी असंभव है।

[1]वाल्मीकि रामायण की सूक्तियां

१. अलंकारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा ।

—बाल काण्ड *३३।७

२. क्षमा यशः क्षमा धर्मः क्षमायां विष्ठितं जगत् ।

—३३।९

३. ब्रह्मन् ! ब्रह्मबलं दिव्यं क्षात्राच्च बलवत्तरम् ।

—५४।१४

४. सत्यं दानं तपस्त्यागो, मित्रता शौचमार्जवम् ।
विद्या च गुरुशुश्रूषा, ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥

—अयोध्या काण्ड १२।३०

५. यदा यदा हि कौशल्या दासीव च सखीव च ।
भार्यावद् भगिनीवच्च, मातृवच्चोपतिष्ठति ॥

—१२।६९

---

१. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा संपादित, भारतमुद्रणालय औंध (ई० स० १९४१) में मुद्रित ।

*अंक क्रमशः सर्ग और श्लोक के सूचक हैं ।

वाल्मीकि रामायण की सूक्तियां

१. क्षमा ही स्त्रियों तथा पुरुषो का भूषण है।

२. क्षमा ही यश है, क्षमा ही धर्म है, क्षमा से ही चराचर जगत् स्थित है।

३. हे ब्रह्मन् ! क्षात्रबल से ब्रह्मबल अधिक दिव्य एवं बलवान होता है।

४. (दशरथ कैकेयी से कहते है)—सत्य, दान, शीलता, तप, त्याग, मित्रता पवित्रता, सरलता, नम्रता, विद्या और गुरुजनो की सेवा—ये सब गुण राम मे ध्रुव रूप से विद्यमान हैं।

५. (रानी कौशल्या के सम्बन्ध में दशरथ की उक्ति) जब भी काम पडता है, कौशल्या दासी के समान, मित्रके समान, भार्या और बहन के समान, तथा माता के समान हर प्रकार की सेवा शुश्रूषा करने के लिए सदा उपस्थित रहती है।

६. सत्यमेकपदं ब्रह्म, सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।

—१४।७

७. नह्यतो धर्मचरणं, किञ्चिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा, तस्य वा वचनक्रिया॥

—१६।२२

८. विक्लवो वीर्यहीनो यः, स दैवमनुवर्तते।
वीराः संभावितात्मानो, न दैवं पर्युपासते॥

—२३।१

९. दैवं पुरुषकारेण, यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः, पुरुषः सोऽवसीदति॥

—२

१०. भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्।

—२४।२७

११. न हि निम्बात् स्रवेत् क्षौद्रम्।

—३५।१७

१२. रामं दशरथं विद्धि, मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

—४०।९

१३. अविज्ञाय फलं यो हि, कर्मत्वेवानुधावति।
स शोचेत्फलवेलायां, यथा किंशुकसेवकः॥

—६३।९

१४ चित्तनाशाद् विपद्यन्ते, सर्वाण्येवेन्द्रियाणि हि।
क्षीणस्नेहस्य दीपस्य, संरक्ता रश्मयो यथा॥

—६४।७८

१५. नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं, भक्षयन्ति परस्परम्॥

—६७।३१

६. सत्य ही एकमात्र ब्रह्म है, सत्य ही मे धर्म प्रतिष्ठित है ।

७. (राम का कैकेयी से कथन)"पिता की सेवा और उनके वचनो का पालन करना, इस से बढ़ कर पुत्र के लिए और कोई धर्माचरण नही है ।"

८. (लक्ष्मण का राम से कथन) जो कातर और निर्बल है, वे ही दैव (भाग्य) का आश्रय लेते है । वीर और आत्मनिष्ठ पुरुष दैव की ओर कभी नही देखते ।

६. जो अपने पुरुषार्थ से दैव को प्रबाधित (मजबूर) कर देने मे समर्थ हैं, वे मनुष्य दैवी विपत्तियो से कभी अवसन्न (खिन्न, दु:खित) नही होते हैं ।

१०. पतिव्रता स्त्री एकमात्र पति की सेवा-शुश्रूषा से ही श्रेष्ठ स्वर्ग को प्राप्त कर लेती है ।

११. नीम से कभी मधु (शहद) नही टपक सकता है ।

१२. (राम के साथ वन मे जाते समय लक्ष्मण को सुमित्रा की शिक्षा) हे पुत्र ! राम को दशरथ के तुल्य, सीता को मेरे (माता सुमित्रा) समान और वन को अयोध्या की तरह समझ कर आनन्दपूर्वक वन मे जाओ ।

१३. जो व्यक्ति फल (परिणाम) का विचार किए बिना कर्म करने लग जाता है, वह फल के समय मे ऐसे ही पछताता है जैसे कि सुन्दर लाल-लाल फूलो को देख कर सुन्दर फलो की आकांक्षा से ढाक की सेवा करने वाला मूढ़ मनुष्य ।

१४. चित्त के विमूढ़ हो जाने पर इन्द्रियाँ भी अपने कार्यो मे भ्रान्त हो जाती है, अर्थात् चित्त के नष्ट होने पर इन्द्रियां भी वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे कि स्नेह (तेल) के क्षीण होने पर दीपक की प्रकाशकिरणें ।

१५. राजा के अर्थात् योग्य शासक के न होने पर राष्ट्र मे कोई किसी का अपना नही होता । सब लोग हमेशा एक दूसरे को खाने मे लगे रहते है, जैसे कि मछलियां परस्पर एक दूसरे को निगलती रहती है ।

१६. सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥

—१०६।१६

१७. अत्येति रजनी या तु, सा न प्रतिनिवर्तते।

—१०६।१६

१८. सहैव मृत्युर्व्रजति, सह मृत्युर्निषीदति।

—१०६।२२

१९. एको हि जायते जन्तुरेक एव विनश्यति।

—१०८।३

२०. मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः।

—११०।३

२१. कुलीनमकुलीनं वा, वीरं पुरुषमानिनम्।
चारित्रमेव व्याख्याति, शुचिं वा यदि वाऽशुचिम्॥

—११०।४

२२. सत्यमेवेश्वरो लोके, सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि, सत्यान्नास्ति परं पदम्॥

—११०।१३

२३. कर्मभूमिमिमां प्राप्य, कर्तव्यं कर्म यच्छुभम्।

—११०।२८

२४. धर्मादर्थः प्रभवति, धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥

—अरण्य काण्ड ९।३०

२५. उद्वेजनीयो भूतानां, नृशंसः पापकर्मकृत्।
त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोऽपि न तिष्ठति॥

—२९।३

१६. जितने भी संचय (संग्रह) हैं, वे सब एक दिन क्षय हो जाते हैं, उत्थान पतन में बदल जाते हैं। इसी प्रकार संयोग का अन्त वियोग में और जीवन का अन्त मरण में होता है।

१७. जो रात गुजर जाती है, वह फिर कभी लौट कर नहीं आती।

१८. मृत्यु मनुष्य के साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है, अर्थात् वह हर क्षण साथ लगी रहती है, पता नहीं, कब दबोच ले।

१९. प्राणी अकेला ही जन्म लेता है, और अन्त मे अकेला ही मर जाता है, अर्थात् कोई किसी का साथी नहीं है।

२०. जो पुरुष मर्यादा एवं चरित्र मे हीन होते हैं, वे सज्जनो के समाज मे आदर नही पाते।

२१. कुलीन तथा अकुलीन, वीर तथा डरपोक, पवित्र तथा अपवित्र पुरुष अपने आचरण ही से जाना जाता है।

२२. संसार मे सत्य ही ईश्वर है, सत्य में ही सदा धर्म रहता है, सत्य ही सब अच्छाइयों की जड़ है, सत्य से बढ़कर और कुछ नही है।

२३ मानवजीवनरूप इस कर्मभूमि को प्राप्त कर मनुष्य को शुभ कर्म ही करना चाहिए।

२४. धर्म से ही अर्थ (ऐश्वर्य) मिलता है, धर्म से ही सुख मिलता है, और धर्म से ही अन्य जो कुछ भी अच्छा है वह सब मिलता है। धर्म ही विश्व का एक मात्र सार है।

२५. लोगो को कष्ट देने वाला, क्रूरकर्मा पापाचारी शासक, चाहे त्रिभुवन का एकछत्र सम्राट ही क्यो न हो, वह अधिक काल तक टिक नही सकता।

२६. न चिरं पापकर्माणः, क्रूरा लोकजुगुप्सिताः।
ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति, शीर्णमूला इव द्रुमाः॥

—२६

२७. यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः॥

—५६।१६

२८. इदं शरीरं निःसंज्ञं बन्ध वा घातयस्व वा।
नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीवितं वा ऽपि राक्षस!

—५६।२१

२९. उत्साहो बलवानार्य, नास्त्युत्साहात्परं बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु, न किंचिदपि दुर्लभम्॥

—किष्किन्धा काण्ड १।१२२

३०. उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु।

—१।१२३

३१. नह्यबुद्धिगतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि।

—२।१

३२. नाऽहं जानामि केयूरे, ना ऽहं जानामि कुण्डले।
नूपुरेत्वभिजानामि, नित्य पादाभिवन्दनात्॥

—६।२२

३३. ये शोकमनुवर्तन्ते, न तेषां विद्यते सुखम्।

—७।१२

३४. व्यसने वार्थकृच्छ्रे, वा भये वा जीवितान्तगे।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान्नावसीदति॥

—८।६

२६. क्रूर, लोगों मे निन्दित, पापी मनुष्य ऐश्वर्यं पाकर भी जड़ से कटे वृक्ष समान अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकते।

२७. जब लोगों का दुर्दैव से प्रेरित विनाश होना होता है, तो वे काल के वश मे होकर विपरीत कर्म करने लगते है।

२८. (सीता की रावण के प्रति उक्ति)—हे राक्षस ! यह शरीर जड़ है, इसे चाहे बांधकर रख अथवा मार डाल ! मुझे इस शरीर एवं जीवन की रक्षा का मोह नही है, मुझे तो एकमात्र अपने धर्म की ही रक्षा करनी है।

२९. (सीता के अपहरण होने पर शोकाकुल हुए राम से लक्ष्मण ने कहा)— हे आर्य ! उत्साह ही बलवान है, उत्साह से बढ़कर दूसरा कोई बल नही है। उत्साही मनुष्य को इस लोक मे कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

३०. उत्साही पुरुष बड़े से बड़े जटिल कार्यो मे भी अवसन्न-दुःखित नहीं होते।

३१. बुद्धिहीन राजा प्रजा पर ठीक तरह शासन नही कर सकता।

३२. (राम ने सीता हरण के बाद सुग्रीव के द्वारा दिखाए गए सीता के आभूषणो को लक्ष्मण से पहचानने को कहा तो लक्ष्मण ने उत्तर दिया।) मैं माता सीता के न केयूरो (बाजूबन्दो) को पहचान सकता हूँ और न कुण्डलो को। प्रतिदिन चरण छूने के कारण मैं केवल नूपुरो को पहचानता हूँ कि ये वही हैं।

३३. जो व्यक्ति निरन्तर शोक करते रहते हैं, उन को कभी सुख नही होता।

३४. संकट आने पर, धन का नाश होने पर, और प्राणान्तक भय आने जो व्यक्ति धैर्यपूर्वक अपनी बुद्धि से सोचकर कार्य करता है वही [illegible] से बच सकता है।

३५. ज्येष्ठो भ्राता पिता वा ऽपि, यश्च विद्यां प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया, धर्मे च पथि वर्तिनः॥

—१८।१३

३६. उपकारफलं मित्रमपकारो ऽरिलक्षणम्।

—८।२१

३७. भये सर्वे हि बिभ्यति।

—८।३५

३८. दुःखितः सुखितो वा ऽपि, सख्युर्नित्यं सखा गतिः।

—८।४०

३९. न नृपाः कामवृत्तयः।

—१७।३२

४०. प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यते रजः।

—१८।३५

४१. शोच्यः शोचसि कं शोच्यम्?

—२१।३

४२. न कालस्यास्ति बन्धुत्वम्।

—२५।७

४३. कोपमार्येण यो हन्ति स वीरः पुरुषोत्तमः।

—३१।६

४४. मिथ्या प्रतिज्ञां कुरुते, को नृशंसतरस्ततः?

—३४।८

४५. गोघ्ने चैव सुरापे च, चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नैव निष्कृतिः॥

—३४।१२

४६. पानादर्थश्च कामश्च धर्मश्च परिहीयते।

—३३।४६

४७. न देशकालौ हि यथार्थधर्मा, अवेक्षते कामरतिर्मनुष्यः।

—३३।५५

३५. बड़ा भाई, जन्म देने वाला जनक और विद्या देने वाला गुरु—धर्म मार्ग पर चलनेवाले इन तीनों को पिता ही समझना चाहिए।

३६. उपकार करना मित्र का लक्षण है, और अपकार करना शत्रु का लक्षण है।

३७. भय से प्रायः सभी डरते है।

३८. दुखी हो या सुखी, मित्र की मित्र ही गति है।

३९. राजा को स्वेच्छाचारी नही होना चाहिए।

४०. जो अपने पाप का प्रायश्चित्त कर लेते हैं, उनके पाप शान्त (नष्ट) हो जाते हैं।

४१. जो स्वयं शोचनीय स्थिति में है, वह दूसरो का क्या सोच (चिन्ता) करेगा?

४२. काल (मृत्यु) किसी का बन्धु नही है।

४३. जो आर्य धर्म (विवेक) से क्रोध का नाश कर देता है, वही वीर है, वही वीरो में श्रेष्ठ है।

४४. जो मनुष्य अपने मित्रो से मिथ्या प्रतिज्ञा (झूठा वादा) करता है, उससे अधिक क्रूर और कौन है?

४५. गोघातक, मदिरा पीनेवाले, चोर और व्रतभंग करनेवाले की शुद्धि के लिए तो सत्पुरुषों ने प्रायश्चित बताये है; परन्तु कृतघ्न का कोई प्रायश्चित्त नही है।

४६. मद्यपान से धन, काम (गृहस्थ जीवन) एवं धर्म की हानि होती है।

४७. कामान्ध मनुष्य अपने देशकालोचित यथार्थ कर्तव्यो को नही देख पाता है।

४८. न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः॥

—६४।

४९. नेदृशानां मतिर्मन्दा भवत्यकलुषात्मनाम्।

—८१।११

५०. क्रुद्धः पाप न कुर्यात् कः क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।

—सुन्दर काण्ड ५५।

५१. नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित्।

—५५।५

५२. सुलभाः पुरुषा राजन् ! सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

—युद्ध काण्ड १६।२१

५३ न कथनात् सत्पुरुषा भवन्ति।

—७१।५९

५४ कर्मणा सूचयात्मानं न विकत्थितुमर्हसि।
पौरुषेण तु यो युक्तः स तु शूर इति स्मृतः॥

—७१।६०

५५. अनर्थेभ्यो न शक्नोति त्रातुं धर्मो निरर्थकः।

—८३।१४

५६. दुर्वलो हतमर्यादो न सेव्य इति मे मतिः।

—८३।२६

५७. अधर्मसंश्रितो धर्मो विनाशयति राघव !

—८३।३०

५८. अर्थेन हि विमुक्तस्य पुरुषस्याल्पचेतसः।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥

—८३।३३

४८. मन को विषादग्रस्त न होने दो, इससे अनेक दोष पैदा होते है। विषादग्रस्त मन पुरुष को वैसे ही नष्ट कर डालता है, जैसे क्रुद्ध हुआ सर्प अबोध बालक को।

४९ विशुद्ध हृदय वाले सज्जनो की बुद्धि कभी मन्द (कर्तव्यविमूढ) नही होती।

५०. क्रोध से उन्मत्त हुआ मनुष्य कौन-सा पाप नही कर डालता, वह अपने गुरुजनो की भी हत्या कर देता है।

५१. क्रोधी के सामने अकार्य (नही करने योग्य) और अवाच्य (नही बोलने योग्य) जैसा कुछ नही रहता। अर्थात् वह कुछ भी कर सकता है और बोल सकता है।

५२ (विभीषण का रावण के प्रति कथन) राजन्! ससार मे प्रिय वचन बोलने वाले तो बहुत मिलते है, किन्तु हितकारी (पथ्य) अप्रिय वचन कहने वाले और सुननेवाले दोनों ही मिलने दुर्लभ है।

५३. केवल बात बनाने से कोई बड़ा आदमी नही बन सकता।

५४. कर्म कर के अपना परिचय दो, न कि मुंह से बड़ाई हांक कर। जिसमे पौरुष है, वही वस्तुतः वीर कहा जाता है।

५५. जो धर्म मनुष्य को अनर्थो (कष्टो या विकारो) से रक्षा नही कर सकता, वह धर्म निरर्थक है।

५६. (लक्ष्मण का राम के प्रति कथन) दुर्बल एवं मर्यादाहीन व्यक्ति का संग नही करना चाहिए।

५७. (लक्ष्मण ने राम से कहा) हे राघव! जो धर्म, अधर्म पर आधारित है वह मनुष्य को नष्ट कर देता है।

५८ धनहीन होने से मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और उसकी सब शुभ प्रवृत्तियाँ वैसे ही क्षीण होती जाती हैं जैसे ग्रीष्म काल में छोटी नदियाँ।

५९. निर्गुणः स्वजनः श्रेयान्, यः परः पर एव सः।

—८७।१५

६०. परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदामतिशंका च त्रयो दोषाः क्षयावहाः॥

—८७।२४

६१. कार्याणां कर्मणां पारं यो गच्छति स बुद्धिमान्।

—८८।१४

६२. न हि प्रतिज्ञां कुर्वन्ति वितथां सत्यवादिनः।

१०१।५१

६३. मरणान्तानि वैराणि।

—११०।२६

६४. शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत्पापमश्नुते।

—१११।२६

६५. संतश्चारित्रभूषणाः।

—११३।४२

६६. संप्राप्तमवमानं यस्तेजसा न प्रमार्जति।
कस्तस्य पौरुषेणार्थो महताप्यल्पचेतसा॥

—११५।६

६७. भगवन्! प्राणिनां नित्यं नान्यत्र मरणाद् भयम्।
नास्ति मृत्युसमः शत्रुरमरत्वमहं वृणे॥

—उत्तरकाण्ड १०।१६

६८. नहि धर्माभिरक्तानां लोके किंचन दुर्लभम्।

—१०।३३

६९. यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते।

—४३।१९

७०. दण्डेन च प्रजा रक्ष मा च दण्डमकारणे।

—७९।७

५९. स्वजन (अपना साथं) यदि निर्गुण है तब भी वह अच्छा है, क्योंकि वह अपना है। पर (पराया) तो आखिर पर ही होता है।

६०. दूसरो का धन चुराना, परस्त्रियों की ओर ताकना और मित्रो के प्रति अविश्वास करना—ये तीनों दोष मानव को नष्ट करने वाले है।

६१ जो अपने कर्तव्यो को अन्त तक पार (पूरा) कर देता है, वही वास्तव मे बुद्धिमान् है।

६२. सत्यवादी लोग अपनी प्रतिज्ञा को कभी मिथ्या नही होने देते।

६३. वैर-विरोध जीते-जी तक रहते है।

६४ शुभ (सत्कर्म) करने वाला शुभ (शुभ फल) पाता है, और पाप करने वाला पाप (अशुभफल) पाता है।

६५. सच्चरित्र ही सन्तो का भूषण है।

६६ जो प्राप्त अपमान का अपने तेज द्वारा परिमार्जन नही करता, उसके चेतनाहीन महान् पौरुष का भी क्या अर्थ है ?

६७. (रावण की ब्रह्मा से याचना)—भगवन्! प्राणियों को मृत्यु के समान दूसरा भय नही है, न ही ऐसा कोई दूसरा शत्रु है। अतः मैं आपसे अमरत्व की याचना करता हूँ।"

६८. धर्म मे निष्ठा रखने वालो के लिए संसार मे कुछ भी दुर्लभ नही है।

६९ राजा जैसा आचरण करता है, प्रजा उसी का अनुसरण करती है।

७०. (मनु ने अपने पुत्र ईक्ष्वाकु से कहा)—तू दण्ड द्वारा प्रजा की रक्षा कर, किंतु बिना कारण किसी को भी दण्ड मत दे।

[1]महाभारत की सूक्तियां

१. बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो, मामयं प्रहरिष्यति ।

—आदिपर्व *१।२६८

२ तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः,
स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः ।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्,
तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥

—१।२७५

३. नवनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य,
वाचि क्षुरो निहितस्तीक्ष्णधारः ।
तदुभयमेतद् विपरीतं क्षत्रियस्य,
वाङ् नवनीतं हृदयं तीक्ष्णधारम् ॥

—३।१२३

४. अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वरः ।

—११।१३

---

१. गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित संस्करण ।
*अंक क्रम से सर्ग और श्लोक के सूचक हैं ।

५. भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्त्तते ।

—आदि० १६।२०

६. अधर्मोत्तरता नाम कृत्स्नं व्यापादयेज्जगत् ।

—३७।२०

७. नोद्विग्नश्चरते धर्मं, नोद्विग्नश्चरते क्रियाम् ।

—४१।२८

८. क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।

—४२।६

९. योऽवमन्यात्मना ऽऽत्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
न तस्य देवाः श्रेयांसो यस्यात्मा ऽपि न कारणम् ॥

—७४।३३

१०. अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।

—७४।४१

११. मूर्खो हि जल्पतां पुंसां, श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
अशुभं वाक्यमादत्ते, पुरीषमिव शूकरः ॥

—७४।९०

१२. प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
गुणवद् वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः ॥

—७४।९१

१३. नास्ति सत्यसमो धर्मो, न सत्याद् विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ॥

—७४।१०५

१४. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

—७५।५०

५. जो लोग विभक्त होकर आपस में फूट पैदा कर लेते हैं, उनका शीघ्र ही ऐसा विनाश होता है, जिसकी कहीं तुलना नहीं होती।

६. संकट से बचने के लिए उत्तरोत्तर अधर्म करते जाने की प्रवृत्ति सम्पूर्ण जगत् का नाश कर डालती है।

७. उद्विग्न पुरुष न धर्म का आचरण कर सकता है, और न किसी लौकिक कर्म का ही ठीक तरह सम्पादन कर सकता है।

८. जिनमे क्षमा है, उन्ही के लिए यह लोक और परलोक—दोनों कल्याण-कारक है।

९. जो स्वय अपनी आत्मा का तिरस्कार करके कुछ का कुछ समझता है और करता है, स्वयं का अपना आत्मा ही जिसका हित साधन नही कर सकता है, उसका देवता भी भला नही कर सकते।

१०. भार्या (धर्मपत्नी) पुरुष का आधा अंग है। भार्या सबसे श्रेष्ठ मित्र है।

११. मूर्ख मनुष्य परस्पर वार्तालाप करने वाले दूसरे लोगों की भली-बुरी बाते सुनकर उनसे बुरी बातो को ही ग्रहण करता है, ठीक वैसे ही, जैसे सूअर अन्य अच्छी खाद्य वस्तुओ के होते हुए भी विष्ठा को ही अपना भोजन बनाता है।

१२. विद्वान् पुरुष दूसरे वक्ताओं के शुभाशुभ वचनों को सुनकर उनमें से अच्छी बातो को ही अपनाता है, ठीक वैसे ही, जैसे हंस मिले हुए दुग्ध-जल मे से पानी को छोड़कर दूध ग्रहण कर लेता है।

१३. सत्य के समान कोई धर्म नही है, सत्य से उत्तम कुछ भी नही है। और झूठ से बढ कर तीव्रतर पाप इस जगत मे दूसरा कोई नही है।

१४. विषयभोग की इच्छा विषयों का उपभोग करके कभी शान्त नही हो सकती। घी की आहुति डालने पर अधिकाधिक प्रज्वलित होने वाली आग की भांति वह भी अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है।

१५. यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु कर्हिचित् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।

—आदि० ७५।५२

१६. यदाचायं न बिभेति, यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

—७५।५३

१७. पुमांसो ये हि निन्दन्ति वृत्तेनाभिजनेन च ।
न तेषु निवसेत् प्राज्ञः श्रेयोऽर्थी पापबुद्धिषु ॥

—७६।१०

१८. न हीदृशं संवननं, त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दया मैत्री च भूतेषु, दानं च मधुरा च वाक् ॥

—८७।१२

१९. सन्तः प्रतिष्ठा हि सुखच्युतानाम् ।

— ८।१२

२०. दुःखैर्न तप्येन्न सुखैः प्रहृष्येत्,
समेन वर्तेत सदैव धीरः ।

—८९।९

२१. तपश्च दानं च शमो दमश्च,
ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा ।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो,
द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुंसाम् ॥

—९०।२२

२२. दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं सम्प्रतिष्ठितः ।
तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते ॥

—१२२।८१

२३. न सख्यमजरं लोके हृदि तिष्ठति कस्य चित् ।
कालो ह्येनं विहरति क्रोधो वैनं हरत्युत ॥

—१३०।१

[१]५. जब मनुष्य मन, वाणी और कर्म द्वारा कभी किसी प्राणी के प्रति बुरा भाव नही करता, तब वह ब्रह्मत्वस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

[१]६ सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होने पर जब साधक न किसी से डरता है और न उससे ही दूसरे प्राणी डरते है, तथा जब वह न तो किसी से कुछ इच्छा करता है और न किसी से द्वेष ही रखता है, तब वह ब्रह्मत्व भाव को प्राप्त हो जाता है।

[१]७. जो पुरुष दूसरों के आचार व्यवहार और कुल की निन्दा करते हैं, उन पापपूर्ण विचार वाले मनुष्यों के सम्पर्क मे कल्याण की इच्छा रखने वाले विद्वान् पुरुष को नहीं रहना चाहिए।

[१]८. सभी प्राणियो के प्रति दया और मैत्री का व्यवहार, दान और सब के प्रति मधुर वाणी का प्रयोग—तीनो लोको मे इनके समान अन्य कोई वशीकरण नही है।

[१]९. सुख से वंचित निराश्रित लोगो के लिए सन्त ही एक मात्र श्रेष्ठ आश्रय स्थान हैं।

[२]०. दुःखो से सतप्त न हो और सुखों से हर्षित न हो। धीर पुरुष को सदा समभाव से ही रहना चाहिए।

२१. तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता और समस्त प्राणियो के प्रति दया —सन्तो ने स्वर्गलोग के ये सात महान् द्वार बतलाए है।

२२. यह संसार दैव और पुरुषार्थ पर प्रतिष्ठित-आधारित है। इनमें दैव तभी सफल होता है, जब समय पर उद्योग किया जाए।

२३. संसार मे किसी भी मनुष्य के हृदय मे मैत्री (स्नेहभावना) अमिट होकर नही रहती। एक तो समय और दूसरा क्रोध, मैत्री को नष्ट कर डालते है।

२४. ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम् ।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥

—आदि० १३०।१०

२५. प्राज्ञः शूरो बहूनां हि भवत्येको न संशयः ।

—१३१।३

२६. शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल ।

—१३६।११

२७. छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने सर्वे तज्जीविनो हताः ।
कथं नु शाखास्तिष्ठेरंश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥

—१३९।१७

२८. न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।

—१३९।७३

२९. नाच्छित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥

—१३९।७७

३०. भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥

—१३९।८२

३१. एतावान् पुरुषस्तात ! कृतं यस्मिन् न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्यो ऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ॥

—१५६।१४

३२. अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम् ।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम् ॥

—१५६।२६

३३. धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।

—१७४।४५

२४. जिन का धन (ऐश्वर्य) समान है, जिनकी विद्या एक-सी है, उन्ही में विवाह और मैत्री का सम्बन्ध ठीक हो सकता है। एक दूसरे से ऊँचे-नीचे लोगो में स्नेहसम्बन्ध कभी सफल नही हो सकते है।

२५. बहुतो मे कोई एक ही बुद्धिमान और शूरवीर होता है, इसमे संशय नही है।

२६. शूरवीरो और नदियो की उत्पत्ति के वास्तविक कारण को जान लेना बहुत कठिन है।

२७. यदि मूल आधार नष्ट हो जाए, तो उसके आश्रित रहने वाले सभी लोग स्वतः ही नष्ट हो जाते है।
यदि वृक्ष की जड़ काट दी जाए, तो फिर उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती है।

२८. कष्ट सहे बिना—अर्थात् अपने को खतरे मे डाले बिना मनुष्य कल्याण का दर्शन नही कर सकता।

२९. दूसरो को मर्मघाती चोट पहुँचाए बिना, अत्यन्त क्रूर कर्म किए बिना तथा मछलीमारो की भाँति बहुतों के प्राण लिए बिना, कोई भी बड़ी भारी सम्पत्ति अर्जित नही कर सकता।

३०. जब तक अपने ऊपर भय (खतरा) न आए, तभी तक डरते हुए उसको टालने का प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु जब खतरा सामने आ ही जाए, तो फिर निडर होकर उसका यथोचित प्रतिकार करना चाहिए।

३१. जो अपने प्रति किये हुए उपकार को प्रत्युपकार किये बिना नष्ट नही होने देता है, वही वास्तविक असली पुरुष है।
और यही सबसे बड़ी मानवता है कि दूसरा मनुष्य उसके प्रति जितना उपकार करे, वह उससे भी अधिक उस मनुष्य का प्रत्युपकार करदे।

३२. धन की इच्छा सबसे बड़ा दुःख है, किन्तु धन प्राप्त करने में तो और भी अधिक दुःख है। और जिसकी प्राप्त धन मे आसक्ति होगई है, धन का वियोग होने पर उसके दुःख की तो कोई सीमा ही नही होती।

३३. क्षत्रिय बल तो नाममात्र का ही बल है, उसे धिक्कार है। ब्रह्मते जनित बल ही वास्तविक बल है।

३४. यदा तु प्रतिषेद्धारं पापो न लभते क्वचित् ।
तिष्ठन्ति बहवो लोकास्तदा पापेषु कर्मसु ॥

—आदि० १७९।१०

३५. जानन्नपि च यः पापं शक्तिमान् न नियच्छति ।
ईशः सन् सोऽपि तेनैव कर्मणा सम्प्रयुज्यते ॥

—१७९।११

३६. को हि तत्रैव भुक्त्वान्नं भाजनं भेत्तुमर्हति ।
मन्यमानः कुले जातमात्मानं पुरुषं क्वचित् ॥

—२१९।२७

३७. ज्येष्ठश्चेन्न प्रजानाति कनीयान् किं करिष्यति ?

—२३१।४

३८. कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः ।
सुखानि चानुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥

—सभापर्व ५।१७

३९. दत्तभुक्तफलं धनम् ।

—५।११३

४०. शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।

—५।११३

४१. मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ?

—१६।२

४२. सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ?
गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ॥

—१६।११

४३. ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां, क्षत्रियाणां बलाधिकः ।

—३८।१२

३४. जब अत्याचारी पापी मनुष्य को कही कोई रोकने वाला नहीं मिलता, तब बहुत बड़ी संख्या में मनुष्य पाप करने लग जाते है।

३५. जो मनुष्य शक्तिमान् एवं समर्थ होते हुए भी जान बूझ कर पापाचार को नही रोकता, वह भी उसी पापकर्म से लिप्त हो जाता है।

३६. अपने आप को कुलीन मानने वाला कौन ऐसा मनुष्य है, जो जिस वर्तन में खाए, उसी मे छेद करे—अर्थात् अपने उपकारी का ही अपकार करे।

३७. यदि बड़ा ही आने वाले भय और उससे बचने का उपाय न जाने, तो फिर छोटा करेगा ही क्या ?

३८. (नारद ने युधिष्ठर जी से कहा कि) राजन् ! क्या तुम्हारा धन तुम्हारे परिवार, समाज और राष्ट्र के कार्यों के निर्वाह के लिए पूरा पड़ जाता है ? क्या धर्म मे तुम्हारा मन प्रसन्नतापूर्वक लगता है ? क्या तुम्हें और तुम्हारे राष्ट्र को इच्छानुसार सुख-भोग प्राप्त होते है ? क्या सत्कर्म मे लगे हुए तुम्हारे मन को कोई आघात या विक्षेप तो नही पहुँचता है ?

३९. धन का फल दान और भोग है।

४०. शास्त्र ज्ञान का फल है—शील और सदाचार।

४१. मन और आँखों के खो देने पर मनुष्य का जीवन कैसा शून्य हो जाता है ?

४२. जो निर्बल है, वह सर्वगुणसम्पन्न होकर भी क्या करेगा ? क्योंकि सभी गुण पराक्रम के अंगभूत बन कर ही रहते है।

४३. ब्राह्मणों मे वही पूजनीय समझा जाता है, जो ज्ञान मे बड़ा होता है और क्षत्रियो में वही पूजा के योग्य माना जाता है, जो बल में स अधिक होता है।

४४. यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥

—सभा० ५५।१

४५. असन्तोषः श्रियो मूलम् ।

—५५।११

४६. न व्याधयो नापि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते ।
यावदेव भवेत् कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥

—५६।१०

४७. तपस्विनं वा परिपूर्णविद्य, भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव ।

—६६।६

४८. लोभो धर्मस्य नाशाय ।

—७१।३४

४९. शोकस्थानसहस्राणि—भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥

—वनपर्व २।१६

५०. मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ।
अयःपिण्डेन तप्तेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ॥

—२।२५

५१. स्नेहमूलानि दुःखानि ।

—२।२८

५२. नाऽसाध्यं मृदुना किंचित् ।

—२८।३१

५३. नादेशकाले किंचित् स्याद् देशकालौ प्रतीक्षताम् ।

—२८।३२

५४. क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।

—२९।४०

४४. जिसके पास अपनी बुद्धि नही है, केवल रटन्त विद्या से बहुश्रुत होगया है, वह शास्त्र के मूल तात्पर्य को नहीं समझ सकता, ठीक उसी तरह, जैसे कलछी दाल के रस को नही जानती ।

४५. असन्तोष ही लक्ष्मीप्राप्ति का मूल है ।

४६. रोग और यम (मृत्यु) इस बात की प्रतीक्षा नही करते कि इसने श्रेय प्राप्त कर लिया है या नहीं । अतः जब तक अपने मे सामर्थ्य हो, बस, तभी तक अपने हित का साधन कर लेना चाहिए ।

४७. तपस्वी साधक तथा विद्वानो को कुत्ते के समान स्वभाववाले मनुष्य ही सदा भूँका करते है ।

४८. लोभ धर्म का नाशक होता है ।

४९ भय और शोक के संसार में सैंकड़ों-हजारों ही स्थान (कारण) है । परन्तु ये मूढ़ मनुष्यो को ही दिन-प्रति-दिन प्रभावित करते हैं, ज्ञानी पुरुषों को नही ।

५०. मन मे दुःख होने पर शरीर भी सन्तप्त होने लगता है, ठीक वैसे ही, जैसे कि तपाया हुआ लोहे का गोला डाल देने पर घड़े मे रखा हुआ शीतल जल भी गर्म हो जाता है ।

५१. आसक्ति ही दुःख का मूल कारण है ।

५२. मृदुता (कोमलता, नम्रता) से कुछ भी असाध्य नही है ।

५३. अयोग्य देश तथा अनुपयुक्त काल मे कुछ भी प्रयोजन (कार्य) सिद्ध नही हो सकता; अतः कार्यसिद्धि के लिए उपयुक्त देश-काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए ।

५४. क्षमा तेजस्वी पुरुषों का तेज है, क्षमा तपस्वियों का ब्रह्म है ।

५५. सर्वे हि स्वं समुत्थानमुपजीवन्ति जन्तवः।

—वन० ३२।७

५६. सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र ! स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

—१८१।२१

५७. सत्यं दमः तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता।
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृपः॥

—१८१ ४२

५८. प्रक्षीयते धनोद्रेको जनानामविजानताम्।

—१९२।२८

५९. यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते॥

—उद्योगपर्व ३३।१९

६०. क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति,
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो व्युपयुंक्ते परार्थे,
तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य॥

—३३।२२

६१. एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम्।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः॥

—३३।४१

६२. सत्यं स्वर्गस्य सोपानम्।

—३३।४७

६३. क्षमा गुणो ह्यशक्तानां, शक्तानां भूषणं क्षमा।

—३३।४९

६४. शान्तिखड्गः करे यस्य, किं करिष्यति दुर्जनः ?

—३३।५०

५५. सभी प्राणी अपने पुरुषार्थ एवं प्रयत्न के द्वारा ही जीवन धारण करते हैं, जीवनयात्रा चलाते है।

५६. (नागराज के द्वारा ब्राह्मण की परिभाषा पूछने पर युधिष्ठर ने कहा—) हे नागराज ! जिसमे सत्य, दान, क्षमा, शील, क्रूरता का अभाव, तप और दया—ये सद्गुण दिखाई देते हो, वही ब्राह्मण कहा गया है ।

५७. (युधिष्ठर को सद्गुणो की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे नागराज ने कहा)—राजन् ! सत्य, इन्द्रियसंयम, तप, दान, अहिसा और धर्मपरायणता—ये सद्गुण ही सदा मनुष्यो की सिद्धि के हेतु है, जाति और कुल नही ।

५८. विवेकहीन अज्ञानी मनुष्यो का ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है।

५९. सर्दी और गरमी, भय और अनुराग, सम्पत्ति और दरिद्रता जिस के प्रारब्ध कार्य में विघ्न नही डालते, वही व्यक्ति पण्डित कहलाता है ।

६०. विद्वान् पुरुष किसी चालू विषय को देर तक सुनता है, किन्तु शीघ्र ही समझ लेता है । समझकर कर्तव्यबुद्धि से पुरुषार्थ मे प्रवृत्त होता है, किसी छिछली कामना से नही । बिना पूछे दूसरे के विषय मे व्यर्थ कोई बात नही करता है । यह सब पण्डित की मुख्य पहिचान है ।

६१. जो अपने द्वारा भरण-पोषण के योग्य व्यक्तियो को उचित वितरण किए बिना अकेला ही उत्तम भोजन करता है और अच्छे वस्त्र पहनता है, उससे बढ़ कर और कौन क्रूर होगा ?

६२. सत्य स्वर्ग का सोपान (सीढ़ी) है ।

६३. क्षमा असमर्थ मनुष्यो का गुण है, तथा समर्थों का भूषण है ।

६४. जिसके हाथ मे शान्तिरूपी तलवार है, उसका दुष्ट पुरुष क्या करेंगे ?

*६५. द्वाविमौ पुरुषौ राजन् ! स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥

—उद्योग० ३३।५८

६६. षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥

—३३।७८

६७. अर्थागमो नित्यमरोगिता च,
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या,
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥

—३३।८२

६८. अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति,
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च,
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ।

—३३।६६

६९. यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद् रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥

—३४।१६

७०. यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥

—३४।१७

७१. सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥

—३४।३९

---

*६५ से ७४ तक विदुरजी का धृतराष्ट्र को नीति उपदेश है ।

६५. (विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा—) राजन् ! ये दो प्रकार के पुरुष स्वर्ग के भी ऊपर स्थान पाते है—एक शक्तिशाली होने पर भी क्षमा करने वाला और दूसरा निर्धन होने पर भी दान देने वाला।

६६. ऐश्वर्य एवं उन्नति चाहने वाले पुरुषो को निद्रा, तन्द्रा (ऊँघना), भय, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता (जल्दी हो जाने वाले काम मे भी अधिक देर लगाने की आदत)—इन छह दुर्गुणो को त्याग देना चाहिए।

६७. राजन् ! धन की प्राप्ति, नित्य नीरोग रहना, स्त्री का अनुकूल तथा प्रियवादिनी होना, पुत्र का आज्ञा के अन्दर रहना, तथा अर्थकरी (अभीष्ट प्रयोजन को सिद्ध करने वाली) विद्या—ये छह बातें इस मानव-लोक में सुखदायिनी होती हैं।

६८. बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, अधिक न बोलना, शक्ति के अनुसार दान और कृतज्ञता—ये आठ गुण पुरुष की ख्याति बढ़ाते ।

६९. जो समय पर स्वयं पके हुए फलो को ग्रहण करता है, समय से पहले कच्चे फलो को नही, वह फलो से मधुर रस पाता है और भविष्य मे बीजो को बोकर पुनः फल प्राप्त करता है।

७०. जैसे भौरा फूलो की रक्षा करता हुआ ही उनका मधु ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनो को कष्ट दिए बिना ही कर के रूप मे उनसे धन ग्रहण करे।

७१. सत्य से धर्म की रक्षा होती है, योग से विद्या सुरक्षित रहती है, सफाई से सुन्दर रूप की रक्षा होती है और सदाचार से कुल की रक्षा होती है।

७२. विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः ।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥

—उद्योग० ३४।४४

७३. सर्वं शीलवता जितम् ।

—३४।४७

७४. रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥

—३४।७८

७५. श्रीर्मङ्गलात्प्रभवति प्रागल्भ्यात्सम्प्रवर्धते ।
दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात्प्रतितिष्ठति ॥

—३५।५१

७६. न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा,
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति,
न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥

—३५.५८

७७ नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते पुनः ।

—३५।६२

७८. सुवर्णपुष्पां पृथिवी चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

—३५।७४

७९. बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि

—३५।७५

८०. ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥

—३६।२५

८१. अकीर्तिं विनयो हन्ति, हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

—३६।४२

८२. क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः।

—शान्तिपर्व ८।५

८३. धनात्कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्धते।

—८।२२

८४. शारीरं मानसं दुःखं योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ च विन्दति॥

—१७।१०

८५. तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम्!

—२१।२

८६. सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥

—२५।२६

८७. ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः।
त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः॥

—२५।२८

८८. जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत।

—३५।४५

८९. अल्पं हि सारभूयिष्ठं कर्मोदारमेव तत्।
कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोऽस्त्यकर्मणः॥

—७५।२९

९०. धर्ममूलाः पुनः प्रजाः।

—१३०।३५

९१. वैरं पंचसमुत्थानं तच्च बुध्यन्ति पण्डिताः।
स्त्रीकृतं वास्तुजं वाग्जं ससापत्नापराधजम्॥

—१३९।४२

९२. वृद्धिसंजननो धर्म आचारश्च सतां सदा।

—१४२।५

८२. कायर और आलसी व्यक्ति को राज्य (ऐश्वर्य) कैसे प्राप्त हो सकता है ?

८३. धन से कुल की प्रतिष्ठा बढती है और धन से ही धर्म की वृद्धि होती है।

८४. जो मनुष्य अतीत के बीते हुए शारीरिक अथवा मानसिक दुःखों के लिए बार-बार शोक करता है, वह एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता है। उसे दो-दो अनर्थ भोगने पड़ते है।

८५. मन मे सन्तोष का होना स्वर्ग की प्राप्ति से भी बढ़ कर है। सन्तोष ही सबसे बड़ा सुख है।

८६. सुख हो या दुःख, प्रिय हो या अप्रिय, जब भी जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए, अपने हृदय को उक्त द्वन्द्वो के समक्ष कभी पराजित न होने दें।

८७. संसार में जो अत्यन्त मूढ़ हैं, अथवा जो बुद्धि से परे पहुँच गये हैं, अर्थात् पूर्ण ज्ञानी हो गए है, वे ही सुखी होते हैं, बीच के लोग तो कष्ट ही उठाते हैं।

८८. जान-बूझ कर किया हुआ पाप बहुत भारी होता है।

८९. ऊपर से कोई काम देखने मे छोटा होने पर भी यदि उस मे सार अधिक हो तो वह महान् ही है। न करने की अपेक्षा कुछ करना अच्छा है, क्योकि कर्तव्य कर्म न करने वाले से बढ़ कर दूसरा कोई पापी नही है।

९०. धर्म प्रजा की जड़ (मूल) है।

९१. वैर पांच कारणो से हुआ करता है, इस बात को विद्वान् पुरुष अच्छी तरह जानते है—१. स्त्री के लिए, २. घर और जमीन के लिए, ३. कठोर वाणी के कारण, ४. जातिगत द्वेष के कारण, और ५. अपराध के कारण।

९२. धर्म और सत्पुरुषो का आचार-व्यवहार—ये बुद्धि से ही प्रकट होते है, जाने जाते हैं।

९३. उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति ।

—१५८।१५

९४. अहिंसको ज्ञानतृप्तः स ब्रह्मासनमर्हति ।

—१८९।६

९५. अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा ।
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥

—१८९।१८

९६. सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावाञ् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ?

—१८९।२१

९७. उपभोगांस्तु दानेन, ब्रह्मचर्येण जीवितम् ।

—अनुशासन पर्व ५७।१०

९८. म्रियते याचमानो वै न जातु म्रियते ददत् ।

—६०।५

९९. अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति ।

— ६३।६

१००. अन्नं प्राणा नराणां हि सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।

—६३।२५

१०१. अमृतं वै गवां क्षीरमित्याह त्रिदशाधिपः ।

—६६।४६

१०२. मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च ।
स्नाति यो मानसे तीर्थे तत्स्नानं तत्त्वदर्शिनः ।

—१०८।१३

९३. जो पुरुष उद्योगवीर है, वह कोरे वाग्वीर पुरुषों पर अपना अधिकार जमा लेता है।

९४. जो अहिंसक है और ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, वही ब्रह्मा के आसन पर बैठने का अधिकारी होता है।

९५ किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरता को त्याग देना, मन और इन्द्रियो को संयम मे रखना तथा सब के प्रति दया भाव रखना—इन्ही को धीर (ज्ञानी) पुरुषो ने तप माना है। केवल शरीर को सुखाना ही तप नही है।

९६. सभी प्रकार की कुटिलता मृत्यु का स्थान है और सरलता परब्रह्म की प्राप्ति का स्थान है। मात्र इतना ही ज्ञान का विषय है। और सब तो प्रलापमात्र है, वह क्या काम आएगा ?

९७. दान से उपभोग और ब्रह्मचर्य से दीर्घायु प्राप्त होता है।

९८. याचक मर जाता है, किन्तु दाता कभी नहीं मरता।

९९. अन्न के समान न कोई दान हुआ है और न होगा।

१००. अन्न ही मनुष्यो के प्राण हैं, अन्न में ही सब प्रतिष्ठित है।

१०१. देवराज इन्द्र ने कहा है कि गौओं का दूध अमृत है।

१०२. जो प्रसन्न एवं शुद्ध मन से ब्रह्मज्ञान रूपी जल के द्वारा मानसतीर्थ में स्नान करता है, उसका वह स्नान ही तत्वदर्शी ज्ञानी का स्नान माना गया है।

भगवद्गीता की सूक्तियां

१. देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्, धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

—*२।१३

२. मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

—२।१४

३. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

—२।१६

४. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

—२।२२

५. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

—२।२३

---

*अंक क्रमशः अध्याय और श्लोक के सूचक है।

भगवद्गीता की सूक्तियां

१. जिस प्रकार देहधारी को इस देह में बचपन के बाद जवानी और जवानी के बाद बुढ़ापा आता है उसी प्रकार मृत्यु होनेपर देही (आत्मा) को एक देह के बाद दूसरा देह प्राप्त होता रहता है। अतः धीर (ज्ञानी) इस विषय में मोह नहीं करते।

२. हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख के देने वाले ये इन्द्रिय और विषयों के संयोग उत्पत्ति-विनाश शील है, अनित्य है, इसलिए हे भारत! तू इन सब को समभाव से सहन कर।

३. जो असत् है, उस का कभी भाव (अस्तित्व) नही होता, और जो सत् है; उसका कभी अभाव (अनस्तित्व) नहीं होता।

४. जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही देही (जीवात्मा) पुराने शरीरों को छोड़ कर नये शरीरों को ग्रहण करता रहता है।

५. इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी गला सकता है, और न हवा सुखा सकती है।

६. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर् ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

—२।२७

७. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!

—२।४५

८. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

—२।४७

९. समत्वं योग उच्यते।

—२।४८

१०. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

—२।५०

११. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

—२।५५

१२. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग-भय-क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

—२।५६

१३. यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

—२।५८

१४. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।

—२।५९

६. जिसने जन्म ग्रहण किया है, उसका मरण निश्चित है ; तथा जिसका मरण है उसका जन्म निश्चित है। अतः जो अवश्यम्भावी है, अनिवार्य है, उस विषय में सोच-फिक्र करना योग्य नही है।

७. हे अर्जुन ! वेदों का तो सत्त्व, रजस्, तमस्--प्रकृति के इन तीन गुणो का ही विषय है, इसलिए तू तीनों गुणों की सीमा को लाँघ कर त्रिगुणातीत (शुद्ध ब्रह्म) होजा।

८. तेरा अधिकार मात्र कर्म करने मे ही है, कर्मफल मे कभी नही। अतः तू कर्म-फल के हेतु से कर्म करने वाला न हो। साथ ही तेरी अकर्म में —कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।

९. समत्व ही योग कहलाता है। अर्थात् हानि लाभ, सुख दुःख आदि मे समभाव रखना, विचलित न होना ही वास्तविक योग है।

१० समत्वबुद्धि से युक्त होने पर मनुष्य दोनों ही प्रकार के शुभाशुभ (पुण्य और पापरूप) कर्मो के बन्धन से छूट जाता है। इसलिए हे अर्जुन ! तू समत्वरूप ज्ञानयोग मे लग जा, समभाव के साथ कुशल कर्मो मे कुशल होने का नाम ही योग है।

११. हे अर्जुन ! जब साधक मन मे उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओ को त्याग देता है, और आत्मा से आत्मा मे ही सन्तुष्ट रहता है—अर्थात् अपने आप मे मगन रहता है, तो वह स्थितप्रज्ञ (स्थिरचित्त) कहलाता है।

१२. जो कभी दुःख से उद्विग्न नही होता, सुख की कभी स्पृहा नही करता, और जो राग, भय एवं क्रोध से मुक्त है, वही ज्ञानी स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

१३. कछुआ सब ओर से अपने अगो को जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब साधक सासारिक विषयो से अपनी इन्द्रियो को सब प्रकार से समेट लेता है— हटा लेता है, तो उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो जाती है।

१४. निराहार रहने पर इन्द्रिय-दौर्बल्य के कारण साधक को विषयो के प्रति तात्कालिक पराङ्मुखता—उदासीनता तो प्राप्त हो जाती है, परन्तु उन विषयो का रस (राग, आसक्ति) नही छूटता है, वह अन्दर मे बना ही रहता है। वह रस तो रागद्वेष से विमुक्त परम चैतन्य के दर्शन से ही छूटता है।

१५. इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।

—२।६०

१६. ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधः प्रजायते॥

—२।६२

१७. क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

—२।६३

१८. प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

—२।६५

१९. नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

—२।६६

२०. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

—२।६९

२१. विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

—२।७१

२२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

—३।५

१५. प्रयत्न-स्वभाव वाली बलवान् इन्द्रियाँ [illegible] साधक के मन को भी बलात् विषयों की ओर खींच ले जाती हैं।

१६. विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का उन विषयों में संग (आसक्ति, राग) हो जाता है, संग से ही उन विषयों के पाने की कामना होती है, और कामना होने से ही (विघ्न पड़ने अथवा विषयों की प्राप्ति न होने पर) क्रोध (क्षोभ) पैदा होता है।

१७. क्रोध से अत्यन्त मूढ़ता पैदा होती है, मूढ़ता से स्मृतिविभ्रम हो जाता है, स्मृतिविभ्रम से बुद्धि का नाश होता है। और बुद्धि का नाश होने पर वह मनुष्य नष्ट हो जाता है, अपनी उच्च स्थिति से गिर जाता है।

१८. चित्त प्रसन्न होने पर ही सब दुःखों का नाश होता है। चित्त प्रसन्न होने से ही बुद्धि प्रतिष्ठित अर्थात् स्थिर होती है।

१९. जो युक्त (योगाभ्यासी, विजितेन्द्रिय) नहीं है, उसे बुद्धि (ज्ञान) की प्राप्ति नहीं होती। अयुक्त (योग की भावना से रहित) व्यक्ति मैत्री, प्रमोद करुणा और माध्यस्थ्य भावनाओं से भी रहित होता है। जो भावनाओं से रहित होता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। और जो अशान्त है; उसे सुख कैसे मिल सकता है?

२०. सर्वसाधारण प्राणी जिसे रात समझते हैं और सोते रहते हैं, उस समय संयमी मनुष्य जागता रहता है। और जिस समय सामान्य मनुष्य जागते हैं, वह तत्त्वज्ञ साधक के लिए रात है।
अर्थात् ज्ञानी जिस सांसारिक सुख को दुःख कहते हैं, उसे ही अज्ञानी संसारी जीव सुख कहते हैं। और जिसे अज्ञानी जीव सुख कहते हैं, उसी सांसारिक सुख को ज्ञानी दुःख कहते हैं।

२१. जो पुरुष सभी कामनाओं का परित्याग कर स्पृहारहित, ममतारहित तथा अहंकाररहित होकर जीवन व्यतीत करता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है।

२२. निश्चय से कोई भी व्यक्ति क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।

२३. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

—३।६

२४. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

—३।८

२५. परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

—३।११

२६. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

—३।१३

२७. असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।

—३।१६

२८. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

—३।२१

२९. कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

—४।१८

३०. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

—४।१६

३१. यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते॥

—४।२२

३२ श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परंतप!

—४।३३

२३. जो कर्मेन्द्रियो को तो कर्म करने से रोक लेता है, किन्तु उनके विषयों का मन से स्मरण करता रहता है, उसका वह 'आचार' मिथ्याचार कहलाता है।

२४. तू शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म अवश्य कर, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना ही श्रेष्ठ है। बिना कर्म किए तो तेरी शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती।

२५ निःस्वार्थभाव से परस्पर एक दूसरे की उन्नति चाहने वाले, आदर सत्कार करने वाले हो परम कल्याण को प्राप्त होगे।

२६. जो यज्ञ से अर्थात् अपने न्याय-प्राप्त भोजन मे से दूसरो को यथोचित दान करने से अवशिष्ट (बचा हुआ) खाते है, वे श्रेष्ठपुरुष सब पापो से मुक्त हो जाते है। और जो केवल अपने लिए ही पकाते है,साथियो को दिए बिना अकेले ही खाते हैं, वे पापी लोग तो इस प्रकार कोरा पाप ही खाते है।

२७. अनासक्त रह कर कर्म करने वाला पुरुष परम पद को प्राप्त होता है।

२८. श्रेष्ठजन जो भी-जैसा भी आचरण करते है, इतर जन भी वैसा ही आचरण करते है। वे जिस बात को प्रामाणिक एवं उचित मानते है, दूसरे लोग उन्ही का अनुकरण करते है।

२९. जो मनुष्य कर्म मे अकर्म को और अकर्म मे कर्म को देखता है, वही मनुष्यों मे बुद्धिमान है, योगी है, और सब कुशल कर्मो का वास्तविक कर्ता है। [निष्काम कर्म वस्तुतः अकर्म ही है, सकाम अकर्म मूलतः कर्म ही है।]

३०. जिसके सभी विहित कर्तव्य कर्म काम-संकल्पो से रहित होते है, जिसके सभी सकाम कर्म ज्ञानाग्नि में जल गए है, उस महान् आत्मा को ज्ञानी जन भी पण्डित कहते है।

३१. जो यथालाभ-संतोषी है, जो शीतोष्ण आदि द्वन्द्वो से विचलित नही होता, जो मत्सररहित है, हर्ष-शोक से रहित होने के कारण जिसके लिए सफला-विफलता दोनो बराबर है, वह कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नही बँधता।

३२. हे अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञो से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है।

३३. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर् भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन !
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

—४,३७

३४. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

—४।३८

३५. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

—४।३९

३६. संशयात्मा विनश्यति ।

—४।४०

३७. न सुखं संशयात्मनः ।

—४।४०

३८. ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो ! सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥

—५।३

३९. न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

—५।१४

४०. अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।

—५।१५

४१. विद्या-विनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

—५।१८

४२. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

—५।१९

३३. हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि समिधाओं (लकड़ियो) को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि सभी कर्मो को भस्म कर डालती है।

३४. इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है।

३५. ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धावान् होना आवश्यक है और उसके साथ इन्द्रियसंयमी भी। ज्ञान प्राप्त होने पर शीघ्र ही शान्ति की प्राप्ति होती है।

३६. संशयात्मा (सन्देहशील) व्यक्ति नष्ट हो जाता है, अपने परमार्थ लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है।

३७. संशयालु को कभी सुख नहीं मिलता।

३८. हे महाबाहो अर्जुन ! जो पुरुष न किसी से द्वेष रखता है, और न किसी तरह की आकांक्षा रखता है, उसे नित्य संन्यासी ही समझना चाहिए। क्योंकि रागद्वेषादि द्वन्द्वों से रहित पुरुष ही सुखपूर्वक संसार-बन्धन से छूट सकता है।

३९. ईश्वर न तो संसार के कर्तव्य का रचयिता है, न कर्मों का रचयिता है, और न वह कर्मफल के संयोग की ही रचना करता है। यह सब तो प्रकृति का अपना स्वभाव ही वर्त रहा है।

४०. अज्ञान से ज्ञान ढका रहता है, इसी से सब अज्ञानी प्राणी मोह को प्राप्त होते है।

४१. जो तत्त्वज्ञानी हैं, वे विद्या एवं विनय से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल मे सर्वत्र समदर्शी ही होते हैं, भेदबुद्धि नही रखते।

४२. जिनका मन समभाव में स्थित है, उन्होंने यहां जीते-जी ही संसार को जीत लिया है।

४३. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

—६।५

४४. बन्धुरात्मा ऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

—६।६

४५. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

—६।१६

४६. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

—६।१७

४७. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

—६।२६

४८. आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यो ऽर्जुन !
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

—६।३२

४९. असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

—६।३५

५०. न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।

—६।४०

५१. अध्यात्मविद्या विद्यानाम् ।

—१०।३२

५२. निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव !

—११।५५

४३. अपने आप ही अपना उद्धार करो, अपने आप को नीचे न गिराओ, क्योंकि यह मनुष्य आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

४४. जिसने अपने आप से अपने आपको जीत लिया है, उसका अपना आत्मा ही अपना बन्धु है।

४५. हे अर्जुन ! जो बहुत अधिक खाता है या बिल्कुल नहीं खाता, जो बहुत सोता है या बिल्कुल नहीं सोता—सदा जागता रहता है, उसकी योग-साधना सिद्ध नहीं हो सकती।

४६. जिस का आहार-विहार ठीक (अति से रहित, यथोचित) है, जिसकी चेष्टाएँ—क्रियाएँ ठीक हैं, जिसका सोना-जागना ठीक है, उसी को यह दुःखनाशक योग सिद्ध होता है।

४७. अनन्त चैतन्य की व्यापक चेतना से युक्त योगी अपने आप को सब में तथा सब को अपने आप में देखता है, वह सर्वत्र समदर्शी होता है।

४८. हे अर्जुन ! अपने-जैसा ही सुख तथा दुःख को जो सब प्राणियों मे समान भाव से देखता है अर्थात् अपने समान ही दूसरों के सुख दुःख की अनुभूति करता है, वही परमयोगी माना जाता है।

४९ हे महाबाहो ! इस में सन्देह नही कि मन बड़ा चंचल है, इसका निग्रह कर सकना कठिन है। किन्तु हे कुन्तीपुत्र ! अभ्यास (एकाग्रता की सतत साधना) और वैराग्य (विषयों के प्रति विरक्ति) से यह वश में आ जाता है।

५०. हे तात ! शुभ कर्म करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नही होता।

५१. विद्याओं मे अध्यात्म विद्या ही सर्वश्रेष्ठ है।

५२. हे पाण्डव ! जो सभी प्राणियों के प्रति निर्वैर (वैर से रहित) मुझे प्राप्त कर सकता है।

५३. यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर् मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

—१२।१५

५४. निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्
गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

—१५।५

५५. न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम॥

—१५।६

५६. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

—१६।२१

५७. सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत!
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

—१७।३

५८. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

—१७।१५

५९. मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥

—१७।१६

६०. सत्कार-मान-पूजार्थं तपो दंभेन चैव तत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥

—१७।१८

६१. मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम्॥

—१७।१९

५३. जो न किसी दूसरे प्राणी को उद्विग्न करता है और न स्वयं ही किसी अन्य से उद्विग्न होता है, जो हर्ष-शोक से तथा भय और उद्वेग से मुक्त है, वह भक्त मुझ को प्रिय है।

५४. जिनका अहंकार तथा मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्ति को जीत लिया है, जो अध्यात्मभाव मे नित्य निरत है, जिन्होने काम भोगों को पूर्ण रूप से त्याग दिया है, जो सुख दुःख आदि के सभी द्वन्द्वों से मुक्त है, वे अभ्रान्त ज्ञानीजन अवश्य ही अव्यय–अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं।

५५. वहाँ न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रमा का और न अग्नि का, जहाँ जाने के बाद फिर लौटना नही होता है, वही मेरा परम धाम है।

५६. काम, क्रोध तथा लोभ–ये तीनो नरक के द्वार है तथा आत्मा का विनाश करने वाले हैं, इसलिए इन तीनो को छोड़ देना चाहिए।

५७. हे अर्जुन! जैसा व्यक्ति होता है, वैसी ही उसकी श्रद्धा होती है। पुरुष वस्तुतः श्रद्धामय है, जो जैसी श्रद्धा करता है, वह वही (वैसा ही) हो जाता है।

५८. उद्वेग (अशान्ति) न करने वाला, प्रिय, हितकारी यथार्थ सत्य भाषण और स्वाध्याय का अभ्यास—ये सब वाणी के तप कहे जाते है।

५९. मन की प्रसन्नता, सौम्य भाव, मौन, आत्म-निग्रह तथा शुद्ध भावना—ये सब 'मानस' तप कहे जाते हैं।

६०. जो तप सत्कार, मान, और पूजा के लिए तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिए पाखण्ड भाव से किया जाता है, वह अनिश्चित तथा अस्थिर तप होता है, उसे 'राजस' तप कहते है।

६१. जो तप मूढतापूर्वक हठ से तथा मन, वचन और शरीर को पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह 'तामस' तप कहा जाता है।

६२. दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्विक स्मृतम् ॥

—१७।२०

६३. यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥

—१७।२१

६४. अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम् ॥

—१७।२२

६५. अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

—१७।२८

६६. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

—१८।४५

६७. सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।

—१८।४८

६८. ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

—१८।५४

६९. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्-देशे ऽर्जुन तिष्ठति ।

—१८।६१

६२. जो दान कर्तव्य समझ कर एकमात्र 'दान के लिए दान' के भाव से ही दिया जाता है, तथा योग्य देश, काल तथा पात्र का विचार कर अनुपकारी (जिसने अपना कभी कोई उपकार न किया हो तथा भविष्य मे जिन से कभी उपकार की अपेक्षा न हो) को दिया जाता है, वह दान 'सात्विक दान' कहा जाता है ।

६३. जो दान क्लेशपूर्वक, बदले की आशा से, फल को दृष्टि मे रख कर दिया जाता है, वह दान 'राजस' दान कहलाता है ।

६४. जो दान विना सत्कार-सम्मान के अवज्ञापूर्वक, तथा विना देश काल का विचार किए कुपात्रों को दिया जाता है, वह दान 'तामस' दान कहलाता है ।

६५. हे अर्जुन ! विना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, एवं तपा हुआ तप, और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है, वह सब 'असत्' कहलाता है । वह न तो इस लोक मे लाभदायक होता है, न मरने के बाद परलोक मे ।

६६. अपने-अपने उचित कर्म मे लगे रहने से ही मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है ।

६७. सभी कर्मो मे कुछ-न-कुछ दोष उसी प्रकार लगा रहता है, जैसे अग्नि के साथ धुआं ।

६८. जो साधक ब्रह्मभूत—ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, वह सदा प्रसन्न रहता है। वह न कभी किसी तरह का सोच करता है, न आकांक्षा ।

६. हे अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में विराजता है ।

मनुस्मृति की सूक्तियां

१. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर् दानमेकं कलौ युगे ॥

—१।८६*

२. बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः ।

—१।९६

३. आचारः परमो धर्मः ।

—१।१०८

४. विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥

—२।१

५. संकल्पमूलः कामो वै ।

—२।३

६. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

—२।२०

---

*अंक क्रमशः अध्याय एवं श्लोक के सूचक है ।

मनुस्मृति की सूक्तियां

१. कृत युग में 'तप' मुख्य धर्म था, त्रेता में 'ज्ञान', द्वापर में यज्ञ और कलियुग में एकमात्र दान ही श्रेष्ठ धर्म है।

२. बुद्धिमानो में मनुष्य सब से श्रेष्ठ है।

३. आचार ही प्रथम एवं श्रेष्ठ धर्म है।

४. रागद्वेष से रहित ज्ञानी सत्पुरुषो द्वारा जो आचरित है, तथा अपने निःसंदिग्ध अन्तःकरण द्वारा अनुप्रेरित है, उसी को वास्तविक धर्म जानिए।

५. निश्चय ही काम का मूल संकल्प है।

६. इस आर्यदेश भारत मे जन्म लेने वाले अग्रजन्मा ब्राह्मण (सदाचारी विद्वान) के पास भूमण्डल के सभी मानव अपने-अपने योग्य चरित्र की शिक्षा ग्रहण करे।

७. नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् ।

—२।११०

८. अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि संप्रवर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

—२।१२१

९. वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद् यदुत्तरम् ॥

—२।१३६

१०. उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

—२।१४५

११. अज्ञो भवति वै बालः ।

—२।१५३

१२. न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलित शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥

—२।१५६

१३. अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।

—२।१५९

१४. वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ।

—२।१५९

१५. नारुन्तुदः स्यादार्तो ऽपि, न परद्रोहकर्मधीः ।

—२।१६१

१६. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।

—२।१६२

१७. अवमन्ता विनश्यति ।

—२।१६३

७. विना पूछे किसी के बीच मे व्यर्थ नही बोलना चाहिए ।

८. जो सदा वृद्धों (ज्ञानवृद्ध आदि गुरुजनो) का अभिवादन करता है तथा उनकी निकटता से सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल— ये चारो निरन्तर बढते रहते हैं ।

९. धन, बन्धु, आयु, कर्म एवं विद्या—ये पाँचो सम्मान के स्थान है । किंतु इनमे क्रमशः एक से दूसरा स्थान उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माना गया है ।

१०. दश उपाध्यायो से एक आचार्य महान है, सौ आचार्यो से एक पिता और हजार पिताओ से एक माता का गौरव अधिक है ।

११. वस्तुतः अज्ञ (मूर्ख) ही बाल है, अल्पवयस्क नही ।

१२. शिर के बाल पक जाने से ही कोई वृद्ध नही माना जाता है । जो युवावस्था मे भी विद्वान है उसे देवताओ ने स्थविर माना है ।

१३. अहिंसा की भावना से अनुप्राणित रहकर ही प्राणियों पर अनुशासन करना चाहिए ।

१४. धर्म की इच्छा करने वाले को चाहिए कि वह माधुर्य और स्नेह से युक्त वाणी का प्रयोग करे ।

१५. साधक को कोई कितना ही क्यों न कष्ट दे, किन्तु वह विरोधी की हृदयवेधक किसी गुप्त मर्म को प्रकट न करे, और न दूसरो के द्रोह का ही कभी विचार करे ।

१६. विद्वान् सम्मान को विष की तरह समझ कर सदा उससे डरता रहे ।

१७. अपमान करने वाला अपने पाप से स्वयं नष्ट हो जाता है ।

१८. परीवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।

—२।२०१

१९. बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।

—२।२१५

२०. आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥

—२।२२६

२१. अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।

—२।२३८

२२. विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥

—२।२३९

२३. अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ।

—४।३

२४. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ।

—३।५६

२५. शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

—३।५७

२६. धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वा ऽतिथिपूजनात् ।

—३।१०६

२७. सुखार्थी संयतो भवेत् ।

—४।१२

२८. यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥

—४।२०

२९. नाऽधार्मिके वसेद् ग्रामे ।

—४।६०

१८. गुरुजनो का परिवाद करने वाला मर कर गधा होता है और निन्दा करने वाला कुत्ता ।

१९. इन्द्रियसमूह बड़ा बलवान् होता है, अतः वह कभी-कभी विद्वान साधक को भी अपनी ओर खीच लेता है ।

२०. आचार्य ब्रह्मा की प्रतिकृति है, पिता प्रजापति की, माता पृथिवी की तथा भ्राता तो साक्षात् अपनी ही प्रतिकृति है ।

२१. चांडाल से भी श्रेष्ठ धर्म ग्रहण कर लेना चाहिए और योग्य स्त्री को नीच कुल से भी प्राप्त कर लेना चाहिए ।

२२. विष से भी अमृत, बालक से भी सुभाषित, शत्रु से भी श्रेष्ठचरित्र एवं अपवित्र स्थल से भी स्वर्ण ग्रहण कर लेना चाहिए ।

२३. अपने शरीर के स्वास्थ्य को क्षति न पहुँचाते हुए धन का अर्जन करना चाहिए ।

२४. जहाँ नारी की पूजा (सम्मान) होती है, वहाँ देवता (दिव्य ऋद्धि-सिद्धियां) निवास करते हैं ।

२५. जिस कुल मे अपमान आदि के कारण कुलवधुएं शोकाकुल रहती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

२६. अतिथिसत्कार से धन, यश, आयुष्य एवं स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।

२७. सुख की इच्छा रखने वाले को संयम से रहना चाहिए ।

२८. जैसे जैसे पुरुष शास्त्रो का गहरा अभ्यास करता जाता है, वैसे वैसे वह उनके रहस्यो को जानता जाता है और उसका ज्ञान उज्ज्वल एवं प्रकाशमान होता जाता है ।

२९. अधार्मिक ग्राम मे निवास नही करना चाहिए ।

३०. न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ।

—४।७०

३१. ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।

—४।६२

३२. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

—४।१३८

३३. शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित् सह ।

—४।१३९

३४. सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

—४।१६०

३५. सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।

—४।२३३

३६. योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥

—४।२३५

३७. तपः क्षरति विस्मयात्....दानं च परिकीर्तनात् ।

—४।२३६

३८. एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ।

—४।२५८

३९. यावन्ति पशुरोमाणि तावत् कृत्वेह मारणम् ।
वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥

—५।३८

४०. मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

—५।५५

३०. जो कर्म यूंही तिनके तोड़ने आदि के रूप में निष्फल अर्थात् उद्देश्यहीन हो, व्यर्थ हो, और जो भविष्य मे दुखःप्रद हो, वह कर्म कभी नही करना चाहिए।

३१. प्रातः काल ब्राह्ममुहूर्त में जाग कर धर्म और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए।

३२. सत्य और प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले, प्रिय भी यदि असत्य हो तो न बोले—यह सनातन (शाश्वत) धर्म है।

३३. शुष्क (निष्प्रयोजन) वैर और विवाद किसी के भी साथ नहीं करना चाहिए।

३४. "जो कर्म एवं बात पराधीन है, पराये वशमे है, वह सब दुःख है, और जो अपने अधीन है, अपने वश मे है, वह सब सुख है।" यह सुख दुःख का संक्षिप्त लक्षण है।

३५. सब दानो मे ज्ञान का दान ही श्रेष्ठ दान है।

३६. जो सत्कार-सम्मान के साथ दान देता है और जो सत्कार-सम्मान के साथ ही दान लेता है, दोनों ही स्वर्ग के अधिकारी है। इसके विपरीत जो अपमान के साथ दान देते और लेते है, वे मर कर नरक मे जाते हैं।

३७. अहंकार से तप क्षीण (नष्ट) हो जाता है, और इधर उधर कहने से दान क्षीण अर्थात् फलहीन हो जाता है।

३८. जो साधक निर्जन एकान्त प्रदेश मे एकाकी आत्मस्वरूप का चिन्तन करता है, वह परमश्रेय (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

३९. जो व्यक्ति निरर्थक (निरपराध) ही पशु की हत्या करता है, वह पशु के शरीर पर जितने रोम है, उतनी ही वार जन्म-जन्म मे प्रतिघात (मारण) को प्राप्त होता रहेगा, अर्थात् दूसरो के द्वारा मारा जाएगा।

४०. "मैं यहां पर जिसका मांस खाता हूँ, मुझको भी वह (मां—सः) पर लोक मे खायेगा।"—मनीषी विद्वान् मांस की यह मौलिक परिभापा (मांसत्व) वतलाते है।

४१. सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
यो ऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥

—५।१०६

४२. क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसः ।

—५।१०७

४३. अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

—५।१०६

४४. सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।

—५।१५०

४५. दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥

—६।४६

४६. नावमन्येत कञ्चन ।

—६।४७

४७. अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।

—६।५७

४८. इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्त्वाय कल्पते ॥

—६।६०

४६. न लिङ्गं धर्मकारणम् ।

—६।६६

५०. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।

—६।७४

४१. संसार के समस्त शौचों (शुद्धियों) मे अर्थशौच (न्याय से उपार्जित धन) ही श्रेष्ठ शौच (उत्कृष्ट शुद्धि) है। जो अर्थशौच से युक्त है, वही वस्तुतः शुद्ध हैं। मिट्टी और पानी की शुद्धि वस्तुतः कोई शुद्धि नहीं है।

४२. विद्वान् क्षमा से ही पवित्र-शुद्ध होते है।

४३. जल से शरीर शुद्ध होता है, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा तथा ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

४४. गृहवधू को सदा प्रसन्न एवं गृहकार्य मे दक्ष रहना चाहिए।

४५. दृष्टि से शोधन कर (छानकर) भूमि पर पैर रखना चाहिए, वस्त्र से शोधन कर जल पीना चाहिए, सत्य से शोधन कर वाणी बोलनी चाहिए तथा प्रत्येक कार्य को पहले मनन-चिन्तन से शोधन कर पश्चात् आचरण में लेना चाहिए।

४६. किसी का भी अपमान नहीं करना चाहिए।

४७. अलाभ (इच्छित वस्तु न मिलने पर) में शोकाकुल नही होना चाहिए और लाभ में अधिक फूल उठना नही चाहिए।

४८. इन्द्रियो के निग्रह से, रागद्वेष को विजय करने से और प्राणिमात्र के प्रति अहिंसक रहने से साधक अमृतत्व के योग्य होता है अर्थात् अमरता प्राप्त करता है।

४९. विभिन्न प्रकार की सांप्रदायिक वेश-भूषा धर्म का हेतु नहीं है।

५०. सम्यग्दर्शन (आत्मसाक्षात्कार) से सम्पन्न साधक कर्म से बद्ध नही होता।

५१ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

—६।९२

५२. दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।

—७।२२

५३. दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।

—७।१८

५४. जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ।

—७।४४

५५. व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।

—७।५३

५६. अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥

—७।९९

५७. बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।

—७।१०५

५८. तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ।

—७।१४०

५९. क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।

—७।१४४

६०. आपदर्थं धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।

—७।२१३

६१. आत्मानं सततं रक्षेत् ।

—७।२१३

६२. धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

—८।१५

५१. धैर्य, क्षमा, दम (मनःसंयम तथा तितिक्षा), अस्तेय, शौच (पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह, धी (तत्वज्ञान), विद्या (आत्मज्ञान), सत्य और अक्रोध–(क्रोध के हेतु होने पर भी क्रोध न करना)—ये दस धर्म के लक्षण है।

५२. मूलतः स्वभाव से विशुद्ध मनुष्य का मिलना कठिन है।

५३. दण्ड ही समग्र प्रजा का शासन एव संरक्षण करता है।

५४. जितेन्द्रिय शासक ही प्रजा को अपने वश में कर सकता है।

५५. दुर्व्यसन एवं मृत्यु–इन दोनो मे दुर्व्यसन ही अधिक कष्टप्रद है।

५६. अप्राप्त ऐश्वर्य को प्राप्त करने का संकल्प करे, प्राप्त ऐश्वर्य की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करे। सुरक्षित ऐश्वर्य को बढ़ाते रहे तथा बढे हुए ऐश्वर्य को धर्म एवं राष्ट्र के लिए उचित रूप से अर्पित करें।

५७. बगुले के समान एकाग्रता से अपने प्राप्तव्य लक्ष्य का चिन्तन करना चाहिए तथा सिह के समान साहस के साथ पराक्रम करना चाहिए।

५८. जो शासक आवश्यकतानुसार समय पर कठोर भी होता है एवं मृदु भी, वही सब को मान्य होता है।

५९. प्रजा का पालन करना ही क्षत्रिय का सब से बड़ा धर्म है।

६०. आपत्ति निवारण के लिए धन संगृहीत करके रखना चाहिए। धर्मपत्नी की रक्षा के लिए समय पर धन का मोह भी त्याग देना चाहिए।

६१. मनुष्य को अपने आत्म-गौरव एवं व्यक्तित्व की निरन्तर रक्षा करनी चाहिए।

६२. जो धर्म को नष्ट करता है, धर्म उसे नष्ट कर देता है, और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

६३. एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ।।

—८।१७

६४. आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्र-वक्त्र-विकारैश्च गृह्यते ऽन्तर्गतं मनः ।।

—८।२६

६५. सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।

—८।८३

६६. आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।

—८।८४

६७. न वृथा शपथं कुर्यात् ।

—८।१११

६८. यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।

—९।१३०

६९. राजा हि युगमुच्यते ।

—९।३०१

७०. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ।।

—१०।६३

७१. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।

—१०।६५

७२. स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।

—११।३२

७३. कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात् प्रमुच्यते ।

—११।२३०

७४. तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् ।

—११।२३५

६३. धर्म ही मनुष्य का एकमात्र वह सखा है, जो मृत्यु के बाद भी उसके साथ जाता है। अन्य सब कुछ तो शरीर के साथ यहाँ पर ही नष्ट हो जाता है।

६४. आकार (रोमाञ्चआदि) से, इंगित (इधर उधर देखने) से, गति, चेष्टा, वाणी एवं नेत्र और मुख के बदलते हुए भावों से, मन में रहे हुए विचारो का पता लग सकता है।

६५. सत्य से ही साक्षी (गवाह) पवित्र होता है। सत्य से ही धर्म की अभिवृद्धि होती है।

६६. कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय के लिए आत्मा ही आत्मा का साक्षी है, आत्मा ही आत्मा की गति है।

६७. हर किसी बात पर व्यर्थ ही शपथ नही खानी चाहिए।

६८. पिता के लिए पुत्र आत्म-तुल्य (अपने बराबर) होता है और पुत्री पुत्र-तुल्य (पुत्र के समान)।

६९. वस्तुतः राजा ही युग का निर्माता होता है।

७०. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शौच (पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह—संक्षेप में धर्म का यह स्वरूप चारो ही वर्णों के लिए मनु ने कथन किया है।

७१. अच्छे आचरण से शूद्र ब्राह्मण हो सकता है और बुरे आचरण से ब्राह्मण शूद्र !

७२. अपना वीर्य (सामर्थ्य) ही सब से श्रेष्ठ बल है।

७३. कृत पाप के लिए सच्चे मन से पश्चात्ताप कर लेने से प्राणी पाप से छूट जाता है।

७४. मनुष्यो और देवताओं के सभी सुखों का मूल तप है।

७५. ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।

—११।२३६

७६. यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥

—११।२३९

७७ सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतः ।

—१२।२६

७८. अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥

—१२।१०३

७९. आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।

—१२।११९

७५. ब्राह्मण का तप ज्ञान है, और क्षत्रिय का तप दुर्बल की रक्षा करना है।

७६. जो दुस्तर है, दुष्प्राप्य है (कठिनता से प्राप्त होने जैसा है), दुर्गम है, और दुष्कर है, वह सब तप से साधा जा सकता है। साधना क्षेत्र में तप एक दुर्लंघन शक्ति है, अर्थात् तप से सभी कठिनताओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

७७. ज्ञान सत्व गुण है, रागद्वेष रजोगुण है और अज्ञान तमोगुण है।

७८. अज्ञानी मूर्ख से शास्त्र पढने वाला श्रेष्ठ है, पढने वाले से शास्त्र को स्मृति मे धारण करने वाला, धारण करने वाले से शास्त्र के मर्म को समझने वाला ज्ञानी, और ज्ञानी से भी उस पर आचरण करनेवाला श्रेष्ठ है।

७९. आत्मा सर्वदेव स्वरूप है अर्थात् सभी दिव्य-शक्तियों का केन्द्र है। आत्मा मे ही सब कुछ अवस्थित है।

७५. ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्त्रस्य रक्षणम् ।

—११।२३६

७६. यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥

—११।२३८

७७. सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतः ।

—१२।२६

७८. अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥

—१२।१०३

७९. आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।

—१२।११९

५. ब्राह्मण का तप ज्ञान है, और क्षत्रिय का तप दुर्बल की रक्षा करना है ।

६. जो दुस्तर है, दुष्प्राप्य है (कठिनता से प्राप्त होने जैसा है), दुर्गम है, और दुष्कर है, वह सब तप से साधा जा सकता है । साधना क्षेत्र मे तप एक दुर्लंघन शक्ति है, अर्थात् तप से सभी कठिनताओ पर विजय प्राप्त की जा सकती है ।

७७. ज्ञान सत्त्व गुण है, रागद्वेष रजोगुण है और अज्ञान तमोगुण है ।

७८. अज्ञानी मूर्ख से शास्त्र पढने वाला श्रेष्ठ है, पढने वाले से शास्त्र को स्मृति मे धारण करने वाला, धारण करने वाले से शास्त्र के मर्म को समझने वाला ज्ञानी, और ज्ञानी से भी उस पर आचरण करनेवाला श्रेष्ठ है ।

७९. आत्मा सर्वदेव स्वरूप है अर्थात् सभी दिव्य-शक्तियों का केन्द्र है । आत्मा मे ही सब कुछ अवस्थित है ।

सूक्ति कण

१. न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ।

—ऋग्वेद १।४१।९

२. सत्यं ततान सूर्यः ।

—१।१०५।१२

३. उदीर्ध्व जीवो असुर्न आगादप,
प्रागात् तम आ ज्योतिरेति ।

—१।११३।१६

४. ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।

—४।२३।८

५. निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु ।

—५।२।६

६. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति,
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ।

—८।२।१८

७. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिंल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते ।।

—९।११३।७

सूक्ति कण

१. कभी किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए।

२. सूर्य (तेजस्वी आत्मा) ही सत्य का प्रसार कर सकता है।

३. मनुष्यो, उठो। जीवनशक्ति का स्रोत प्राण सक्रिय हो गया है। अन्धकार चला गया है, आलोक आ गया है।

४. सत्य की बुद्धि पापों को नष्ट कर डालती है।

५. निन्दक लोग आखिर स्वयं ही निन्दित हो जाते है।

६. देवता सोम छानने वाले पुरुषार्थी को चाहते है, सोते रहने वाले आलसी को नही। आलस्य से मुक्त कर्मठ व्यक्ति ही जीवन का वास्तविक प्रमोद-आनन्द प्राप्त करते हैं।

७. जहाँ ज्योति निरन्तर रहती है, और जिस लोक मे सुख निरन्तर स्थित है, उस पवित्र, अमृत, अक्षुण्ण लोक मे मुझे स्थापित कीजिए।

८. अपानक्षासो बधिरा अहासत ।
ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ।।

—६।७३।६

९. मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत ।

—१०।१८।२

१०. प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय ।

—१०।१८।३

११. आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु ।

—१०।१२८।४

१२. उत देवा अवहित देवा उन्नयथा पुनः ।

—१०।१३७।१

१३. भद्रं वैवस्वते चक्षुः ।

—१०।१६४।२

१४. मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ।

अथर्ववेद १।१२

१५. विद्वानुदयनं पथः ।

—५।३०।७

१६. अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।

—५।३७।१७

१७. अहमस्मि यशस्तमः ।

—६।५८।३

१८. आरभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिम् ।

—७।२।१

१९. मधु जनिषीय मधु वंशिषीय ।

—६।१।१४

८. अन्धे और बहरे अर्थात् सत्य के दर्शन एवं श्रवण से रहित व्यक्ति ज्योति-पथ से भ्रष्ट हो जाते है। दुष्कर्मी व्यक्ति सत्य के मार्ग को पार (तय) नही कर सकते।

९. आओ, मौत के निशान को मिटाते हुए आओ।

१०. आओ, आगे बढें, नाचें और हँसें।

११. मेरे मन की भावना पूर्ण हो।

१२. हे दिव्य आत्माओ ! क्या हुआ यदि यह नीचे गिर गया है, तुम इसे फिर ऊँचा उठाओ, उन्नत करो।

१३. भलाई, मानो, सूर्य की आँख है।

१४. मेरा शास्त्राध्यन मुझ मे खूब गहराई से प्रतिष्ठित होता रहे।

१५. अभ्युदय के मार्ग को पहचानने वाले बनो।

१६. यह लोक देवताओं को भी प्रिय है। यहाँ पराजय का क्या काम ?

१७. मैं (आत्मा) सब से बढ़ कर महिमा वाला हूँ।

१८. यह (जीवन) अमृत की लडी है। इसे अच्छी तरह मजबूती से पकड़े रखो।

१९. मैं मधु (मिठास) को पैदा करूँ, मैं मधु को आगे बढाऊँ।

२०. यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि ।

—१२।१।५८

२१. सर्वमेव शमस्तु नः ।

—१६।६।२

२२. अयुतो ऽहं सर्वः ।

—१६।५१।१

२३. श्येन एव भूत्वा सुवर्गं लोकं पतति ।

—तैत्तिरीय संहिता ५।४।११।१

२४. सर्वस्य वा अहं मित्रमस्मि ।

—६।४।८।१

२५. अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।

—अध्यात्मोपनिषद् ११

२६. वासनाप्रक्षयो मोक्षः ।

—१२

२७. फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित् ।

—४६

२८. भारो विवेकिनः शास्त्रं, भारो ज्ञानं च रागिणः ।
अशान्तस्य मनो भारं, भारो ऽनात्मविदो वपुः ॥

—महोपनिषद् ३।१५

२९. पदं करोत्यलङ्घ्ये ऽपि तृप्ता ऽपि फलमीहते ।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥

—३।२३

३०. देहो ऽहमिति संकल्पो महत्संसार उच्यते ।

—तेजोबिन्दूपनिषद् ५।६

३१. मन एव जगत्सर्वम्।

—५।९८

३२. देहस्य पंच दोषा भवन्ति, काम-क्रोध-निःश्वास-भय-निद्राः।
तन्निरासस्तु निःसंकल्प-क्षमा-लघ्वाहारा ऽप्रमादता-
तत्त्वसेवनम्।

—मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् १।२

३३. येनासनं विजितं जगत्त्रयं तेन विजितम्।

—शाण्डिल्योपनिषद् ३।१२

३४. प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा।

—नारदपरिव्राजकोपनिषद् ५।३०

३५. द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।

—पैङ्गल उपनिषद् ४।२५

३६. गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता।
क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा॥

—ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १९

३७. घृतमिव पयसि निगूढं,
भूते भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं,
मनसा मन्थानभूतेन॥

—२०

३८. अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते ?

—याज्ञवल्क्योपनिषद् २९

३९. न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति।

—अन्नपूर्णोपनिषद् ४।७९

४०. अन्तः सर्वपरित्यागी बहिः कुरु यथा ऽगतम्।

—५।११६

३१. मन ही समग्र जगत् है।

३२. काम, क्रोध, श्वास, भय और निद्रा—ये शरीर के पांच दोष हैं। संकल्परहितता, क्षमा, अल्पाहार, अप्रमत्तता और तत्वचिन्तन—ये उक्त दोषो को दूर करने के उपाय है।

३३. जिसने आसन जीत लिया, उसने तीनों लोक जीत लिए।

३४. साधक के लिए प्रतिष्ठा सूकर के मल के समान है।

३५. बन्ध और मोक्ष के कारण दो ही पद हैं—'मम'—'मेरापन' बन्ध का कारण है, और 'निर्मम'—'मेरा कुछ नहीं'—यह मोक्ष का कारण है।

३६. जिस प्रकार अलग-अलग रंग-रूप वालो गायो का दूध एक ही रंग का सफेद होता है, उसी प्रकार विभिन्न वेश एवं क्रिया काण्ड वाले संप्रदायों का तत्वज्ञान दूध के समान एक जैसा ही कल्याणकारी होता है।

३७. जिस तरह दूध में घृत (घी) निहित होता है, उसी तरह हर एक प्राणी के अन्दर चिन्मय ब्रह्म स्थित है। जिस तरह दूध को मथने से घी प्राप्त किया जाता है, वैसे ही मनन-चिन्तन रूप मथानी से मन्थन कर चिन्मय (ज्ञान स्वरूप) ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है।

३८. यदि तू अपकार करने वाले पर क्रोध करता है, तो क्रोध पर ही क्रोध क्यो नही करता, जो सब से अधि अपकार करने वाला है।

३९. जब तक वासना क्षीण नहीं होती, तब तक चित्त शान्त नहीं हो सकता।

४० अन्दर में सब का परित्याग करके बाहर मे जैसा उचित समझे, वैसा कर।

४१. स्वस्वरूपं स्वय भुंक्ते, नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः ।

—पाशुपत उपनिषद् ४३

४२. यतो धर्मस्ततो जयः ।

—महाभारत शल्यपर्व ६३।६२

४३. ना ऽसाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीक्ष्णतरो मृदुः ।

—म० भा० शान्तिपर्व १४०।६७

४४. दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू ।

—१४०।६८

४५. मृत्युना ऽभ्याहतो लोको जरया परिवारितः ।

—२७७।९

४६. उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः ।
चण्डालत्वे ऽपि मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम् ॥

—२९७।३१

४७. वेदस्योपनिषत् सत्यं, सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम् ॥

—२९९।१३

४८. वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं,
विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णांस्
तं मन्ये ऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥

—२९९।१४

४९. गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि,
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ।

—२९९।२०

५०. चत्वारि यस्य द्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमाः ।
उपस्थमुदरं हस्तौ वाक् चतुर्थी स धर्मवित् ॥

—२९९।२८

४१. ब्रह्म अपने स्वस्वरूप का ही स्वयं उपभोग करता है, उसका भोज्य उससे पृथक् कुछ नही है ।

४२. जिस पक्ष में धर्म होता है, उसी पक्ष की विजय होती है ।

४३. कोमल उपाय से कुछ भी असाध्य नही है, अतः कोमल ही सब से अधिक तीक्ष्ण माना गया है ।

४४. बुद्धिमान की भुजाएँ बहुत बड़ी (लम्बी) होती है, (अतः वह दूर के कार्यों का भी सरलता से सम्पादन कर सकता है) ।

४५. मृत्यु सारे जगत को सब ओर मार रही है, बुढापे ने इसे घेर रखा है ।

४६. उपभोग के साधनों से वंचित होने पर भी मनुष्य अपने आप को हीन न समझे । चाण्डाल की योनि में भी यदि मनुष्य जन्म प्राप्त हो, तो भी वह मानवेतर प्राणियों की अपेक्षा सर्वथा उत्तम है ।

४७. वेदों के अध्ययन का सार है सत्यभाषण, सत्यभाषण का सार है इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-संयम का सार (फल) है मोक्ष। यही सम्पूर्ण धर्मों, ऋषियों, एवं शास्त्रोंका उपदेश है ।

४८. जो वाणी का वेग, मन और क्रोध का वेग, तृष्णा का वेग तथा उदर और जननेन्द्रिय का वेग—इन सब प्रचण्ड वेगो को सह लेता है, उसी को मैं ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) और मुनि (तत्त्वद्रष्टा) मानता हूँ ।

४९. तुम लोगो को मैं एक बहुत गुप्त बात बता रहा हूँ, सुनो, मनुष्य से बढ़ कर और कुछ भी श्रेष्ठ नही है ।

५०. हे देवोत्तमो ! जिस पुरुष के उपस्थ(जननेन्द्रिय), उदर, दोनों हाथ और वाणी—ये चारो द्वार सुरक्षित होते हैं, वही धर्मज्ञ है ।

५१. मनुष्य जैसे लोगों के साथ रहता है, जैसे मनुष्यो की उपासना करता है, और जैसा होना चाहता है, वैसा ही होजाता है।

५२. ज्ञानी बहुतो के साथ रह कर भी मौन रहता है, ज्ञानी अकेला, दुर्बल होने पर भी बलवान है।

जरूरतमन्द को स्वयं पास जाकर देना उत्तम दान है, बुला कर देना मध्यम है, माँगने पर देना अधम है, और सेवा करा कर देना तो सर्वथा निष्फल एवं व्यर्थ है।

५४. पाप कर्म हो जाने पर उसे छुपाना नही चाहिए, अपितु ज्ञानी के समक्ष आलोचना कर के प्रायश्चित्त लेना चाहिए, क्योकि छुपा हुआ पाप अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है, घटता नहीं है।

५५. ब्राह्मण (विद्वान्) युग के अनुरूप होते है, अर्थात् युगानुकूल आचरण करते हैं।

५६. अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), शौच (मानसिक पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया, दम (संयम) और क्षमा—ये जाति एवं वर्ण के भेद भाव के विना सभी के लिए धर्म के साधन हैं।

५७. न केवल विद्या से और न केवल तप से पवित्रता प्राप्त होती है। जिसमे विद्या और तप दोनो ही हों, वही पात्र कहलाता है।

५८. यम यम नही है, आत्मा ही वस्तुतः यम है। जिसने अपनी आत्मा को संयमित कर लिया है, उस का यम (यमराज) क्या करेगा?

५९. सम्मान से तप का क्षय हो जाता है।

०. जो परस्त्रियों को माता के समान, परधन को लोष्ट (ढेले) के समान, और सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखता है, वस्तुतः वही द्रष्टा है, देखने वाला है।

६१. आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।

६२. योग, तप, दम, दान, सत्य, शौच, दया, श्रुत, विद्या, विज्ञान और आस्तिक्य—ये ब्राह्मण के लक्षण है।

६३. दीर्घ काल तक वैर भाव रखना, असत्य, व्यभिचार, पैशुन्य (चुगली), निर्दयता—ये शूद्र के लक्षण हैं।

६४. माता के समान कोई देव नही है, पिता के समान कोई गुरु (शिक्षक) नहीं है।

६५. पति ही स्त्री का एकमात्र गुरु है, और अतिथि सब का गुरु है।

६६. जो दिया जाता है, और खा लिया जाता है, वही धन है।

६७. हितकारी प्रिय वचन बोलने वाला ही श्रेष्ठ वक्ता है, सम्मानपूर्वक देने वाला ही श्रेष्ठ दाता है।

६८. बिना अभ्यास (स्वाध्याय) के शास्त्र विष हो जाता है, और अभ्यास करने पर वही अमृत बन जाता है।

६९. ज्ञानयुक्त कर्म से ही मनुष्य स्थितप्रज्ञ होता है।

आप्त (यथार्थ ज्ञाता द्रष्टा और यथार्थ प्रवक्ता) के उपदेश को शब्द प्रमाण कहते है।

१. इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान—ये आत्मा के ज्ञापक लिंग (लक्षण) हैं।

चेष्टा (क्रिया), इन्द्रिय और अर्थ (सुख-दुःखादि) का आश्रय शरीर है।

७३. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।

—१।१।१६

७४. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।

—१।१।२२

७५. समानप्रसवात्मिका जातिः ।

—२।२।७१

७६. वीतरागजन्मादर्शनात् ।

—३।१।२४

७७. तेषां मोहः पापीयान्, नामूढस्येतरोत्पत्तेः ।

—४।१।६

७८. दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहंकारनिवृत्तिः ।

—४।२।१

७९. दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ।

—४।२।२

८०. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

वैशेषिक दर्शन १।१।२

८१. कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ।

—२।१।२४

८२. दुष्टं हिंसायाम् ।

—६।१।७

८३. सुखाद् रागः ।

—६।२।१०

८४. असङ्गोऽयं पुरुषः ।

—सांख्यदर्शन १।१५

७३. श्रोत्र आदि इन्द्रियो के द्वारा शब्द आदि विषयों का ज्ञान युगपद् (एक समय मे एक साथ) नही होता, इस पर से मन का इन्द्रियों से पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है।

७४. दुःख से सदा के लिए छुटकारा पा जाने को अपवर्ग (मोक्ष) कहते है।

७५. विभिन्न व्यक्तियो मे समान बुद्धि पैदा करने वाली जाति है।

७६. वीतराग के जन्म का अदर्शन है, अर्थात् रागद्वेष से रहित वीतराग आत्माओ का पुनर्जन्म नही होता।

७७. रागद्वेष की अपेक्षा मोह (मिथ्या ज्ञान, विचिकित्सा) अधिक अनर्थ का मूल है, क्योकि अमूढ (मोहरहित) आत्मा को रागद्वेष नही होता।

७८. दोष के निमित्त रूपादि विषयो के तत्त्वज्ञान (बन्धहेतुरूप वास्तविक स्वरूप के दर्शन) से अहंकार निवृत्त हो जाता है।

७९. संकल्पकृत ही रूपादि विषय दोषों के निमित्त (कारण) होते हैं।

८०. जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस् (आध्यात्मिक विकास, मुक्ति) की प्राप्ति हो, वह धर्म है।

८१. कारण के गुणो के अनुसार ही कार्य के गुण देखे जाते हैं।

८२. हिंसा के कारण अच्छा-से-अच्छा साधक भी दुष्ट (मलिन) हो जाता है।

८३. सुखोपभोग से उत्तरोत्तर सुख एवं सुख के साधनो के प्रति राग उत्पन्न होता है।

८४. यह पुरुष (आत्मा) मूलतः असग है, निर्लिप्त है।

८५. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।

—१।६१

८६. नाऽवस्तुनो वस्तुसिद्धिः ।

—१।७८

८७. नाऽसदुत्पादो नृश्रृंगवत् ।

—१।११४

८८. नाशः कारणलयः ।

—१।१२१

८९. शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ।

—१।१३९

९०. नाऽन्धाऽदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ।

—१।१५६

९१. उभयात्मकं मनः ।

—२।२६

९२. ज्ञानान्मुक्तिः ।

—३।२३

९३. बन्धो विपर्ययात् ।

—३।२४

९४. रागोपहतिर्ध्यानम् ।

—३।३०

९५. ध्यानं निर्विषयं मनः ।

—६।२५

९६. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

—योगदर्शन १।२

९७ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

१।३

८५. सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनो गुणो की साम्य अवस्था (समान स्थिति) का नाम प्रकृति है।

८६. अवस्तु—अभाव से वस्तुसिद्धि (भाव की उत्पत्ति) नही हो सकती।

८७. जो नरशृंग (मनुष्य के सिरपर सींग) की तरह असत् है, उस की उत्पत्ति नही होती।

८८. नाश का अर्थ है—कार्य का अपने उपादान कारण मे लय हो जाना।

८९. पुरुष (चैतन्य, आत्मा) शरीर आदि जड पदार्थों से सर्वतोभावेन पृथक् है।

९०. अन्धा मनुष्य देख नहीं पाता, इस तर्क पर से चक्षुष्मान् (सुआंखा) के दर्शन का अपलाप नही किया जा सकता।

९१. मन उभयात्मक है, अर्थात् श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रिय और हस्तपादादि कर्मेन्द्रिय—दोनो इन्द्रियो का संचालक है।

९२. ज्ञान से ही मुक्ति होती है।

९३. विपर्यय (अज्ञान, विपरीत ज्ञान) ही बन्ध का कारण है।

९४. विषयो के प्रति होने वाले राग भाव को दूर करने वाला एक मात्र ध्यान है।

९५. मन का विषयशून्य हो जाना ही—ध्यान है।

९६. चित्त की वृत्तियो का निरोध ही—योग है।

९७. चित्त वृत्तियो का निरोध होने पर द्रष्टा (आत्मा) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

९८. अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

१।१२

९९. क्लेश-कर्म-विपाकाऽऽशयैरपरामृष्टः पुरुष-विशेष ईश्वरः ।

—१।२४

१००. मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

—१।३३

१०१. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।

—२।१

१०२. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य-शुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या ।

—२।५

१०३. सुखानुशयी रागः ।

—२।७

१०४. दुःखानुशयी द्वेषः ।

—२।८

१०५. हेयं दुःखमनागतम् ।

—२।१६

१०६. अहिंसा-सत्याऽस्तेय-ब्रह्मचर्या ऽपरिग्रहा यमाः ।

—२।३०

१०७. जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्[1] ।

—२।३१

---

१. सभी धार्मिक व्यक्ति अहिंसा आदि का कुछ न कुछ अंशतः आचरण करते हैं, परन्तु योगी इनका पूर्ण रूप से आचरण करते हैं ।

अमुक जाति के जीवों की हिंसा करूँगा, अन्य की नहीं, यह जाति से अवच्छिन्न-सीमित अहिंसा है। इसी प्रकार तीर्थ में हिंसा न करना, देशावच्छिन्न

९८. अभ्यास (निरन्तर की साधना) और वैराग्य (विषयों के प्रति विरक्ति) के द्वारा चित्तवृत्तियो का निरोध होता है।

९९. अविद्या आदि क्लेश, शुभाशुभरूप कर्म, कर्मो का विपाक (फल) और आशय (विपाकानुरूप वासना)—इन सब के स्पर्श से रहित पुरुषविशेष ही ईश्वर है।

१००. सुखी, दुःखी, पुण्यवान् तथा अपुण्यवान् (पापात्मा) प्राणियों के प्रति यथाक्रम मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा की भावना करने पर चित्त प्रसन्न (निर्मल) होता है।

१०१. तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान (निष्काम भाव से ईश्वर की भक्ति, तल्लीनता)—यह तीन प्रकार का क्रियायोग है—अर्थात् कर्मप्रधान योगसाधना है।

१०२. अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म (जड) विषयो मे नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मस्वरूपता की ख्याति (प्रतीति) ही अविद्या (अज्ञान) है।

१०३. सुखानुशयी क्लेशवृत्ति राग है—अर्थात् सुख तथा सुख के साधनो मे आसक्ति, तृष्णा या लोभ का होना राग है।

१०४. दुःखानुशयी क्लेशवृत्ति द्वेष है—अर्थात् दुःख तथा दुःख के साधनो के प्रति क्षोभ एवं क्रोध का होना द्वेष है।

१०५. वस्तुतः अनागत (भविष्य मे होने वाला) दुःख ही हेय होता है।

१०६. अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच यम हैं।

१०७. जाति, देश, काल और समय से अनवच्छिन्न अर्थात् जाति आदि की सीमा से रहित सार्वभौम (सदा और सर्वत्र) होने पर ये ही अहिंसा आदि महाव्रत हो जाते हैं।

---

*हिंसा है। चतुर्दशी आदि पर्व तिथि में हिंसा न करना, कालावच्छिन्न अहिंसा है। युद्ध मे ही हिंसा करना, अन्यत्र नहीं; यह क्षत्रियों की समयावच्छिन्न अर्थात् स्वोचित कर्तव्य की दृष्टि से सीमित अहिंसा है।

१०८. शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

—२।३२

१०९. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

—२।३५

११०. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

—२।३६

१११. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

—२।३८

११२. सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।

—२।४२

११३. आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि।

—वेदान्तदर्शन २।१।२८

११४. नासतो ऽदृष्टत्वात्।

—२।२।२६

११५. अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्।

—३।४।५०

११६. न प्रतीके न हि सः।

—४।१।४

११७. यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्।

—४।१।११

११८. भोगेनत्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते।

—४।१।१९

१०८. शौच (देहशुद्धि एव चित्तशुद्धि), सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान—ये पांच नियम हैं।

१०९. अहिंसा की प्रतिष्ठा (पूर्ण स्थिति) होने पर उस के सान्निध्य मे सब प्राणी निर्वैर हो जाते है।

११०. सत्य की प्रतिष्ठा होने पर सत्यवादी का वचन क्रियाफलाश्रयत्वगुण से युक्त हो जाता है—अर्थात् सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति के वचन अमोघ होते हैं।

१११. ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर वीर्य (शक्ति, बल) का लाभ होता है।

११२. सन्तोष से अनुत्तम (सर्वोत्तम) सुख का लाभ होता है।

११३. आत्मा मे एक-से-एक विचित्र सृष्टियां हैं।

११४. असत् से कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती, क्यों कि ऐसा कभी कही देखा नही गया है।

११५. साधक अपने गुणो का बखान न करता हुआ बालक की भांति दंभ एवं अभिमान से मुक्त रहे, क्योकि निर्दम्भता एवं सरलभावना का ही ब्रह्म-विद्या से सम्बन्ध है।

११६. किसी बाह्य प्रतीक विशेष मे आत्म-भाव नही करना चाहिए, क्योकि वह प्रतीक वस्तुतः अपना अन्तरात्मा नही है।

११७. जहां भी चित्त की एकाग्रता सुगमता से हो सके, वही बैठ कर ध्यान का अभ्यास करना ठीक है, साधना के लिए किसी विशेष स्थान या दिशा आदि की कोई प्रतिबद्धता नही है।

११८. (संचित कर्म ज्ञान से भस्म हो जाते है, निष्काम भाव से कर्म करने के कारण क्रियमाण कर्मो का बन्ध नही होता) शेष शुभाशुभरूप प्रारब्ध कर्मों को उपभोग के द्वारा क्षय करके ज्ञानी साधक परमपद (ब्रह्मत्व भाव) को प्राप्त हो जाता है।

११९. चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।

—४।४।६

१२० उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥

योगवाशिष्ठ, वैराग्यप्रकरण १।७

१२१. कार्यमण्वपि काले तु कृतमेत्युपकारताम् ।
महानप्युपकारो ऽपि रिक्ततामेत्यकालतः ॥

—७।२६

१२२. श्वश्रद्रुमा अद्यतना नराश्च ।

—२७।३८

१२३. द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ परस्परम् ।
य एव बलवांस्तत्र स एव जयति क्षणात् ॥

योग० मुमुक्षुप्रकरण ६।१०

१२४. प्राक्तनं पौरुषं तद् वै दैवशब्देन कथ्यते ।

—६।३५

१२५. शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥

—६।३०

१२६. आपतन्ति प्रतिपदं यथाकालं दहन्ति च ।
दुःखचिन्ता नरं मूढं तृणमग्निशिखा इव ॥

—११।४०

१२७. मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥

—११।५९

११९. मुक्तात्मा केवल अपने चैतन्यमात्र स्वरूप मे स्थित रहता है, क्योंकि उसका वास्तविक स्वरूप वैसा ही है—ऐसा आचार्य औडुलोमि कहते हैं।

१२०. जैसे आकाश मे दोनों ही परों से पक्षी उड़ते हैं, एक से नही, वैसे ही साधक को ज्ञान और कर्म दोनों से परम पद की प्राप्ति होती है।

१२१. समय पर थोड़ा भी कार्य किया जाए तो वह वहुत अधिक उपकारक होता है। असमय में वड़ा से वड़ा उपकार भी निष्फल चला जाता है।

१२२. आजकल के मनुष्य गड्ढे के वृक्षों के समान हैं। (जिस प्रकार गहरे अन्धगर्त के वृक्ष की छाया, पत्र, पुष्प, फल आदि किसी के भी उपभोग में न आने से व्यर्थ हैं, उसी प्रकार पामर मनुष्यों के विद्या, धन सम्पत्ति आदि भी किसी का उपकार न करने के कारण व्यर्थ हैं।)

१२३. पूर्वजन्म के और इस जन्म के कर्म (पुरुषार्थ) दो मेढ़ो की भाँति परस्पर लड़ते हैं, उनमे जो वलवान् होता है, वही दूसरे को क्षण भर मे पछाड़ देता है।

१२४. पूर्वजन्म का पौरुष ही यहाँ इस जन्म मे व्यक्ति का दैव कहलाता है।

१२५. शुभ और अशुभ मार्ग से वह रही वासनारूपी नदी को अपने पुरुषार्थ के द्वारा अशुभ मार्ग से हटाकर शुभ मार्ग में लगाना चाहिए।

१२६. अग्नि की ज्वालाएँ जैसे तृण (घास-फूस) को जला डालती हैं, वैसे ही मूढ पुरुष को पद-पद पर दुःख चिन्ताएँ प्राप्त होती हैं, और उसे जला डालती हैं।

१२७. मोक्षद्वार के चार द्वारपाल वतलाए हैं—शम, विचार, सन्तोष और चौथा सज्जनसंगम।

१२८. विवेकान्धो हि जात्यन्धः।

—१४।४१

१२९. वरं कर्दमभेकत्वं, मलकीटकता वरम् ।
वरमन्धगुहाऽहित्वं, न नरस्या ऽविचारिता ॥

—१४।४६

१३०. आपत्संपदिवाऽऽभाति विद्वज्जनसमागमे ।

—१६।३

१३१. चित्तमेव नरो नाऽन्यद् ।

—योग० उपशमप्रकरण ४।२०

१३२. कृष्यन्ते पशवो रज्ज्वा मनसा मूढचेतसः ।

—१४।३९

१३३. कर्ता बहिरकर्ता ऽन्तर्लोके विहर राघव !

—१८।२३

१३४. न मौर्ख्यादधिको लोके कश्चिदस्तीह दुःखदः ।

—२९।५७

१३५. अहमर्थो जगद्बीजम् ।

योग० निर्वाण प्रकरण, उत्तरार्ध ४।३६

१३६. यन्नास्ति तत्तु नास्त्येव ।

—१६।१९

१३७. अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम् ।

—२१।१

१३८. अपुनर्जन्मने यः स्याद् बोधः स ज्ञानशब्दभाक् ।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥

—२२।४

१२८. जो पुरुष विवेकान्ध है, विवेकरूपी नेत्रों से हीन है, वह जन्मान्ध है।

१२९. कीचड़ में मेढक बनना अच्छा है, विष्ठा का कीड़ा बनना अच्छा है और अँधेरी गुफा में सांप होना भी अच्छा है, पर, मनुष्य का अविचारी होना अच्छा नहीं है।

१३०. विद्वान् पुरुषों का समागम होने पर आपत्ति भी संपत्ति की तरह मालूम होती है।

१३१ चित्त ही नर है, चित्त से अतिरिक्त नर अर्थात् मनुष्य कुछ नहीं है।

१३२. पशु रस्सी से खीचे जाते हैं और मूढ मनुष्य मन से खींचे जाते हैं।

१३३. (महर्षि वशिष्ठ ने रामचन्द्रजी से कहा—) हे राघव ! बाहर मे कर्ता और भीतर मे अकर्ता रहकर आप लोक मे विचरण कीजिए।

१३४. मूर्खता से बढकर अन्य कोई संसार मे दुःख देने वाला नहीं है।

१३५. अहंकार ही इस संसार का बीज है।

१३६. जो नहीं है, वह सदा और सर्वथा नही ही है। अर्थात् असत् कभी सत् नही हो सकता।

१३७. (महर्षि वशिष्ठ ने रामचन्द्रजी से कहा है—) मैं अज्ञानी को अच्छा समझता हूँ, परन्तु ज्ञानबन्धुता[1] को अच्छा नही समझता।

१३८. जो बोध पुनर्जन्म से मुक्त होने के लिए है, वस्तुतः वही ज्ञान कहलाने के योग्य है। इस के अतिरिक्त जो शब्दज्ञान का चातुर्य है, वह केवल अन्न वस्त्र प्रदान करनेवाली एक शिल्पजीविका (कारीगर एवं मजदूर का धंधा) है, और कुछ नहीं।

---

१. ज्ञान योग के बहाने सत्कर्मों को त्यागकर विषयभोग में लिप्त रहने वाला व्यक्ति ज्ञानबन्धु कहलाता है।

१३९ प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः ।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥

—२२।५

१४०. द्विविधो भवति प्रष्टा तत्त्वज्ञो ऽज्ञो ऽथवा ऽपि च ।
अज्ञस्याऽज्ञतया देयो ज्ञस्य तु ज्ञतयोत्तरः ॥

—२९।३२

१४१. नाकलङ्का च वागस्ति ।

—२९।३७

१४२. यन्मयो हि भवत्यङ्ग पुरुषो वक्ति तादृशम् ।

—२९।३७

१४३. हता नीरसनाथा स्त्री हता ऽसंस्कारिणी च धीः ।

—६५।५

१४४. सा स्त्री या ऽनुगता भर्त्रा सा श्रीर्या ऽनुगता सता ।
सा धीर्या मधुरोदारा साधुता समदृष्टिता ॥

—६५।६

१४५. अन्यस्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ।

—६७।२८

१४६. विषाण्यमृततां यान्ति सन्तताभ्यासयोगतः ।

—६७।३३

१४७. यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
सो ऽवश्यं तमवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥

—१०३।२२

१४८. पाण्डित्यं नाम तन्मौर्ख्यं यत्र नास्ति वितृष्णता ।

—१९४।३४

१४९. न तदस्तीह यत् त्याज्यं ज्ञस्योद्वेगकरं भवेत् ।

—१९९।३

१३६. जो व्यक्ति प्रारब्ध के प्रवाह में आए हुए कार्यों के लिए काम-संकल्प को छोड़कर सदा तत्पर रहता है, एवं आकाश के समान जिस का हृदय आवरणशून्य प्रकाशमान रहता है, वही पण्डित कहा जाता है।

१४०. प्रश्नकर्त्ता दो तरह के होते हैं—एक तो तत्त्वज्ञ (ज्ञानी) और दूसरे अज्ञानी। अज्ञानी प्रश्नकर्ता को अज्ञानी बनकर उत्तर देना होता है और ज्ञानी को ज्ञानी बनकर।

१४१. कोई भी वाणी निष्कलंक नहीं होती।

१४२. वक्ता जिस तरह का होता है, वह उसी तरह का कथन करता है।

१४३. जिस का पति नीरस (स्नेहशून्य) हो, उस स्त्री को विनष्ट ही समझना चाहिए। और जो बुद्धि संस्कारयुक्त न हो, वह भी नष्ट ही समझनी चाहिए।

१४४. वही स्त्री, स्त्री है जो पति से अनुगत हो, वही श्री, श्री है जो सज्जनों से अनुगत हो, वही बुद्धि, बुद्धि है जो मधुर एवं उदार हो, तथा वही साधुता साधुता है जो समदृष्टि से युक्त हो।

१४५. किसी को नीम अच्छा लगता है तो किसी को मधु। (अपनी अपनी रुचि है, अपना अपना अभ्यास है।)

१४६. निरन्तर के (औषधिनिमित्तक) अभ्यास से विष भी अमृत बन जाता है।

१४७. जो जिस वस्तु को चाहता है, उसके लिए यत्न करता है। और यदि थक कर बीच मे ही अपना विचार न बदल दे तो उसे अवश्य प्राप्त भी कर लेता है।

१४८. वह विद्वत्ता केवल मूर्खता ही है, जिसमें विषयभोगों के प्रति वितृष्णता (विरक्ति) नही है।

१४६. जो ज्ञानी को उद्विग्न करने वाली हो, ऐसी कोई हेय वस्तु संसार में कही भी नही है।

१५०. भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ।

श्रीमद् भागवत ३।२९।२३

१५१. तुलयाम लवेनाऽपि न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

—४।३०।३४

१५२. तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या क्रिया ऽऽकृतिः ।

—६।४।४६

१५३. न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतो हि भिषक्तमः ।

—६।९।५०

१५४. यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

—७।१४।८

१५५. मृगोष्ट्रखरमर्काखु—सरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ?

—७।१४।९

१५६. त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि ।
यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम् ॥

७।१४।१०

१५७. स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये ।

—७।१५।१४

१५८. सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ।
शर्करा-कण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥

—७।१५।१७

१५०. जो अन्य प्राणियो के साथ वैरभाव रखता है, उसके मन को कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

१५१. भगवद् भक्तों के क्षणभर के संग के सामने हम स्वर्ग और मोक्ष को भी कुछ नहीं समझते, फिर मानवीय भोगों की तो बात ही क्या ?

१५२. (भगवान् विष्णु ने दक्ष प्रजापति से कहा-) ब्रह्मन् ! तप मेरा हृदय है, विद्या शरीर है और कर्म आकृति है।

१५३. रोगी के चाहने पर भी सद्वैद्य उसे कुपथ्य नही देता।

१५४. (नारद जी ने युधिष्ठिर से कहा-) मनुष्यों का अधिकार केवल उतने ही धन पर है, जितने से उदरपूर्ति की जासके, भूख मिट सके। जो इस से अधिक सम्पत्ति को अपनी मानता है, अपने अधिकार में रखता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिए।

१५५. हरिन, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, सरीसृप (रेंग कर चलने वाले प्राणी सर्प आदि), पक्षी और मक्खी आदि को अपने पुत्र के समान ही समझना चाहिए। सही दृष्टि से देखा जाए तो उन मे और पुत्रों में अन्तर ही कितना है ?

१५६. गृहस्थ को धर्म, अर्थ, काम-रूप त्रिवर्ग के लिए बहुत अधिक कष्ट नही करना चाहिए, अपितु देश, काल और प्रारब्ध के अनुसार जितना सध सके, प्राप्त हो सके, उसी में सन्तोष करना चाहिए।

१५७. अपने-अपने स्वभाव एवं योग्यता के अनुकूल किया जाने वाला धर्म, भला किसे शान्ति नही देता ?

१५८. जैसे पैरो मे जूता पहन कर चलने वाले को कंकड़ और कांटो से कोई कष्ट नही होता, सुख ही होता है, वैसे ही जिसके मन में सन्तोष है, उस को सर्वदा और सब कही सुख-ही-सुख है, दुःख कहीं है ही नही।

१५६. न ह्यसत्यात् परोऽधर्म, इति होवाच भूरियम् ।
सर्वं सोढुमलं मन्ये, ऋतेऽलीकपरं नरम् ॥

—८।२०।४

१६०. साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।

—६।४।६८

१६१. न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्पराम्,
अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम्,
अन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥

—६।२१।१२

१६२. श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ।

—१०।४।४१

१६३. हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः,
साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते ।

—१०।८।३१

१६४. न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ।

—१०।२४।४

१६५. कर्मैव गुरुरीश्वरः ।

—१०।२४।१७

१६६. अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ।

—१०।२४।१८

१६७. रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः ।
प्रजास्तैरेव सिद्ध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ?

—१०।२४।२३

१६८. किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः ।
किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् ॥

—१०।७२।१६

१५९. पृथ्वी ने कहा है कि असत्य से बढ़ कर कोई अधर्म नहीं है। मैं सब कुछ सहने मे समर्थ हूँ, परन्तु झूठे मनुष्य का भार मुझ से नहीं सहा जाता।

१६०. (भगवान् विष्णु ने दुर्वासा ऋषि से कहा—) साधुजन मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी साधुजनों का हृदय मैं स्वयं हूँ।

१६१. (राजा रन्तिदेव ने पीडित एवं बुभुक्षित प्रजा के कल्याण की कामना करते हुए कहा था—) मैं भगवान् से अष्ट सिद्धियों से युक्त स्वर्ग की श्रेष्ठ गति नहीं चाहता। और तो क्या, मैं मोक्ष की कामना भी नहीं करता। मैं तो केवल यही चाहता हूँ, कि मैं विश्व के समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित हो जाऊँ और उनका सारा-का सारा दुःख मैं ही सहन करलूँ, ताकि अन्य किसी भी प्राणी को दुःख न हो।

१६२. श्रद्धा, दया, तितिक्षा एव क्रतु—सत्कर्म भगवान् हरि के शरीर हैं साक्षात्।

१६३. हिंसक दुष्ट व्यक्ति को उसके स्वयं के पाप ही नष्ट कर डालते हैं, साधु पुरुष अपनी समता से ही सब खतरों से बच जाता है।

१६४. जो संत पुरुष सब को अपनी आत्मा के समान मानता है, उसके पास छिपाने जैसी कोई भी बात नहीं होती।

१६५. (श्री कृष्ण ने इन्द्र की पूजा करने के लिए तत्पर नन्द जी को कहा-) मनुष्य के लिए उसका अपना कर्म ही गुरु है, और ईश्वर है।

१६६. पिताजी! जिस के द्वारा मनुष्य की जीविका सुगमता से चलती है, वही उसका इष्ट देवता होता है।

१६७. प्रकृति के रजोगुण से प्रेरित होकर मेघगण सब कही जल बरसाते हैं। उसी से अन्न आदि उत्पन्न होते है और उन्ही अन्न आदि से सब जीवों की जीविका चलती है। इस मे भला इन्द्र का क्या लेना-देना है?

१६८. सहनशील तितिक्षु पुरुष क्या नहीं सह सकते? दुष्ट पुरुष बुरा-से-बुरा क्या नहीं कर सकते? और समदर्शी के लिए पराया कौन है?

१६९. आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठः ।

—१०।८०।४०

१७०. जितं सर्वं जिते रसे ।

—११।८।२१

१७१. यत्र यत्र मनो देही, धारयेत् सकलं धिया ।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वा ऽपि, याति तत्तत्स्वरूपताम् ॥

—११।९।२२

१७२. बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ।

—११।१८।२२

१७३. दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ॥

—११।१९।३७

१७४. दक्षिणा ज्ञानसन्देशः ।

—११।१९।३९

१७५. दुःखं कामसुखापेक्षा, पण्डितो बन्धमोक्षवित् ।

—११।१९।४१

१७६. स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ।

—११।१९।४२

१७७. नरकस्तमउन्नाहः ।

—११।१९।४३

१७८. दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो यो ऽजितेन्द्रियः ।

—११।१९।४४

१७९. यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।

—११।२१।१८

१६९. सभी प्राणियों को अपना आप (अपना जीवन एवं शरीर) सब से अधिक प्रिय होता है।

१७०. एक रस के जीत लेने पर सब कुछ जीता जा सकता है। अर्थात् यदि एक रसनेन्द्रिय को वश में कर लिया, तो मानो सभी इन्द्रियाँ वश मे हो गयीं।

१७१. कोई भी व्यक्ति स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से अपने मन को पूर्ण बुद्धि के साथ जहाँ भी कहीं केन्द्रित कर लेता है, तो उसे उसी वस्तु का स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

१७२. इन्द्रियों का विषयों के लिए विक्षिप्त होना—चंचल होना बन्धन है और उनको संयम मे रखना ही मोक्ष है।

१७३. किसी से द्रोह न करना, सब को अभय देना दान है। कामनाओ का त्याग करना ही तप है। अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त करना ही शूरता है। सर्वत्र समत्व का दर्शन ही सत्य है।

१७४. ज्ञान का उपदेश देना ही दक्षिणा है।

१७५. विषय भोगों की कामना ही दुःख है। जो बन्धन और मोक्ष का तत्व जानता है, वही पण्डित है।

१७६. सत्वगुण की वृद्धि ही स्वर्ग है।

१७७. तमोगुण की वृद्धि ही नरक है।

१७८. जिसके मन में असन्तोष है, अभाव का ही द्वन्द्व है, वही दरिद्र है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही कृपण है।

१७९. जिन-जिन दोषो से मनुष्य का चित्त उपरत होता है, उन सब के बन्धन से वह मुक्त हो जाता है।

१८०. गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

विष्णु पुराण २।३।२४

१८१. वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च ।
कोपाय च यतस्तस्माद् वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः ॥

—२।६।४५

१८२. मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः ।

—२।६।४७

१८३. समत्वमाराधनमच्युतस्य ।

—३।७।२०

१८४. परदार-परद्रव्य-परहिंसासु यो रतिम् ।
न करोति पुमान् भूप ! तोष्यते तेन केशवः ॥

—३।८।१४

१८५. अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै सुकृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

—३।११।६१

१८६. असंस्कृतान्नभुङ् मूत्रं, बालादिप्रथमं शकृत् ।

—३।११।७१

१८७. अदत्त्वा विषमश्नुते ।

—३।११।७२

१८८. योषितः साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः ?

—६।२।८

१८९. यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन यत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ ॥

—६।२।१५

१८०. स्वर्ग मे देवगण भी निरन्तर यही गान करते रहते हैं कि जो स्वर्ग, एवं अपवर्ग (मोक्ष) के मार्गस्वरूप भारतवर्ष मे देवभव से पुनः मानवभव में जन्म लेते है, वे धन्य है। (अथवा-जो भारत मे मानव-जन्म लेते है, वे पुरुष हम देवताओ की अपेक्षा भी अधिक धन्य हैं, बड़भागी हैं।)

१८१. एक ही वस्तु सुख और दुःख तथा ईर्ष्या और कोप का कारण हो जाती है, तो उसमें वस्तु का अपना मूल वस्तुत्व (नियत स्वभाव) ही कहाँ है ?

१८२. सुख-दुःख वस्तुतः मन के ही विकार हैं।

१८३. समत्व-भावना ही विष्णु भगवान की आराधना है, पूजा है।

१८४. हे राजन् ! जो पुरुष दूसरों की स्त्री, धन और हिंसा में रुचि नही रखता है, उससे भगवान् विष्णु सदा ही सन्तुष्ट (प्रसन्न) रहते हैं।

१८५. जिसके घर से अतिथि निराश होकर लौट जाता है, उसे वह अपने पाप देकर उसके शुभ कर्मों को ले जाता है।

१८६. संस्कारहीन अन्न खानेवाला मूत्रपान करता है, तथा जो बालक-वृद्ध आदि से पहले खाता है, वह विष्ठाहारी है।

१८७. विना दान किये खाने वाला विषभोजी है।

१८८. (महर्षि व्यास ने कहा है-) स्त्रियाँ ही साधु हैं, वे ही धन्य हैं, उनसे अधिक धन्य और कौन है ?

१८९. तप, ब्रह्मचर्य आदि की साधना के द्वारा जो फल सत्ययुग मे दस वर्ष में मिलता है, वह त्रेता मे एक वर्ष, द्वापर मे एक मास और कलियुग में केवल एक दिन रात मे ही प्राप्त हो जाता है।

१९०. अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या चाऽस्वे स्वमिति वा मतिः।
संसारतरुसम्भूतिबीजमेतद् द्विधा मतम् ॥

—६।७।११

१९१. स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमुपाधित्रितयं चितेः।
एतैर्विशिष्टो जीवः स्याद् वियुक्तः परमेश्वरः ॥

अध्यात्मरामायण, अयोध्या काण्ड १।२३

१९२. अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः।
उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः,
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते ॥

—३।६१

१९३. देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाऽहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते ॥

—४।३३

१९४. अविद्या संसृतेर्हेतुर् विद्या तस्या निवर्तिका।

—४।३४

१९५. सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाऽभिमानः,
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

—६।६

१९६. न मे भोगागमे वाञ्छा न मे भोगविवर्जने।
आगच्छत्वथमागच्छत्वभोगवशगो भवेत् ॥

—६।८

१९७. सुखमध्ये स्थितं दुखं दुःखमध्ये स्थितं सुखम्।
द्वयमन्योऽन्यसंयुक्तं प्रोच्यते जलपङ्कवत् ॥

—६।१४

१९०. संसार-वृक्ष की बीजभूता यह अविद्या (अज्ञान) दो प्रकार की है—अनात्मा (आत्मा से भिन्न शरीर आदि जड़ पदार्थ) में आत्मबुद्धि और जो अ-स्व है, शरीर आदि पर पदार्थ अपना नहीं है, उसे 'स्व' अर्थात् अपना मानना ।

१९१. शुद्ध चेतन की स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन उपाधियाँ है । इन उपाधियों से युक्त होने से वह जीव कहलाता है और इनसे रहित होने से परमेश्वर कहा जाता है ।

१९२. (राम ने कैकेयी से कहा) जो पुत्र पिता की आज्ञा के बिना ही उनका अभीष्ट कार्य करता है, वह उत्तम है । जो पिता के कहने पर करता है, वह मध्यम होता है और जो कहने पर भी नहीं करता है, वह पुत्र तो विष्ठा के समान है ।

१९३. 'मैं देह हूँ'—इस बुद्धि का नाम ही अविद्या है । और 'मै देह नहीं, चेतन आत्मा हूँ'—इसी बुद्धि को विद्या कहते हैं ।

१९४. अविद्या जन्म-मरणरूप संसार का कारण है, और विद्या उसको निवृत्त अर्थात् दूर करने वाली है ।

१९५. (वनवास के लिए कैकेयी को दोषी ठहराने वाले निषादराज गुह को दिया गया लक्ष्मण जी का उपदेश) सुख और दुःख का देने वाला कोई और नहीं है । कोई अन्य सुख दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है । 'मैं ही करता हूँ'—यह मनुष्य का वृथा अभिमान है । क्योकि संसार के सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों की डोरी में बँधे हुए हैं ।

१९६. हमें न तो भोगों की प्राप्ति की इच्छा है और न उन्हें त्यागने की । भोग आएँ या न आएँ, हम भोगों के अधीन नहीं हैं ।

१९७. सुख के भीतर दुःख और दुःख के भीतर सुख सर्वदा वर्तमान रहता है, ये दोनो ही जल और कीचड के समान परस्पर मिले हुए रहते हैं ।

१६८. सर्वं ब्रह्मैव मे भाति क्व मित्रं क्व च मे रिपुः ।

अ० रा० किष्किन्धा काण्ड १।८८

१६६. योगिनो नहि दुःखं वा सुखं वाऽज्ञानसम्भवम् ।

—६।४६

२००. अद्यैव कुरु यच्छ्रेयः मा त्वां कालोऽत्यगान् महान् ।

महाभारत, शान्ति पर्व १५६।१

२०१. सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वेदत् ।

—३२६।१३

२०२. धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।

म० भा० कर्ण पर्व ६६।५६

२०३. न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।

म० भा० अनुशासन पर्व ११३।८

२०४. शत्रोरपि गुणा ग्राह्या दोषा वाच्या गुरोरपि ।

म० भा० विराट पर्व ५१।१५

२०५. श्वघ्नी कितवो भवति ।

—निरुक्त ५।४

२०६. भूतं सिद्धं, भव्यं साध्यम्, भूतं भव्यायोपदिश्यते, न भव्यं भूताय ।

यजुर्वेदीय उव्वट भाष्य १।१

२०७. न हि स्वयमप्रतिष्ठितोऽन्यस्य प्रतिष्ठां कर्तुं समर्थः ।

—१।१७

२०८. संस्कारोज्ज्वलनार्थं हितं च पथ्यं च पुनः पुनरुपदिश्यमानं न दोषाय भवति ।

—१।२१

२०६. वीरस्य कर्म वीर्यम् ।

—२।८

१९८. मुझे सब कुछ ब्रह्मरूप ही भासता है, अतः संसार में मेरा कौन मित्र है और कौन शत्रु ? कोई नहीं।

१९९. आत्मज्ञानी योगी को किसी प्रकार का अज्ञानजन्य सुख दुःख नहीं होता, मात्र प्रारब्ध कर्म-जन्य ही सुख दुःख होता है।

२००. जो भी अच्छा काम करना है, वह आज ही कर लो, यह बहुमूल्य समय व्यर्थ न जाने दो।

२०१. सत्य बोलना अच्छा है, और सत्य से भी अच्छा है—हितकारी बात बोलना।

२०२. धारण करने के कारण ही धर्म 'धर्म' कहलाता है, धर्म प्रजा को धारण करता है।

२०३. जो व्यवहार अपने साथ किए जाने पर प्रतिकूल मालूम देता हो, वह दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए।

२०४. शत्रु के भी गुण ग्रहण करने चाहिएँ और गुरु के भी दोष बताने में संकोच नहीं करना चाहिए।

२०५. जुआरी श्वघ्नी होता है, क्योंकि वह अपने ही 'स्व' अर्थात् ऐश्वर्य का नाश करता है।

२०६. भूत सिद्ध है, और भविष्य साध्य है। भविष्य के लिए भूत का उपदेश किया जाता है, भूत के लिए भविष्य का नही।

२०७. जो स्वयं अप्रतिष्ठित है, वह दूसरो को प्रतिष्ठित नहीं कर सकता।

२०८. संस्कारो को उद्दीप्त करने के लिए हित और पथ्य का बार-बार उपदेश देने में कोई दोष नहीं है।

२०९. वीर पुरुष का कर्म ही वीर्य है।

२१०. भार्यापुत्रपौत्रादयो गृहा उच्यन्ते।

—२।३२

२११. कालातिक्रमो हि प्रत्यग्रं कार्यरसं पिबति।

—३।२३

२१२. वाचाभिरतीतानागतवर्तमानविप्रकृष्टं ज्ञायते।

—४।२३

२१३. अनपराधी हि न बिभेति।

—६।१७

२१४. न ह्यदेवो देवान् तर्प्पयितुमलम्।

—७।१

२१५. आत्मैषां रथो भवति, आत्माऽश्वः, आत्माऽऽयुधम्।

—८।५३

२१६. मनसा हि मुक्तेः पन्था उपलभ्यते।

—११।३४

२१७. मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वती।

१३।३५

२१८. मनस्तावत् सर्वशास्त्रपरिज्ञानं कूप इवोत्स्यन्दति।

—१३।३५

२१९. योह्यन्तान् पाति स मध्यं पात्येव।

—१७।६०

२२०. अश्लीलभाषणेन हि दुर्गन्धीनि मुखानि भवन्ति, पाप हेतुत्वात्।

—२३।३२

२२१. द्यूतादागतं कर्मण्यं न भवति।

—३४।२६

२१०. भार्या, पुत्र, पौत्र आदि ही गृह कहलाते हैं।

२११. काल का अतिक्रमण अर्थात् विलम्ब कार्य के ताजा रस को पी जाता है—नष्ट कर देता है।

२१२. वाणी के द्वारा ही अतीत, अनागत, और वर्तमान के दूरस्थ रहस्यों का ज्ञान होता है।

२१३. जो अपराधी नहीं है, वह कभी डरता नही।

२१४. जो स्वयं देव नहीं है, वह कभी देवों को तृप्त (प्रसन्न) नही कर सकता।

२१५. अपने विकारों से युद्ध करने वाले साधको का आत्मा ही रथ है, और आत्मा ही अश्व है, आत्मा ही आयुध—शस्त्रास्त्र है।

११६. मन से ही मुक्ति का मार्ग प्राप्त होता है।

२१७. मन ज्ञान का सागर है, वाणी ज्ञान की सरिता है।

२१८. मनन सब शास्त्रो के परिज्ञान को कूप के समान उत्स्यन्दित (ऊपर की ओर प्रवाहित) करता है।

२१९. जो अन्तिम की रक्षा करता है, वह अवश्य ही मध्य की भी रक्षा करता है।

२२०. पाप का हेतु होने के कारण अश्लील भाषण से प्रवक्ता का मुख दुर्गन्धित हो जाता है।

२२१. जुए से प्राप्त धन सत्कर्म के विनियोग में उपयुक्त नहीं होता।

२२२. मित्रो हि सर्वस्यैव मित्रम् ।

—३८।२२

२२३. निस्पृहस्य योगे अधिकारः।

—४०।१

२२४. यथा स्वर्ग प्राप्तौ नानाभूताः प्रकाराः सन्ति, न तथा मुक्तौ।

—४०।२

२२५. आत्मानं च ते घ्नन्ति, ये स्वर्गप्राप्तिहेतूनि कर्माणि कुर्वन्ति ।

—४०।३

२२६. आत्मसंस्कारकं तु कर्म ब्रह्मभावजनकं स्यात् ।

—४०।८

२२७. यो हि ज्ञाता स एव सः ।

केन उपनिषद्, शांकर भाष्य १।३

२२८. सत्यमिति अमायिता, अकौटिल्यं वाङ्मनः कायानाम् ।

—४।८

२२९ न तु शास्त्रं भृत्यान्निव बलात् निवर्तयति नियोजयति वा ।

बृहदारण्यक उपनिषद्, शांकर भाष्य २।१।२०

२३०. बद्धस्य हि बन्धनाशायोपदेशः ।

—२।१।२०

२३१. एतदात्मविज्ञानं पाण्डित्यम् ।

—३।५।१

२३२. सर्व प्राणिषु प्रतिदेहं देवासुरसंग्रामो ऽनादिकालप्रवृत्तः ।

छांदोग्य उपनिषद्, शांकर भाष्य १।२।१

२३३. तृष्णा च दुःखबीजम् ।

—७।२३।१

२३४. क्रुद्धो हि संमूढः सन् गुरुं आक्रोशति ।

—गीता, शांकर भाष्य २।६३

२३५ तावदेव हि पुरुषो यावदन्तःकरणं तदीयं कार्याकार्यविषय-
विवेकयोग्यम् ।

—२।६३

२३६. इन्द्रियाणां विषयसेवातृष्णातो निवृत्तिः या तत् सुखम् ।

—२।६६

२३७. सम्यग्दर्शनात् क्षिप्रं मोक्षो भवति ।

—४।३६

२३८. दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ।।

—विवेकचूडामणि (शंकराचार्य) ३

२३९. चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः ।।

—११

२४०. ऋणमोचनकर्त्तारः पितुः सन्ति सुतादयः ।
बन्धमोचनकर्त्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन ।।

—५३

२४१. शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ।

—६२

२४२. न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः ।
विना परोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ।।

—६४

२४३. मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते,
वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु ।

—७१

२४४. शब्दादिभिः पंचभिरेव पंच
पंचत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः ।
कुरंग-मातंग-पतग-मीन-
भृंगा नरः पंचभिरंचितः किम् ?

—७८

२३५. मनुष्य तभी तक मनुष्य है, जब तक उस का अन्तःकरण कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक कर सकता है।

२३६. विषय-सेवन की तृष्णा (लालसा) से इन्द्रियो का निवृत्त हो जाना ही वास्तविक सुख है।

२३७. यथार्थज्ञान प्राप्त होने पर 'शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है—अर्थात् सम्यग् ज्ञान हो जाने पर मोक्ष दूर नहीं है।

२३८. मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व (मुक्त होने की इच्छा), और महान् पुरुषों का संग-ये तीनों भगवत्कृपा से प्राप्त होने वाली बड़ी ही दुर्लभ वस्तु हैं।

२३९. कर्म चित्त की शुद्धि के लिए ही है, वस्तूपलब्धि (तत्त्वदृष्टि) के लिए नहीं, वस्तु-सिद्धि तो विचार से ही होती है, करोड़ों कर्मों से कुछ भी नहीं हो सकता।

२४०. पिता के ऋण को चुकाने वाले तो पुत्रादि भी हो सकते हैं, परन्तु भव-बन्धन से छुड़ाने वाला अपने से भिन्न और कोई नहीं है।

२४१. शास्त्रों का शब्द-जाल तो चित्त को भटकानेवाला एक महान् वन है।

२४२. औषध को विना पिये केवल औषध शब्द के उच्चारण मात्र से रोग नहीं जाता, इसी प्रकार अपरोक्षानुभव (प्रत्यक्ष आत्मानुभूति) के विना केवल 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कहने से कोई मुक्त नहीं हो सकता।

२४३. संसार की अनित्य क्षणभंगुर वस्तुओं में अत्यन्त वैराग्य का हो जाना ही मोक्ष का प्रथम हेतु है।

२४४. अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शब्दादि पांच विषयों में से केवल एक-एक से बंधे हुए हरिण, हाथी, पतंग, मछली और भौंरे जब मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तो फिर इन पांचों से जकड़ा हुआ मनुष्य कैसे बच सकता है?

२४५. जाति-नीति-कुल-गोत्रदूरगं,
नाम-रूप-गुण-दोषवर्जितम् ॥
देश-काल-विषयातिवर्ति यद्,
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥

—२५५

२४६. लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनया ऽपि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥

—२७२

२४७. वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ।

—३१८

२४८. योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधो ऽपरिग्रहः ।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता ॥

—३६८

२४९. स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः ।

—३८९

२५०. अतीताननुसन्धानं भविष्यदविचारणम् ।
औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥

—४३१

२५१. अजातस्य कुतो नाशः ?

—४६२

२५२. सन्तु विकाराः प्रकृतेर्,
दशधा शतधा सहस्रधा वा ऽपि ।
किं मेऽसङ्गचितेस्तैर्,
न घनः क्वचिदम्बरं स्पृशति ॥ —५१२

२५३. देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः ।
अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥

—५५९

२५४. निर्द्वन्द्वो निःस्पृहो भूत्वा विचरस्व यथासुखम् ।

—तत्त्वोपदेश (शंकराचार्य) ७९

२५५. विद्या ऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत् ।

—आत्मबोध (शंकराचार्य) ५

२५६. शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते । —१२

२५७. न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मप्रकाशने ।

—२६

२५८. विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरतिर्हि सा ।
सहनं सर्वदुःखानां तितिक्षा सा शुभा मता ॥

—अपरोक्षानुभूति (शंकराचार्य) ७

२५९. बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत् । —आश्वलायनीय गृह्यसूत्र १।५।२

२६०. अश्मा भव, परशुर्भव ।

—१।१५।३

२६१. मम हृदये हृदयं ते अस्तु, मम चित्ते चित्तमस्तु ते ।

—बोधायन गृह्यसूत्र १।४।१

२६२. महत्संगस्तु दुर्लभो ऽमोघश्च ।

—नारद भक्ति सूत्र ३९

२६३. तरंगायिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ति ।

—४५

२६४. कस्तरति कस्तरति मायाम् ?
यः संगांस्त्यजति, यो महानुभावं सेवते, यो निर्ममो भवति ।

—४६

२६५. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् । मूकास्वादनवत् ।

—५१-५२

२६६. तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि,
सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि । —६९

२६७. नास्ति तेपु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादिभेदः ।

—७२

२६८. वादो नावलम्ब्यः ।

—७४

२५६. शरीर सुख-दुःखों के भोग का स्थान है।

२५७. जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश के लिए दूसरे दीपों की अपेक्षा नही करता है, उसी प्रकार आत्मा को अपने ज्ञान के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नही होती है।

२५८. चित्त का समस्त विषयों से विमुख हो जाना ही परम उपरति (वैराग्य) है, और सभी आने वाले दुःखों को समभाव से सहन करना तितिक्षा है।

२५९. बुद्धिमान् वर के साथ ही कन्या का विवाह करना चाहिए।

२६०. पत्थर बनो, परशु (कुल्हाड़ा) बनो ! अर्थात् पर्वत की चट्टान की तरह दृढ़ और परशु की तरह अन्याय-अत्याचार को खण्ड-खण्ड करने वाले बनो।

२६१. (आचार्य ब्रह्मचारी शिष्य को सम्बोधित करता है—) मेरे हृदय में तेरा हृदय हो, मेरे चित्त (चिन्तन) में तेरा चित्त हो।

२६२. महापुरुषों का समागम प्राप्त होना दुर्लभ है, प्राप्त होने पर आत्म-सात् होना कठिन है, यदि एक वार आत्मसात् हो जाता है, तो वह फिर व्यर्थ नही जाता, निष्फल नहीं होता।

२६३. चित्त में काम, क्रोध आदि की तरंगें कितनी ही छोटी हों, दुःसंग से बढ़ते-बढ़ते एक दिन ये समुद्र बन जाते हैं।

२६४. माया को कौन पार करता है ? कौन पार करता है ?
जो सभी प्रकार की आसक्तियों को त्यागता है, जो अपने महान् गुरुजनों की सेवा करता है, जो निर्मम (ममतारहित) होता है।

२६५. गूंगे के रसास्वादन की तरह प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है।

२६६. सच्चे भगवद्भक्त तीर्थों को तीर्थत्व, कर्मों को सुकर्मत्व एवं शास्त्रों को सच्छास्त्रत्व प्रदान करते हैं।

२६७. सच्चे भगवद्भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन एवं क्रिया (आचार व्यवहार) आदि के कारण कोई भेद (द्वैत, ऊँचे नीचे का भाव) नही होता है।

२६८. भगवद्भक्त को वाद (किसी से कलह, कहासुनी, अथवा धार्मिक एवं साम्प्रदायिक वाद-विवाद) नही करना चाहिए।

परिशिष्ट (१)

सूक्ति त्रिवेणी

जैन धारा की विषयानुक्रमणिका

—: जैनधारा के अन्तर्गत विषयों का अकारादि क्रम :—

अचौर्य
अनासक्ति
अपरिग्रह
अप्रमाद
अभय
अभिमान
अहिंसा
अज्ञान
आत्म-दर्शन
आत्म विजय
आत्म-स्वरूप
उद्बोधन
उत्सर्ग-अपवाद
क्रान्तवाणी
कर्म-अकर्म
कषाय
काम
चतुर्भंगी
तत्वदर्शन
तप
तितिक्षा
धर्म
पंचामृत
प्रश्नोत्तर
पाप-पुण्य
ब्रह्मचर्य
भाव
मनोबल
माया
मानव-जीवन
मुक्ति
मोह
राग-द्वेष
लोभ
वाणी-विवेक
विनय
वीतराग
वैराग्य
सत्य
सत्संग
सदुपदेश
सद्व्यवहार
सदाचार
समभाव
सरलता
सम्यग्दर्शन
संयम
साधक जीवन
साधना पथ
सामाजिक चेतना
श्रद्धा
स्वाध्याय
श्रमण
श्रमणोपासक
ज्ञान

जैन धारा की विषयानुक्रमणिका

---

१. सर्वत्र प्रथम अंक पृष्ठ का सूचक है, एवं अगला अंक सूक्ति-संख्या का।

कपाय

काम (इन्द्रिय-विषय)

चतुर्भंगी

तत्वदर्शन

तप

तितिक्षा

धर्म

पचामृत

प्रश्नोत्तर

पाप-पुण्य

ब्रह्मचर्य

भाव

मनोबल

माया

मानव जीवन

मुक्ति

मोह

राग-द्वेष

लोभ

वाणी-विवेक

विनय

वीतराग

वैराग्य

सत्य

सत्संग

सदुपदेश

सद्व्यवहार

सदाचार

समभाव

सरलता

सन्तोष

सम्यग्-दर्शन

संयम

साधक-जीवन

साधना पथ

सामाजिक चेतना

श्रद्धा

स्वाध्याय

श्रमण

श्रमणोपासक

ज्ञान

—०—

परिशिष्ट (२)

सूक्ति त्रिवेणी

बौद्ध धारा की विषयानुक्रमणिका

—: बौद्ध धारा के अन्तर्गत विषयों का अकरादि क्रम :—

---

१. सर्वत्र प्रथम अंक पृष्ठ का सूचक है एवं दूसरा [illegible]

चित्त

दान

धर्म

नीति और उपदेश

प्रश्नोत्तर

पंडित और मूर्ख

सत्य-असत्य

१४/१२ १६/२३. ४०/१३ ८४/२१ ८८/४७. ६०/५६. ६४/७२ ११०/२१. १३६/१० १४०/३६

सम्बुद्ध साधक

४/८-१३-१४-१५. ६/२२. १०/३६ १४/६ १८/३२ २०/३-४. २४/१६ ३०/४३-४६-४७ ३४/७३ ३६/७४. ३८/४-५ ४२/१६ ५२/२४ ५८/५५ ६६/१८-१६-२१. ७०/३६ ७८/१६-२३. ८२/५ ८८/४२ ६२/६७ ६४/७४ ६८/१-७ १००/६ १०४/३५ ११०/१६ ११८/८. १२२/२५. १२४/३६ १२६/४१-४२ १३२/६४-६५-६८ १३८/२८ १४०-३१ १४४/६२

सुख-दुख

६२/२-३-४-६ ६८/८-६-१०. ७४/४. ६२/६२. १३०/६६ १३२/७१.

श्रद्धा और प्रज्ञा

२८/३५ ३६/७६ ७६/६ ८२/७ ८४/२३-२५ ८६/३५ १०४/३६ ११०/२५ १२२/२६ १२४/३४ १४२/५१

श्रमण

५०/७ ५८/५३-५६ ६०/६४. ६४/११-१२-१३ ८८/४३. १४०/२६-३२.

शान्ति-समता

१८/३१. ३४/७१. ३६/७६ ५६/४३

शील-सदाचार

२/१. ८/३३-३४ १०/३७-३८ १२/१-३-४ १४/१० १८/३३ ४२/२१-२२. ४४/२७-३२ ५०/१२ ६८/४. १०२/२६-३० १०८/१६. ११०/२७ ११६/१ ११८/७-६-१०-११-१२-१३ १२०/१४-१५-१७-१८-१६ १२२/२०-२२-२३-२४

शूद्र कौन ?

८२/१३-१४ ८४/१५-१६.

क्षमा

२६/२४. ३२/५७-६२-६३. ४४/२६-३० ४८/३ ५६/३६-४७. ५८/४८. ६६/१७ ८०/१ ११०/२३ १२६/४४-४५-४६-४७-४८ १२८/४६-५० ५१-५६ १४०/४०.

परिशिष्ट (३)

सूक्ति त्रिवेणी

वैदिक धारा की विषयानुक्रमणिका

—: वैदिक धारा के अन्तर्गत विषयों का अकारादि क्रम :—

वैदिक धारा की विषयानुक्रमणिका

अक्षेप

अतिथि सत्कार

अन्नदान

अन्न का महत्व

अनासक्ति

अमृत

अभय

असत्पुरुष

अनन्य

अहिंसा

प्रथम अंक पृष्ठ संख्या का एवं द्वितीय अंक सूक्ति संख्या का सूचक है।

अज्ञान

आत्म-स्वरूप

आत्मज्ञान (आत्मविद्या)

आत्मा, परमात्मा

कर्म (श्रम)

कृपणता

क्रोध

गौ

गुरुजन (गुरु-शिष्य-माता-पिता)

गृहस्थधर्म

गृहिणी

क्षमा

तत्वदर्शन

तप

तितिक्षा

तैजस् (अग्नितत्त्व)

दान

दिव्य शक्तियां

(देवता-सोम वरुण सूर्य आदि)

(मनु)

दुर्वृत्त

(द्यूत)

४२/१९७-१९८-१९९ ३३४/२२१.

(निन्दा)

१७०/२ २८२/१८ २९४/१-५

(अहंकार)

१४८/२१ १६०/९० १६४/११० ३१८/१३५.

दृढ़ सकल्प

८/३४ ७८/३५ ९२/९८ ११४/२४ १२०/६४. १३६/१३८. १५८/८५ ३४२/२६०.

धर्म

१६०/८८ १८०/५३-५४ १८२/५७. १८४/६६ २१८/१२८. २३०/२४. २३६/५५ २३८/६८ २५८/९०-९२ २७८/४. २८६/४९-५०. २८८/५१-६२ २९०/६३-७० ३०२/४२ ३०४/५६ ३०८/८०. ३१२/१०६-१०७ ३१४/१०८ ३२२/१५७ ३३२/२०२

धर्माचरण

११८/४७ १२४/८५-८७ १५०/४३ १५८/८४ २०६/५९ २१६/११५-११७ २१८/१२० २३२/२८ २५०/४६ ३३२/२०२

धैर्य, शौर्य

४/९ ६/२२-२३ १८/७७ ३८/१८३ ४४/२०४ ५२/२३९ ७४/२१. ७६/३४ १०४/१०-११ १३६/१४४

नीति

१३०/१०९. १५४/५८-५९ १५६/७५ १५८/८० १७४/२३. २२८/१३-१५ २३०/२५ २३२/२६-३४. २३४/३५-३६-३९-४०-४१-४४ २३६/४८-५६-५७-५८ २३८/५९-६९-७० २४२/५-६-७ २४६/२४-२६-२७-२९-३० २४६/३३ २४८/३४-३५-४३. २५०/४५. २५२/५३. २५४/६९-७० २५८/८३-

नेता

पञ्चामृत

प्रस्तोता

मोक्ष

यज्ञ (लोकहितकारी कर्म)

योग

राजनीति

लोभ-तृष्णा

वाणी

वाग् देवता

मोक्ष

१४०/१६२. १६४/१३ २७४/५५ २६८/२६. ३००/३५. ३०२/४७ ३०८/७४. ३०८/७६ ३१४/११८ ३४०/२४७

यज्ञ (लोकहितकारी कर्म)

१६/६० ३२/१४७. ३६/१७५ ७२/१०-११ ७४/१७ ७४/२५ ७६/२६ ८२/६२ ८४/६५-६६ १३४/१३३-१३४ १४०/१५६ १४०/१६१ १६०/६२ २६८/३२

योग

१६/६३ २०२/४२ २२४/४८. २६४/६-१०-११-१२-१३-१४ २६६/१५-१६-१७-१८-१६-२० २७२/४५-४६ ३१०/६४-६५-६६-६७ ३१२/६८ ३१२/१०१ ३१४/११७ ३२६/१७१. ३४०/२४८

राजनीति

२८८/५३-५८-५६.

लोभ-तृष्णा

५८/२६० ७४/२३. ११४/२८ १५४/६४ १५८/८७. २१२/१०४-१०५ २४६/२२ २५०/४८ २५०/५१ २७४/५६ २७८/५. २६८/२६-३० ३००/३६ ३२२/१५४ ३२६/१७५ ३३६/२३३

वाणी

३२/१४६ ४६/२१६ ८०/५१-५२ ८२/६३ ८४/६४. ८६/७२ ६२/६३ ८२/६३. ८४/६४-७२ ६२/६३ १०४/१३-१४. ११४/२६. १३८/१४६-१४८. १५४/५६ १५८/८१. १६०/६८ १६२/१०१. १६२/१०८-१०६. १६४/११३-११७ १७२/१४-१६ १८६/७८. १८८/८६-८७-८८. २१०/८७ २१८/१२५ २३६/५२. २४४/१८ २८०/१४. ३२०/१४१-१४२ ३३४/२२०

देवता

६०/२६७-२६८-२६६-२७०-२७१-२७२ ६२/२८०. १५२/५८.

१७०/५ १८६/७४ २३६/५४ २४४/१९-२० २४६/३१ ३५६/७२-७३
३२४/१६०-१६३-१६४.

सत्य

१४/५९ १६/६८. २०/९२ २८/१३४. ३०/१३६-१३९. ३२/१५३
४२/२०० ४८/२२१ ४८/२२४-२२५ ५४/२५० ७०/१ ७६/३०.
८०/५३ ८८/७९ १०२/१ १०६/१६ १०८/२ १४४/२ १४६/८
१४८/२२ १५०/३३-३८ १५२/४५ १५६/६६. १५६/६९
१६०/९६ १६२/१०६ १७०/७ १७४/२८. १७६/३३ १८०/५०
१८०/५५ १८६/८०-८१. १९४/१० २०२/४५ २०४/५३ २०६/६०
२१८/१९ २२०/१३४ २२२/१४३ २२८/६. २३०/२२ २३८/६२.
२४२/१३. २५२/६२. २५४/७१ २५६/७६ २८४/३२. २९०/६५.
२९४/२-४ ३१४/११० ३३२/२०१. ३३६/२२८

सदाचार

६/१७. २०/८५ ३४/१६० ४४/२०५. ५४/२४९ ६६/३०२. ७०/२
७२/७-१४ ७८/४२. ११८/४४ १३६/१३७. १४८/२७ २३६/४९.
२३८/६५ २४८/४० २५६/८० २७८/३. २८६/४५ २९०/७१.
३०६/६१.

सद्गुण

२/४ २४४/२१. २५४/६७-६८ २८२/२१-२२ ३२६/१७६-१७७
३२८/१८४

सन्तोष

१९६/२२. २०२/४३ २५८/८५. ३१४/११२ ३२२/१५६-१५८
३२६/१७८-१७९

सत्संग

१०२/३-४. १०६/१८. ३०४/५ ३१८/१३० ३२२/१५५ ३४०/२६२-
२६३.

सदुपदेश

सभाधर्म

सयम

सरलता

सामाजिक चेतना

सुभाषित

शरीर धर्म

शिव संकल्प

श्रद्धा

ज्ञान

ज्ञानी (साधक)

सूक्ति त्रिवेणी में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

जैनधारान्तर्गत ग्रन्थ सूची

अनुयोग द्वार सूत्र
आचारागचूर्णि
आचाराग सूत्र
आचाराग-निर्युक्ति
आतुरप्रत्याख्यान प्रकार्णक
आराधनासार
आवश्यक निर्युक्ति
आवश्यक निर्युक्ति भाष्य
इसिभासियाई
उत्तराध्ययन चूर्णि
उत्तराध्ययन निर्युक्ति
उत्तराध्ययन सूत्र
उपासक दशा सूत्र
ओघनिर्युक्ति भाष्य
ओघनिर्युक्ति
औपपातिक सूत्र
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
गच्छाचार प्रकीर्णक
तत्त्वसार
दशवैकालिक सूत्र
दशवैकालिक निर्युक्ति
दर्शन पाहुड
दशवैकालिक निर्युक्ति, भाष्य
दशाश्रुतस्कधचूर्णि
दशवैकालिक चूर्णि
दशाश्रुतस्कध सूत्र
नियमसार
निशीथभाष्य
निशीथचूर्णि
नदी सूत्र चूर्णि
नदी सूत्र
प्रश्नव्याकरण सूत्र
प्रवचनसार
पचास्तिकाय
बोध पाहुड
बृहत्कल्प भाष्य
बृहत्कल्प सूत्र
भगवती सूत्र
भाव पाहुड
भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक
भगवती आराधना
मोक्ष पाहुड
महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक
मरण समाधि प्रकीर्णक
मूलाचार
राजप्रश्नीय सूत्र
व्यवहार भाष्य
विशेषावश्यक भाष्य
व्यवहार सूत्र
वसुनन्दि श्रावकाचार
स्थानाग सूत्र

शील पाहुड
समवायाग सूत्र
सन्मतितर्क प्रकरण
सूत्रकृताग सूत्र
सूत्र कृताग निर्युक्ति
समयसार
सूत्र पाहुड
सूत्रकृतागचूर्णि
ज्ञाताधर्मकथा सूत्र

बौद्ध धारान्तर्गत ग्रन्थ सूची

अभिधम्मपिटक
अगुत्तर निकाय
इतिवुत्तक
उदान
खुद्दक पाठ
चुल्लनिद्देस पालि
चरियापिटक
जातक
थेरीगाथा
थेरगाथा
दीघनिकाय
धम्मपद
पटिसम्भिदामग्गो
पेत्तवत्थु
मज्झिमनिकाय
महानिद्देश पालि
विनय पिटक
विसुद्धिमग्गो
विमानवत्थु
सयुत्तनिकाय
सुत्तनिपात

वैदिक धारान्तर्गत ग्रन्थ सूची

अन्नपूर्णोपनिषद्
अध्यात्मोपनिषद्
अथर्ववेद
अध्यात्म रामायण
अपरोक्षानुभूति
आपस्तम्बस्मृति
आत्मबोध
आश्वलायनीय गृह्यसूत्र
ईशावास्योपनिषद्
ऋग्वेद
ऐतरेय ब्राह्मण
ऐतरेय आरण्यक
ऐतरेय उपनिषद
औशनसस्मृति
केन उपनिषद्
कठ उपनिषद्
केन उपनिषद्, शाकरभाष्य
गोपथ ब्राह्मण
गीता, शाकरभाष्य
छान्दोग्य उपनिषद्
छादोग्य उपनिषद्, शाकरभाष्य
तैत्तिरीय आरण्यक

तैत्तिरीय ब्राह्मण
तेजोबिन्दूपनिषद्
तैत्तिरीय सहिता
तैत्तिरीय उपनिषद्
ताण्ड्यब्राह्मण
तत्त्वोपदेश
नारद परिव्राजकोपनिषद
न्यायदर्शन
नारद भक्ति सूत्र
पैंगल उपनिषद्
प्रश्न उपनिषद्
पाराशरस्मृति
पाशुपत उपनिषद्
ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहदारण्यक उपनिषद्-
(शाकर भाष्य)
बोधायन गृह्य सूत्र
भगवद् गीता
मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
महोपनिषद्
मनुस्मृति
मुण्डक उपनिषद्
मैत्रायणी आरण्यक
यजुर्वेद
महाभारत
योग दर्शन
याज्ञवल्क्योपनिषद्
याज्ञवल्क्यस्मृति
योगवाशिष्ठ
वाल्मीकि रामायण
विवेकचूडामणि
व्यासस्मृति
वशिष्ठस्मृति
विष्णु पुराण
यजुर्वेदीय उव्वटभाष्य
वेदान्त दर्शन
वैशेषिक दर्शन
विश्वामित्रस्मृति
व्यासस्मृति
श्रीमद् भागवत
निरुक्त
श्वेताश्वतर उपनिषद्
शतपथब्राह्मण
शाण्डिल्योपनिषद्
शाङ्ख्यायन आरण्यक
शाण्डिल्यस्मृति
सामवेद
सांख्य दर्शन

—